STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 2621
Book No. 891'2
प क

८९१.२

Museum Library
Lucknow

मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थमाला--५

दामोदर गुप्त प्रणीत

कुट्टनीमतं काव्यम्

अनुवादक

जगन्नाथ पाठक

संपादक

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद।

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम संख्या २६२१
प्राप्ति तिथि २४.५.६५
State Museum, Library, Lko.

मूल्य
सात रुपये ५० नये पैसे

891.2
प कें

मुद्रक
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद।

प्रकाशकीय

कश्मीर के शासक जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर गुप्त कृत 'कुट्टनीमतं काव्यम्' संस्कृत की श्रृंगारपरक प्रबन्ध-काव्य परम्परा का अमूल्य रत्न है। वैसे तो वात्स्यायन के 'कामसूत्र' तथा अन्य ग्रंथों के आधार पर विरचित अनेक श्रृंगार-ग्रंथ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हैं परन्तु कुट्टनीमतं की अपनी एक निजी विशेषता है जिसके कारण इस ग्रंथ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई। हज़ार वर्ष से अधिक के अन्तराल के बावजूद इस ग्रंथ की महत्ता में क़ोई कमी न आई और आज राष्ट्रीय पुर्नजागरण के इस युग में जब हम उत्तराधिकार में प्राप्त अपनी प्राचीन निधियों के पुनर्मूल्यांकन में संलग्न है, इस ग्रंथ का फिर से अध्ययन और मनन करने की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

हमारे देश में प्राय: आदिकाल से ही एक ऐसा वर्ग रहा है जो कभी प्रतिष्ठित और कभी उपेक्षित एवं बहिष्कृत होते हुए भी हमारे सामाजिक जीवन का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग रहा है। संस्कृत साहित्य में तो इसके अगणित प्रमाण हैं ही, बौद्ध और जैन साहित्य में भी इसके प्रमाणों और उदाहरणों की कमी नहीं है। इस वर्ग विशेष की स्थिति, उपयोगिता, अनिवार्यता आदि के सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने बार बार विचार किया है और अपने मत को भी व्यक्त किया है। वैशिक जीवन श्लाघ्य हो अथवा अश्लाध्य, वरेण्य हो अथवा त्याज्य, परन्तु प्रत्येक युग में अनिवार्य रूप से उसकी स्थिति रही है और उसने हमारे सामान्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया है, इसमें कोई संदेह नहीं।

यह बात भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है कि प्राय: अनिवार्य रूप से हमारे देश के प्रत्येक युग के सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक केन्द्र वैशिक जीवन के भी महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं। बौद्धों की वाराणसी अथवा हिन्दुओं की काशी, भगवान शंकर की कृपा से आदि काल से ही महामहिमामयी तीर्थस्थली के रूप में प्रतिष्ठित रही है परन्तु वही काशी आदि काल से ही वैशिक जीवन का केन्द्र भी बनी रही है। आज भी काशी की यह दोनों परम्पराएँ ज्यों की त्यों क़ायम हैं।

कवि दामोदर गुप्त ने काशी के इस वैशिक जीवन का विशद तथा गंभीर अध्ययन एवं विश्लेषण किया था। प्रस्तुत ग्रंथ का आधार वाराणसी का ही वैशिक जीवन है। आरम्भ में ही कवि ने भगवान शंकर की प्रार्थना करते हुये कहा है—

स जयति संकल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकितं वसतिः ॥

[जिसका निवास-स्थान अनुराग भरी ललनाओं के नेत्रों के अपाङ्ग का निरीक्षण है, अपनी भार्या रति के मुखरूपी कमल को चूमने वाला भौंरा, संकल्प-रूप मन से उत्पन्न वह (जगत्प्रसिद्ध) कामदेव विजयी हो]।

कामदेव की वन्दना के बाद वाराणसी की श्लेषयुक्त वन्दना कवि ने अत्यन्त कौशल के साथ किया। इसके बाद कथा का आरंभ करते हुये कवि ने बताया कि—

समुवास वारण्मा मानसवसतेः शरीरिणी शक्तिः।
निःशेषवेशयोषिद्विभूषणं मालती नाम ॥

(उस वाराणसी में मनसिज की शरीरधारिणी शक्ति-रूप में समस्त वेश्याओं में भूषण सी मालती नाम की एक वारांगना निवास करती थी)।

मालती सर्वगुणसम्पन्ना थी परन्तु उसको इस बात का क्षोभ था कि वह समुचित रूप से पर्याप्त संख्या में कामुक तरुणों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। मालती ने सोचा कि क्यों न वह इस विषय का सम्पूर्ण ज्ञान रखने वाली वृद्धा कुटनी विकराला से जाकर अपनी शंकाओं का समाधान करे और प्रेमियों को आकृष्ट करने का उपाय पूछे। मालती विकराला के घर गई और उसके सामने अपनी समस्या रखी। उत्तर में विकराला ने वैशिक जीवन को सफल बनाने के उपायों से मालती को अवगत कराया। कवि दामोदर गुप्त ने विकराला के मुंह से उदाहरणों और प्रमाणों से पुष्ट जो उपदेश दिलवाये वही इस ग्रंथ का वर्ण्य विषय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विकराला ने मालती को, वैशिक जीवन को सफल बनाने के लिए जो उपाय बताये वे मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त पुष्ट और स्पष्ट थे। कवि दामोदर गुप्त ने तद्विषयक ग्रंथों एवं ऋषि-वाक्यों का गंभीर अनुशीलन किया था। इसीलिए विकराला इतनी कुशलतापूर्वक स्त्री पुरुष के यौन-सम्बन्धों और वैशिक जीवन से सम्बद्ध बारीक से बारीक प्रश्नों का उत्तर दे सकी। इस प्रबन्ध काव्य में काव्य का विषय यद्यपि वैशिक जीवन ही है तथापि प्रसंगवश संगीत, नृत्य एवं नाट्य-कला पर भी सम्यक् प्रकाश पड़ा है। काव्य की दृष्टि से तो दामोदर गुप्त की यह रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है ही, तत्कालीन सामाजिक जीवन पर भी इससे प्रखर प्रकाश पड़ता है और हमारी जानकारी इस सम्बन्ध में बढ़ती है। विकराला जब अपना उपदेश समाप्त कर लेती है तो कवि का सर्वमंगलाकांक्षी हृदय यकायक चौंक उठता है। उसे लगता है कि अब तक के रसरंगपूर्ण वर्णन से कहीं पाठकगण पथभ्रष्ट न हो जायें और वे वैशिक जीवन के मोहक पाश में आवद्ध होने के लिए लालायित न हो उठें। दामोदर गुप्त को यहीं अपने कवि कर्म की याद आती है और अन्तिम श्लोक में वह कह उठते हैं—

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ।
नो वञ्च्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति॥

[इस काव्य को जो व्यक्ति काव्यार्थ का सम्यक प्रकार से पालन करते हुये (रक्षण करते हुये) श्रवण करता है वह कभी भी विट, वेश्या, धूर्त एवं कुट्टनी से धोखा नहीं खाता]।

यह कुट्टनीमतं काव्यम् काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। साथ ही तत्कालीन सामाजिक जीवन के अध्ययन की कुंजी भी है। इसमें कथाओं, उपकथाओं एवं अन्तंकथाओं का सहारा लेकर कवि ने शास्त्रीय दृष्टि से इस समस्या पर विचार किया है और विकराला के मुख से विज्ञान सम्मत उपदेश दिलवाये हैं। ग्रंथ की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है, इसकी लोकप्रियता निर्विवाद है।

मूल के साथ भाषानुवाद एवं आवश्यक टीका टिप्पणियों के कारण हिन्दी पाठकों के लिए भी यह ग्रंथ बोधगम्य हो गया है। आशा है विज्ञ समाज में प्रस्तुत ग्रंथ समादृत होगा।

—श्रीकृष्ण दास

भूमिका

उपक्रम

'कुट्टनी' शब्द का विशिष्ट प्रयोग कितना पुराना है यह बतलाना बड़ा कठिन है; किन्तु साधन रूप में इस वृत्ति का उपयोग मानव इतिहास से जुड़ा हुआ है। यह इतना पुराना अवश्य है जितना पुराना यौन-सम्बंधी नैतिक मूल्य है, जब कि उन्मुक्त कामाचार पर किसी प्रकार का बन्धन अथवा नियंत्रण स्वीकार कर लिया गया। नैतिक मूल्य सामाजिक चेतना के परिणाम हैं। प्रत्येक जाति और युग का समाज किसी न किसी प्रकार के नैतिक मूल्य को स्वीकार कर लेने के बाद अपने को सुदृढ़ एवं सुरक्षित समझने लगता है। परन्तु आत्मघातक तत्त्व उसके भीतर से अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। फलस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्तिगत दुर्बलताएँ तथा परिस्थिति जन्य प्रेरणाएँ स्वनिर्मित प्राचीरों को ध्वस्त करने के लिए सन्नद्ध हो जाती हैं। कुट्टनी कर्म इसका एक ज्वलंत उदाहरण है जिसका सम्बंध कामाचार अथवा वेश्यावृत्ति से है।

शब्दार्थ

कुट्टनी अथवा कुट्टिनी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ क्रमशः

'कुट्टयति नाशयति स्त्रीणां कुलम् इति कुट्टनी'

अथवा, 'कुट्ट स्त्रीणां कुलनाशः कर्त्तव्यतया अस्ति अस्याः'

हैं। फिर 'कूट' शब्द का एक अर्थ है कैतव। कुट्टनी-कर्म भी इसी कोटि का है। इसके द्वारा नायक-नायिका का संयोग सुगम हो जाता है। इसके पर्यायवाची शब्द हैं शंभली, माधवी, अर्जुनी, कुंभदासी, गणेरुका और रंगमाता।

सन्दर्भ

'कथा सरित्सागर' के द्वितीय लम्बक में गुहसेन और देवस्मिता की कथा आती है जिसमें परिव्राजिका योग-करंडिका की शिष्या सिद्धिकरी का प्रसंग आया है। इस शिष्या के कृत्य कुट्टनी जैसे हैं, किन्तु यहाँ पर कुट्टनी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। क्षेमेन्द्र के 'कलाविलास[1]' और 'समय मातृका[2]' में यह शब्द आया है। जल्हण के 'मुग्धोपदेश[3]' में भी इसका प्रयोग मिलता है। विष्णु शर्मा कृत 'हितोपदेश[4]' के मित्रलाभ प्रकरण के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। लोकोक्ति में भी कुट्टनी का प्रयोग हुआ है।[5]

वेश्यावृत्ति

कामाचार और वेश्यावृत्ति में लक्ष्यभेद है। कामाचार में रति सुख प्रधान है, जब कि वेश्यावृत्ति में अर्थोपार्जन प्रमुख है। 'कामसूत्र' में कहा गया है कि पुरुषों की प्राप्ति होने पर वेश्याओं में रति और जीविका नैसर्गिक से ही है।[6]

वेश्या का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'वेशमर्हति वेशेन दीव्यति आचरति, वेशेन पण्ययोगेन जीवति वा' है। इस शब्द के पर्याय हैं, रण्डी, वार-स्त्री, गणिका, क्षुद्रा, शूला, लज्जिका, बन्धुरा, कुम्भा, वर्व्वटी, भोग्या, भुजिष्या, वार-वधू, नगरवधू, पतुरिया,

---

१. भिक्षुक-तापस बहुविधपुण्यकला द्वीपदर्शनकला च ।
   खिन्ना कलात्तिषष्ट्या पर्यन्ते कुट्टनीकला वेश्या ।। ४।११

२. व्याघ्रीव कुट्टनी यत्र रक्तपानामिषैषिणी ।
   नास्ते तत्र प्रगलभन्ते जम्बुका इव कामुका ।। १।४१
   प्रविष्टा कुट्टनीहीणगृहं क्षीणपटा विटाः ।
   गाथा पठन्ति गायन्ति व्ययद्रविणमर्थिताः ।। १।४४
   द्वाराग्रदत्तकर्णासु ग्रहणग्रहणेप्सया ।
   कुट्टनीषु तृणापातेऽप्युन्मुखीषु मुहुर्मुहुः ।। ३।११

३. कुटन्याः पुनरुत्कटोत्कटमिदं तत्रास्त्यगस्त्यव्रतं,
   यत्प्राणाहुतिरेकेकैव सकलै रत्नाकरैः कामिभिः ।।३३

४. गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
   प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोन्घमपि द्विजम् ।। ५७

५. कुट्टिन्यश्चतुरकथा भवन्त्वरोगाः (चतुर्भाणी, पृ० २५८)

६. वेश्यानां पुरुषाधिगमे रतिर्वृत्तिश्च सर्गात् ।। ६।१

पण्यांगना, रूपाजीवा, शालभञ्जिका, स्मरवीथिका, खानगी, झर्झरा, कामरेखा, वार विलासिनी और भण्डहासिनी आदि। साधारणतः पर-पुरुष-गामिनी नारी को वेश्या कहने की परंपरा है। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में नारी के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है --

पतिव्रताचैकपत्नी द्वितीये कुलटा स्मृता।
तृतीये धर्षिणी ज्ञेया चतुर्थे पुंश्चलीस्मृता॥
वेश्या च पंचमे षष्ठे युग्मी च सप्तमेऽष्टमे।
अत उद्ध्र्वमहावेश्यासाऽस्पृश्यासर्वजातिषु॥ प्र० खं० ३१ अ०

उत्पत्ति

वेश्यावृत्ति के सन्दर्भ में 'महाभारत' के आदिपर्व की दीर्घतमा वाली परंपरागत कथा का स्मरण हो आता है। इस कथा में वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। दीर्घतमा एक अंधे ऋषि थे। गर्भावस्था में ही उन्हें काम शिक्षा मिली थी। उनकी माता का अपने देवर से अनुचित सम्बंध था जिसका प्रभाव दीर्घतमा के संस्कार पर पड़ा। जब वे बड़े हुए तो उनका विवाह रूपवती प्रद्वेषी से हुआ। वेदज्ञ ऋषि ने सौरभेय (कामधेनु पुत्र) से पशुवत् कामाचरण करने की शिक्षा प्राप्त की और उसे व्यावहारिक रूप देने लगे। इस आचरण से क्रुद्ध होकर अन्यान्य ऋषि-मुनियों ने उन पर नैतिक नियम भंग करने का आरोप लगाया। इन्होंने यह भी निश्चय कि दण्डस्वरूप उन्हें आश्रम से बाहर किया जाय। प्रद्वेषी भी अपने पति के प्रतिकूल हो गई थी। उसने कहा कि "पति का धर्म है पत्नी को आवास और भोजन देना, तुम इसे पूरा करने में असमर्थ हो। मैं तुम जैसे जन्मांध का पालन नहीं कर सकती। तुमको अब मैं अपने पास नहीं रखूँगी।" इस उक्ति से क्षुब्ध होकर दीर्घतमा ने घोषित किया कि "आज से मैं संसार के लिए यह नियम बनाता हूँ कि जो पत्नी आमरण केवल एक पति की होकर रहती है, चाहे पति मर ही क्यों न जाय वह कभी पर-पुरुष का मुँह न देखेगी। किन्तु कुमारी हो अथवा विवाहिता पर-पुरुष के पास जानेवाली अपराधिनी होकर जातिच्युत होगी। ऐसी स्त्री यदि पर-पुरुष के निकट जाय तो उस पुरुष को चाहिए कि वह विषय-भोग का मूल्य चुकाये।[1]" धन लेकर प्रसंग कराने की प्रथा का आरंभ उसी दिन से हो गया।

सन्दर्भ

ऋग्वेद में[2] उपमा द्वारा काम-क्रीड़ा का उल्लेख आया है जिससे वेश्यावृत्ति के अस्तित्व का संकेत मिलता है। किन्तु यह कहना कठिन है कि उस कामाचार में अर्थोपार्जन का उद्देश्य किस मात्रा में निहित था। इसके अन्यान्य कारण भी हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में दास-प्रथा का भी नाम लिया जा सकता है। उक्त

---

१. Johann Meyer : Sexual life in Ancient India, P 125-26
२. परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः।१।१६७।४

ग्रंथ में जार पति[१] तथा अवैध सन्तान[२] की भी चर्चा है। स्मृति ग्रंथों में कामाचार और वेश्यावृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं[3] जिनके लिए प्रायश्चित करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। समाज की स्थिति इतनी बिगड़ी हुई थी कि कुछ लोग अपनी पत्नी तक का उपयोग वेश्या रूप में किया करते थे। आतिथ्य सत्कार के लिए विविध कलाओं में निपुण नारियों का उपयोग किया जाता था।[४] यह प्रथा अन्यान्य देशों में भी प्रचलित थी।[५] 'महाभारत' के आदि पर्व में गान्धारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र के लिए वेश्या की व्यवस्था होने का उल्लेख है।[६] उद्योग पर्व में युधिष्ठिर द्वारा कौरवों की वेश्याओं को शुभकामना भेजने की चर्चा है।[७] उसी पर्व में कौरवों के दरबार में श्रीकृष्ण के आगमन के अवसर पर वेश्याओं द्वारा स्वागत किये जाने का वर्णन है।[८] उद्योग पर्व में ही यह भी कहा गया है कि युद्ध-यात्रा के समय पाण्डवों की सेना के साथ वेश्याएँ भी गई थीं।[९] इस सन्दर्भ में वनपर्व और कर्ण पर्व भी द्रष्टव्य हैं। वेश्यागमन के लिए अन्यत्र 'प्राजापत्य' प्रायश्चित का नियम है। नारद स्मृति में कहा गया है कि यदि शुल्क स्वीकार करने के बाद वेश्या भोग-कर्म करने से इनकार कर दे तो उसे दण्ड का भागी बनना पड़े।[१०] याज्ञवल्क्य स्मृति तथा मत्स्य पुराण[११] द्वारा भी इसका समर्थन होता है। मत्स्यपुराण के ७०वें अध्याय में वेश्या धर्म का उल्लेख है। अन्यान्य कई पुराणों में प्रकारान्तर से वेश्याओं की चर्चा पायी जाती है। स्कन्द पुराण, पद्म पुराण, वामन पुराण ब्रह्म पुराण और भविष्य पुराण इनमें प्रमुख हैं।

---

१. ऋग्वेद १। ६६। ४; १। ११७।१८; १।१३४। ३

२. वही २। २९। १

३. बोधायन (२) २४--३; मनु ८--३६२; ४--२०९; ४--२१९; ९--२५९; याज्ञ०, १--८१; २--४८; २--२९०-९२; नारद १२--७८; स्त्रीपुंश ७८--७९; गौतम २२-२७

४. महाभारत २।६१।८

५. Molennan : Primitive Marriage, P. 96

६. गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता।
धृतराष्ट्रं महाराजं वेश्या पर्यचरत्किल॥ ११५।३९

७. उद्योग पर्व ३०।३८

८. वही ८६।१५

९. वही १५१।५८

१०. शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विस्तदाप्नुयात्।
अप्रयच्छंस्तदा शुल्कमनुभूयपुमान् स्त्रियम्॥ वेतनस्यानपाकर्म--१८

११. मत्स्य पुराण २२७।१४४--४५

'वाजसनेयी संहिता' में वेश्यावृत्ति को पेशे के रूप में स्वीकार किया गया है. किन्तु स्मृति ग्रंथों में इसे तिरस्कार के योग्य ठहराया गया है। फिर भी जातकों में इसे हम उपेक्षणीय स्थितियों में नहीं पाते। किसी-किसी वेश्यालय में तो पाँच सौ तक गणिकाएँ रहने की चर्चा है[1]। कहीं-कहीं तो इनके प्रति न्यूनाधिक सम्मान भी प्रदर्शित किया गया मिलता है। 'अंगुत्तर निकाय' में 'सत्त वाणिज्जा' का उल्लेख है। बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार इसका अभिप्राय 'मनुस्स विक्कय'[3] से है जिसमें दास-दासियों के साथ अन्य नर-नारियाँ सम्मिलित समझी जा सकती हैं। वज्जियों में रूपवती कन्याओं को गणिका बनाने की प्रथा प्रचलित थी। वास्तव में इसकी परंपरा बहुत पुरानी है। अधिकारी विद्वानों के अनुसार इस वृत्ति का सूत्रपात राजाओं, राजपुरुषों तथा श्रेष्ठियों जैसे लोगों से समझा जाना चाहिए जिनके महलों से तिरस्कृत होकर ये उक्त वृत्ति को अपनाने के लिए वाध्य थीं[४]।

गणिका का एक तात्पर्य गणराज्यों की उन सुन्दरियों से भी हो सकता है जिनका अवैध सम्बंध अधिकतर राज-पुरुषों तथा धन कुबेरों से हुआ करता था। इस सन्दर्भ में वासुदेव हिंडी का 'संघदासगणि वाचक'[५] तथा वात्स्यायन का 'कामसूत्र'[६] द्रष्टव्य है। 'मूल सर्वास्तिवाद' का 'विनय वस्तु' भी उल्लेखनीय है जहाँ आम्रपाली को वैशाली की 'गणभोग्या'[७] कहा गया है। 'नायाधम्म कहा' में चम्पा की गणिका की चर्चा है जो चौसठ कलाओं में निष्णात है और श्रृंगार कला में दक्ष है। वह बहुभाषाविद् है और उसे कई बोलियों का अभ्यास है।[८] गणिका को कर्णिरथ में बैठकर छत्रधारिणी और चामरधारिणी बनने का भी गौरव प्राप्त था जो राजकीय सम्मान का प्रतीक था। वह वैशिक विद्या में भी निपुण हुआ करती थी[९]। इसका प्रसंग 'मूल सर्वास्तिवाद' के 'विनय वस्तु' तथा 'कुट्टनीमतं' में भी आया है।

'कथा सरित्सागर' में ऐसी वेश्याओं का भी परिचय मिलता है जो अपनी पसन्द का नायक चाहती हैं। 'बहुभोग्या' बनना उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। आत्म-विश्वास ने उनमें आत्मगौरव का भाव उत्पन्न कर दिया है। पाटलिपुत्र की कोसा

---

१. Law : Woman in Buddhist Literature P. 82 f
२. अंगुत्तर निकाय ३, पृ० २०८
३. Law : The Life and work of Buddhaghosa
४. Barua : Introduction to History of Indian Prostitution by Sinha and Basu.
५. पृ० १०३ (६) पृ० ४।२०९ (७) पृ० १७ टि०
८. धम्मपद ४, पृ० १९७
९. ललितविस्तर, पृ० १५६ और भरत का नाट्यशास्त्र, अध्याय २३

और उपकोसा ऐसी ही दो गणिकाएँ थीं जिनमें से पहली का प्रेमभाव स्थूलभद्र के प्रति था और दूसरी का वररुचि के साथ। उज्जयिनी की देवदत्ता भी ऐसी ही एक गणिका थी जिसका अनुराग पाटलिपुत्र के युवराज मूलदेव के प्रति था। उसने राजा के पास जाकर यह प्रार्थना की थी कि वे मूलदेव के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्बंध स्थापित करने को उसे बाध्य न करें। 'मृच्छकटिक' की वसंत-सेना और 'कथा सरित्सागर' की प्रतिष्ठान निवासिनी मदनमाला भी अपने वैभवपूर्ण जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रसंग में बिन्दुमती की कथा भी उल्लेखनीय है जिसने अपनी सत्यप्रियता से गंगा की धारा ही पलट दी थी।

प्रेरणा और प्रभाव

कामाचार के साथ अर्थोपार्जन का लगाव हमारे समाज की उस स्थिति की ओर संकेत करता है जब कि व्यापार अस्तित्व में आ चुका था। आदान-प्रदान का माध्यम द्रव्य बन चुका था। इसलिये असंभव नहीं यदि पूर्वजों ने विदेशी व्यापार-केन्द्रों में जाकर वेश्यागमन सीखा हो। गाथा सप्तशती[1] से भी हमें वेश्या वर्ग का पता चलता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र[2] में गणिकाध्यक्ष का विधान है। काम सूत्रों[3] में तो इनकी चर्चा है ही नीति शास्त्र[4] भी इनके विषय में मुखर हैं। कालान्तर में इनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि काव्य और कला में भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। 'गणिका वृत्त संग्रह' द्रष्टव्य है। बौद्ध और जैन साहित्य भी इससे अछूते न बचे। अब ये समाज में निन्द्य नहीं समझी जाती थीं। 'मंगलामुखी' इनकी एक संज्ञा बन गई। यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होने लगा। देवदासी प्रथा इन्हीं की उपज है।

दासी

स्वयं 'दासी' शब्द का प्रयोग भी विचारणीय है। इसका सामान्य प्रयोग

---

१. णन्दन्तु सुरअसुहरसतह्लावहराइँ सअललोअस्स।
बहुकै अवमग्गविणिम्मिआइँ वेसाणँ पेम्माइं ॥२।५६॥
के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा।
णहराइं वेसिणिओ गणणारेहा उव वहन्ति ।।५।७४॥

२. अध्याय २७

३. अन्यतोऽपि बहुशो व्यवसितचारित्रा तस्यां वेश्यायामिव
गमनमुत्तवर्णिन्यामपि न धर्मपीडां करिष्यति पुनर्भूरियम् ॥
—वात्स्यायन कामसूत्रम् १।५।६

४. राजा वेश्या यमश्चाग्निस्तस्करोबाल याचकौ।
पर दुःखं न जानंति अष्टमोग्राम कंटकः॥
—चाणक्य नीति १८।१९

दासी-कन्या के अर्थ में होता है। 'मेदिनी कोश' में "दासी बालाभुजिष्ययोः" कहा गया है। कश्मीर नरेश जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर की रचना 'कुट्टनीमतं' में "दासी कामुकी सर्ववल्लभा" सूचित किया गया है। इस ग्रंथ में दासी विषयक एकाध अन्य प्रयोग भी मिलते हैं जो इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। वैजयन्ती के अनुसार "चेटी चिरण्टी दासी च" बतलाया गया है। वैयाकरण पाणिनी का "दास्या कामुकः" द्वारा कदाचित् इसी ओर संकेत है। सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' में "कामुक जनानुबध्यमान दासी" का भी अभिप्राय कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। राजशेखर प्रणीत 'कर्पूर मंजरी' में विदूषक तोते को "आ दासीए पुत्त भुत्थल्लजोगोसि" कह कर अपना रोष प्रकट करता है। 'मृच्छकटिक' का शकार भी 'वसंत सेना' के सन्दर्भ में "दाशीए धीए शल-पलिवत्ते कड़े" द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त करता है। उसी में वसंत सेना पर क्रुद्ध होकर विदूषक **"ता मादाव दासीए धीआए गणिकाए मुहंपि पेक्खिस्सं"** कह कर अपनी मनोदशा का परिचय देता है। इन जैसे उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि 'दासी' शब्द का प्रयोग 'वेश्या' के अर्थ में अधिकतर किया जाता रहा है।

देवदासी

परन्तु देवदासी का कर्मक्षेत्र वेश्यावृत्ति तक ही सीमित नहीं रहा है। उसे एक अन्य दायित्व का भी निर्वाह करना पड़ता था। उसे देवालयों में सेवा-कार्य भी करना पड़ता था। नारद स्मृति के अनुसार यद्यपि दासियों का कोई पृथक् वर्ग नहीं है, तथापि देवदासियों का है। यदि हम भारतीय वास्तु-विद्या की विधियों पर विचार करें तो पता चलेगा कि 'नाट्यशालाएँ' मन्दिरों का एक विशिष्ट भाग हुआ करती थीं जो आधुनिक 'क्लबों' के समान थीं। कालान्तर में यह अनुभव किया जाने लगा कि देवी-देवताओं के मनोरंजनार्थ पूजा-अर्चन एवं राग-भोग के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी व्यवस्था होनी चाहिए। देवदासी प्रथा को किसी ऐसी ही प्रेरणा का परिणाम समझना चाहिए। 'शिव-पुराण' के अनुसार शिव-मन्दिरों में बहुसंख्यक वेणु-वीणा वादन में प्रवीण पुरुषों के साथ **"उत्तम स्त्री-सहस्रैश्च नृत्यगेयविशारदैः"** की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। 'स्कन्द पुराण' के प्रभास खण्ड में भी शिव-मन्दिर में गायन, वादन के बीच **"काञ्चीनूपुर शब्देन समाकीर्णे दिगन्तरम्"** का वर्णन आया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी देव-दासी का उल्लेख है। इस प्रकार हिन्दू मन्दिरों में इस प्रथा का प्रचलन संभव हुआ। इस प्रथा के प्रचलन में बाह्य प्रभाव भी संभव हो सकता है, क्योंकि यह प्रथा इसी देश की एकान्त विशेषता नहीं है।

पौराणिक सन्दर्भ

देवताओं और वारांगनाओं के सम्बंध का उल्लेख 'महाभारत' के वन पर्व में मिलता है। एक स्थल पर उर्वशी द्वारा अर्जुन से कहलाया गया है कि "हम

तो देवताओं की वारांगनाएँ हैं, तपस्या से ही हमारा रमण संभव है"। अश्वघोष कृत 'सौन्दरानन्द काव्य' के अनुसार देवताओं के यहाँ वेश्याएँ भी रहा करती थीं जो "**सदा युवत्यो मदनैक कार्याः**" जैसे गुणों से सम्पन्न थीं। वैसे बौद्ध काल में मन्दिरों का अधिक प्रचलन नहीं रहा है जिस कारण बौद्ध साहित्य में यह सन्दर्भ अति न्यून मात्रा में उपलब्ध है, जो कुछ है भी वह अपवाद स्वरूप।

प्रश्न उठ सकता है कि देवताओं के सम्पर्क में रहने वाली देवदासियों का वर्गहीन होना क्यों समझा जाने लगा था। इसका कोई स्पष्ट उत्तर हमारे पास नहीं है, फिर भी यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि वर्ग रूप में देवदासियाँ, वास्तव में दास-कन्याएँ थीं। इसलिये उन्हें वह सम्मान सुलभ न हो सका जो आभिजात्य वर्ग की कन्याओं के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुरातन काल में दासी को भोग्य सामग्री समझने की परंपरा थी। 'महाभारत' में रुष्ट होकर विदुर ने एक स्थल पर भर्त्सना की है कि "**दासीभावेन कृष्णाञ्च भोक्तुकामाः सुतास्तव**"। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' के दानखण्ड में एक ऐसे मंत्र को उद्धृत किया है जिसका उच्चारण दासी-कन्या के ब्राह्मण को भेंट किये और जाते समय करना चाहिए--

इयं दासी मया तुभ्यं श्रीमती प्रतिपादिता।
सदा कर्मकरी भोग्या यथेष्टं भद्रमश्नुते।।

देवदासी का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख हमें पुराणों में प्राप्त है। 'पद्म पुराण' के सृष्टि खण्ड में कन्यादान माहात्म्य का वर्णन एक ऐसे ही सन्दर्भ में किया गया है--

मुनीनां प्रेयसीं नारीं युवतीं रूपशालिनीम्।
सालंकारां सशय्याञ्च दत्वानन्तफलं लभेत्।।
अनयोश्च फलं तुल्यं युवती कन्ययोरपि।
एकावराय दातव्या अपरा ब्राह्मणाय तु।।
क्रीता देवाय दातव्या धीरेण क्लिष्ट कर्मणा।।
कल्पकालं भवेत् स्वर्गं नृपो वासौ महाधनी।
प्रति जन्म लभेतैष सुपत्नी वरवर्णिनीम्।।५२।९७--१००

'स्कन्द पुराण' के अरुणाञ्चल माहात्म्य के महेश्वर खण्ड में बतलाया गया है कि--

प्रतर्दनाख्यो नृपतिर्ग्रहीतुं देवकन्यकाम्।
अरुणाद्रिपतेर्गानं कुर्वन्तीं सादरोऽभवत्।।
क्षणात् कपिमुखो जातो मन्त्रिभिश्चोदितो नृपः।
प्रत्यर्प्य तां पुनश्चान्याः प्रादादरुणभूभृते।।
ततश्चारुमुखो जातः प्रासादादरुणेशितुः।।६।५४--५६

उसी खण्ड में मारकण्डेय ऋषि से कहलाया गया है कि--

मया च शम्भुमभ्यर्च्य कृताग्न्याहुतिसम्भवाः।
सप्त कन्या वरारोहाः पूजार्थं विनियोजिताः॥६।१३६

इसी प्रकार राजा वज्रांगदेव के विषय में कहा गया है कि--

सौन्दर्यशालिनीरात्म परिवार वरांगनाः।
सेवार्थं शोणनाथस्य दत्तवान् दीर्घदर्शनः॥२४।१२

'भविष्य पुराण' में निर्देश है कि--

वेश्याकदम्बकं यस्तु दद्यात्सूर्याय भक्तितः।
स गच्छेत्परमं स्थानं यत्र तिष्ठति भानुमान्॥९३।६७

'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में हेमाद्रि ने 'कालोत्तर तंत्र' का उद्धरण दिया है--

योऽलंकृत्य स्त्रियं शम्भोरुत्तमां विनिवेदयेत्।
सोऽश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत्॥
सुविनीतां स्त्रियं दासीं भृतकार्थं निवेदयेत्।
नरमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत्॥ पृ० ६४१--२

उपर्युक्त उद्धरणों से हमें कुछ निष्कर्ष निकालने का आधार मिल जाता है। 'पद्मपुराण' का रचना काल चौथी शताब्दी है और संभवतः इसकी रचना महाराष्ट्र में हुई थी। इस पुराण से किसी घटना का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु यह देवदासी प्रथा की सराहना अवश्य करता है। इसके विपरीत सातवीं शती की रचना 'स्कन्द पुराण' निश्चित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है और उसके समर्थन में परंपराओं का उल्लेख करता है। हेमाद्रि द्वारा 'कालोत्तर तंत्र' का प्रस्तुत उद्धरण आर्येतरांश का परिचायक है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि 'भविष्य पुराण' वाले उद्धरण को छोड़कर अन्य का सम्बंध शिव से है और शिव अधिकतर दाक्षिणात्यों द्वारा मान्य देवता हैं। इस प्रथा को उन्होंने कदाचित् भूमध्यसागर के समीपस्थ निवासियों से अपनाया था, जहाँ इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। इनसे दाक्षिणात्यों का सम्पर्क समुद्री व्यापार के कारण संभव भी था। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इस पर आष्ट्रिक सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव देखा है। उत्तरी भारत के मन्दिर कदाचित् उतने पुराने नहीं हैं जितने दक्षिण भारत के। अतएव इधर देवदासी प्रथा के प्रसार का भी समय परवर्ती प्रतीत होता है।

ऐसा लगता है कि देवदासी बनने के लिए सभी श्रेणियों एवं प्रकार के लोगों को छूट थी। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सातवीं शती तक उसे पवित्र ही माना जाता था। इस सन्दर्भ में राजा प्रतर्दन वाली घटना उल्लेखनीय है।

बौद्ध और जैन साहित्य

यह प्रथा दाक्षिणात्यों में बौद्धों एवं जैनों के अतिरिक्त प्रचलित रही है। परन्तु 'धम्मपद' की टीका में बुद्ध कस्सप के प्रतिमा-स्थापन के प्रसंग में एक रोचक वर्णन आता है जिसके अनुसार अगुआ (मुखिया) बनने के निमित्त एक ग्रामीण ने अपने पूरे परिवार को देव-पूजा के नाम पर अर्पित कर दिया। इसी प्रकार देवदत्ता नामक एक कुबड़ी दासी कन्या ने अपने को जिन की प्रतिमा की सेवा में लगा दिया जिसका उल्लेख जैकोबी के महाराष्ट्रीय प्राकृत कथाओं में पाया जाता है। इस कथा का सम्बंध उज्जैनी के राजा पज्जोया और उदयन से है। फिर भी सामान्यतः इस प्रकार की किसी प्रथा को ये प्रश्रय देते नहीं जान पड़ते। कदाचित् इसी कारण जैन साहित्य इस प्रश्न पर मौन है।

शिलालेख

ईसा पूर्व तीसरी शताव्दी की जोगीमारा की गुफाओं के शिलालेखों में भी देवदासी प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। यह गुफा देवदासी सुतनुका के आदेश पर निर्मित हुआ था और इसका उपयोग उनके विश्राम-गृह के रूप में होता था, यद्यपि डा० काशी प्रसाद जायसवाल इस निष्कर्ष से सहमत नहीं जान पड़ते।

तंजोर के राजमन्दिर में भी एक ऐसा शिलालेख है जिसके अनुसार दसवीं-ग्यारहवीं शती के सुप्रसिद्ध चोलराजा ने शिव-पूजा के निमित्त चार सौ देवदासियों के पालन पोषण के लिए कुछ भूमि दान-स्वरूप भेंट की थी। यह दान महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार १००४ ईसवी में दिया गया था। इसी प्रकार 'इपि-ग्रैफिका कर्नाटिका' में महामण्डलेश्वर चामुण्ड रायरस का उल्लेख है जिन्होंने भरुण्डेश्वर और मन्दिर से सम्बद्ध कुण्डराज की छोटी बहन 'बीचा बरसी' को कुछ भूमि दान में दी थी।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

ऐतिहासिक तथ्य के रूप में देवदासी प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख हमें सातवीं शती के चीनी विद्वान युवान च्वांग के यात्रा-विवरणों में मिलता है। जब वह 'मु--लो--सान--पुलो' (मुलस्थानपुर--मुल्तान) स्थित सुप्रसिद्ध सूर्य मन्दिर को देखने गया तो वहाँ उसने लगातार गाने वालियों को पाया। ये गाने वालियाँ संभवतः देवदासियाँ रही होंगी। 'भविष्य पुराण' से भी इसका समर्थन होता है। इस सन्दर्भ में आठवीं-नवीं शती के अरब भूगोलवेत्ता अल्-इद्रिसी और अबू ज़ैद-अल् हसन आदि के उन वर्णनों का भी स्मरण हो आता है, जहाँ पर उन्होंने अरब आक्रमणकारी मुहम्मद बिन क़ासिम के सिन्ध आक्रमणों के प्रसंग में उक्त मन्दिर का उल्लेख किया है। आठवीं शती की रचना 'कुट्टनीमतं' में भी ऐसी कन्याओं की चर्चा है। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती थी उनको 'बोद' अथवा 'बोड' कहने की प्रथा थी जो बुद्ध या बुत का भी समानार्थी हो सकता है। क्योंकि ईरान में बुद्ध मूर्तियों के ही आधार पर बुत कहने की प्रथा

चल निकली। कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' में कश्मीर राजा जललुक का वह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है जिसमें उसने प्रसन्न होकर अपने रनिवास के सौ स्त्रियों को देवताओं के सम्मान में गाने-नाचने का आदेश दिया था। यही नहीं राजा ललितादित्य (आठवीं शती) के सन्दर्भ में भी सूर वर्द्धमान ग्राम की ऐसी ही दो देवदासियों का उल्लेख है।

मध्यकालीन सन्दर्भ

तेरहवीं शती के मुस्लिम इतिहासज्ञों ने जो सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण के समय महमूद ग़जनी के साथ थे, लिखा है कि उन्होंने ऐसी पाँच सौ गाने-नाचने वालियों को देखा जो मूर्ति के समक्ष बराबर गाती-नाचती थीं। 'तारीख़-ए-अलफ़ी' में भी इस मन्दिर का वर्णन है, जहाँ पर बतलाया गया है कि "इस मन्दिर से तीन सौ गवैये और पाँच सौ नर्तकियाँ सम्बद्ध हैं। यह यहाँ को प्रथा है कि भारत के राजे-महाराजे तक अपनी कन्याओं को मन्दिर सेवा के लिए भेज दिया करते हैं।" इस प्रकार एक समय ऐसा भी आया कि दाक्षिणात्य मन्दिरों के प्रभाव में दक्षिण से लेकर उत्तर तक में देवदासी प्रथा प्रचलित हो गई। इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा का प्रसार अधिकतर शिव एवं सूर्य मन्दिरों तक ही सीमित रहा। दामोदर गुप्त लिखित 'कुट्टनीमतं' के आधार पर काशी विश्वनाथ मन्दिर की वैसी स्थिति तक का परिचय मिल जाता है। 'वामन पुराण' का काशी-वर्णन इस वर्णन से अद्भुत साम्य रखता है।

परन्तु यहाँ उनका निजी स्वार्थ था मन्दिरों का नहीं, जब कि मालावार और उसके आसपास के देव-स्थानों में उनसे सम्बद्ध मन्दिरों का भी स्वार्थ निहित था जैसा कि अबू ज़ैद अल् हसन ने सूचित किया है। फिर भी 'स्मृति कौमुदी' के प्रमाण पर ऐसे कामों के लिए केवल स्त्रियों की नियुक्ति नहीं होती थी। पुरुषों की भी भर्ती की जाती थी——

जातिहीनः समातृणां ग्राहयेत्कर्मनामनि।
योज्यो देवपुरे राज्ञा वर्णसंकर भीरुणा॥ पृ० ७३

उपर्युक्त वर्णनों से देवदासी प्रथा का पता तो चलता है, किन्तु इस प्रथा की विधियों का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। यह विलक्षण बात है कि दक्षिण में भ्रमण करने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों में तो इस प्रथा का उल्लेख मिलता है, किन्तु उत्तर भारत में भ्रमण करने वाले वर्नियर और मनूची जैसे विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों में इस प्रथा की चर्चा नहीं पायी जाती। यही नहीं मुस्लिम इतिहासकार भी इस सन्दर्भ में मौन-से हैं। केवल वर्नियर जगन्नाथ मन्दिर की देवदासी प्रथा का नाम लेता है। संभव है उत्तर भारत में मुस्लिम शासकों की रीति-नीति का आतंक ऐसा रहा हो कि देवदासी प्रथा इस क्षेत्र में अपने आप रुद्ध हो गई हो। इन देवदासियों के सम्बंध में कहा गया है कि किसी भी मूल्य पर ये विदेशियोंको सुलभ नहीं हैं,जब कि पुरोहितों और साधुओं-फकीरों

के लिए ये उन्मुक्त हैं। इनका कल्पित विवाह सम्बंध जगन्नाथ से हुआ करता था, किन्तु छद्मवेश में पुजारी वर्ग रात्रिकाल में इनका उपभोग करता था।

फ़रिश्ता ने बहमनी राज्य के संस्थापक सुल्तान अलाउद्दीन बहमनी (चौदहवीं शती) के कर्नाटक विजय के प्रसंग में लिखा है कि उस सुलतान ने चार सौ मुरलियों को हस्तगत किया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने उन्हें अपने हरम में रख लिया होगा।

विदेशी पर्यटक

विदेशी यात्री मार्कोपोलो (तेरहवीं शती) ने लिखा है कि "मालाबारी नर-नारी" (शिव-शक्ति) के प्रतिमा-पूजक हैं जिन्हें वे अपनी कन्याएँ अर्पित करते हैं जो महंतों अथवा पुजारियों के आदेशानुसार मूर्ति की प्रसन्नता के हेतु गाती-नाचती हैं।" इटालियन यात्री निकोलो कोण्टी (पन्द्रहवीं शती) ने भी विजयनगर में रथ-यात्रा के समय मूर्ति के समक्ष सजी-सजायी नारियों द्वारा स्तुति-गान करने की चर्चा की है। एक अन्य विदेशी यात्री ग्रैस्प्रोबाली के अनुसार विजयनगर राज्य के निवासी धार्मिक उमंग में अंधे माता-पिता द्वारा अर्पित स्त्रियाँ, जो मूर्ति-पूजा में संलग्न रहती हैं, मूर्ति-पूजा की व्यवस्था और अपने भरण-पोषण के लिए अपना शरीर बेंचती हैं। विजयनगर के एक स्थान पर ऐसी चार सौ वेश्याएँ निवास करती हैं। इसकी पुष्टि सोलहवीं शती के पूर्तगाली यात्री दोमिंगो पेज़ के विवरण से भी होती है जिसने धारवार के किसी मन्दिर की चर्चा इस सन्दर्भ में की है। सोलहवीं शती के अंत में धर्म पिता डे विग और रिसिनो ने त्रिलूर की उस यात्रा को देखा था जिसमें दीपवाहिनी बीस नर्त्तकियों का उल्लेख है जो गायकों तथा वादकों के साथ अविवाहितावस्था में मूर्ति-सेवा करती हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि इन मन्दिरों की बड़ी आय है जिनमें से कुछ की आय ऐसी स्त्रियों की भक्ति-भावना के कारण बढ़ जाती है जो इस हेतु वेश्यावृत्ति तक में उतर आती हैं। फ्रेंच यात्री वर्नियर (सत्रहवीं शती) ने भी अपनी आगरा-यात्रा के प्रसंग में कुछ ऐसा ही वर्णन किया है।

ज्ञानकोश

महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार शाहंशाह औरंगज़ेब ने औरंगाबाद के प्रवास-काल में सतारा के खंडोबा मन्दिर में प्रचलित हिन्दुओं की मुरली-प्रथा (देवदासी-प्रथा) के विरुद्ध निषेधात्मक कानून लगा दिया था। इस प्रकार दक्षिण में यह प्रथा उस समय भी प्रचलित रही, जब कि उत्तर भारत में इसका विशेष पता नहीं चलता। दक्षिण वालों में कालान्तर, विवाहिता के बजाय अविवाहिता कन्याओं को ही देवदासी बनाने की प्रथा चल पड़ी और ये गाने-नाचने वाली लड़कियाँ संगीत विद्या की संरक्षिका समझी जाने लगीं। कहा जाता है कि अठारहवीं शती में टीपू सुल्तान ने माता-पिता द्वारा मन्दिरों के लिए बालक-

बालिकाओं को अर्पित करने की प्रथा का निषेध कर दिया था। वह बालक-बालिकाओं को मालाबार क्षेत्र में कृषि-कर्म करने के लिए खरीद लिया करता था।

प्रसार

बम्बई में देवदासियों का एक नाम 'भाविन' भी प्रचलित रहा है। सार्वजनिक रूप में उनका गाना-बजाना वर्जित रहा है। 'सेज विधि' के अनुसार मूर्ति के साथ कुमारी कन्या का विवाह कर दिया जाता था अर्थात् देवता द्वारा धारण किये हुए किसी अलंकार के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता था। ये अधिकतर मराठा सरदारों की दासियों द्वारा उत्पन्न कन्याएँ होती थीं। इसके विपरीत 'मुरली' मराठा शूद्र जाति की थीं। ऐसी जातियों में भण्डारी, कुनबी, धांगड़ और नायक आदि के नाम गिनाये जाते हैं।

असम प्रदेश में देवदासी-प्रथा की भाँति 'दोइ-धनी' अथवा 'देव-पत्नी' प्रथा प्रचलित रही है जिसका सम्बंध देव-मन्दिरों से रहा है।

मद्रास में देवदासियों का दीक्षा-संस्कार विचित्र रीति से होता रहा है। आरती द्वारा आरंभ होकर पुजारी द्वारा हार जैसी किसी वस्तु के दिये जाने से उसका समापन होता रहा है। देव-पूजन के फलस्वरूप उसे अन्न-वस्त्र और आवास की चिन्ता से मुक्ति मिल जाती रही है। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार वह एक रात्रि में किसी एक ही 'छैल छबीले' के साथ अंकशायिनी हो सकती थी। उसके द्वारा अर्जित आय का या तो बँटवारा हो जाता था अथवा मन्दिर के अधिकारियों द्वारा वह हस्तगत कर लिया जाता था। यह प्रथा कर्नाटक के स्पृश्यास्पृश्य दोनों में ही प्रचलित रही है। अस्पृश्यों के होलेस और मद्र जातियों में उनकी संख्या अधिक रही है। यहाँ पर इन्हें 'जोगती' कहने की परंपरा है। इसी प्रकार तेलंगाना में वे 'बसवा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। चेंगलपत् (दक्षिण) में कई जगह तांतियों में यह प्रथा रही है कि वे अपनी ज्येष्ठ कन्या को ऋतुमती होने के पूर्व ही किसी मन्दिर को भेंट कर दिया करते थे।

इस सन्दर्भ में यह एक रोचक तथ्य है कि हिन्दुओं की देखा-देखी कतिपय मुस्लिम सम्प्रदायों ने भी देवदासी प्रथा को किसी-न-किसी रूप में अपना लिया जिन्हें लखनऊ में 'अछूती' कहते रहे हैं। उनके स्मारक स्वरूप उस नगर की एक गली 'अछूती गली' कहला कर प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त विस्तृत विवरण तथा विवेचन से यह भ्रान्ति कदापि न होनी चाहिए कि कुट्टनी-कर्म अथवा वेश्यावृत्ति चाहे वह धार्मिक क्षेत्र में ही क्यों न व्याप्त हो भारतीय समाज की एकान्त विशेषता है। इसके विपरीत संसार के अधिकांश भू-भाग में यह प्रथा किसी-न-किसी रूप में आज भी प्रचलित है जो अपने आप में सामाजिक एवं आर्थिक गठन की एक विशेषता है।

श्री जगन्नाथ पाठक ने दामोदर कृत 'कुट्टनीमतं काव्यम्' का योग्यतापूर्वक

हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है और पाद टिप्पणी तथा अनुवादकीय द्वारा अन्य ज्ञातव्य बातों को सूचित कर दिया है। जिज्ञासु पाठक इनसे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। मैंने अपनी भूमिका द्वारा उन तथ्यों का उद्घाटन करने का यत्न किया है जिनकी पृष्ठभूमि में विषय-बोध सुगम हो सकेगा। हमें आशा करनी चाहिए कि इस अनुवाद द्वारा देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन को नयी दिशा एवं प्रेरणा मिलेगी। भूमिका तैयार करने में जिन रचनाओं से मुझे सहायता मिली है उन सभी के लेखकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

नागपंचमी
२०१७

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

———

काव्य रसिक

डॉ० नगेन्द्र को

सप्रेम

अनुवादक की ओर से

'कुट्टनीमत' आठवीं शताब्दी के कश्मीरी कवि श्री दामोदरगुप्त की एकमात्र उपलब्ध रचना है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड़ (७७९--८१३ ई०) के आश्रित कवि और प्रधान-मंत्री थे। जयापीड़ के कुछ पूर्वज और अन्त में वह विलासिता में बहुत कुछ बह चुके थे जिसका कवि के मन पर विशेष प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और कुट्टनीमत के निर्माण का मुख्य कारण यही समझा जा सकता है। जैसा कि इस काव्य में चरित्र-चित्रण है उससे विदित होता है कि तत्कालीन भारतीय समाज और विशेष कर कश्मीर जनपद बहुत विलासी हो गया था। विलासिता जब अपनी चरम स्थिति में पहुँच जाती है तब उसमें दुराचार, व्यभिचार, अत्याचार आदि समग्र उपद्रव एकत्र होकर सामान्य जनजीवन को क्षुब्ध कर देते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी समाजद्रष्टा का कर्तव्य हो जाता है कि वह बिगड़ते हुए समाज को सुधारे और जनजीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करे। कुट्टनीमत काव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि प्रायः यही हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका रचयिता कवि होने के साथ समाज के विविध प्रत्यावर्तनों को निकट से निरीक्षण करने वाला व्यक्ति था। ऐसी स्थिति में अपने कवित्व को माध्यम बना कर 'गुडजिह्विकया' समाज को सतर्क करना उसे अभीष्ट था। फलतः कुट्टनीमत की रचना हुई।

काव्य आखिर काव्य होता है। समाज-शास्त्र नहीं। समाज के सामने काव्य के माध्यम से जो कुछ रखा जाता है वह निश्चय ही समाज शास्त्र का भी लक्ष्य होता है, परन्तु दोनों के माध्यम में मूलतः अन्तर है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसीलिए काव्य को 'कान्तासम्मित उपदेश' माना है, प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेश काव्य के विषय नहीं। इस दृष्टि से आदि से अन्त तक इस काव्य में काव्यत्व की रक्षा की गई है और पर्यन्त में सिर्फ यह कह कर समाप्त कर दिया है कि--

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक् का व्यार्थपालनेनासौ।
नो वञ्चयते कदाचिद् विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति।।

अर्थात् इस काव्य को काव्यार्थ का सम्यक् पालन करते हुए जो श्रवण करेगा वह विट, वेश्या, धूर्त और कुट्टनी से कभी वञ्चित नहीं होगा।

सचमुच एक ओर अपने काव्यत्व की पूर्णता से और दूसरी ओर निदर्शकत्व की समग्रता से कुट्टनीमत एक प्रकार का विलक्षण निर्माण है। यह आकाश-दीप की भाँति संस्कृत-साहित्य के स्फीत आकाश में अपनी विभिन्न मोहक रंगीनियों को लिए जगमगाता हुआ एक ओर सहृदय को अपने कान्तिभर से आकृष्ट भी करता है, दूसरी ओर उसे सजग और सतर्क भी बना देता है।

काव्य का आरम्भ भगवान् अवार्यवीर्य कामदेव की जयकामना से हुआ है और दूसरे ही श्लोक में कवि अपना विनय करने के बहाने सहृदयों से काव्य के चरित्रों आदि दोषों की ओर ध्यान न देकर गुणलेश की ओर दृष्टि देने के लिए प्रार्थना करके प्रस्तुत चर्चा में लग जाता है। इसमें प्रयुक्त एकमात्र छन्द आर्या है जो छन्दःशास्त्र के अनुसार बहुभेदवती होने पर भी यहाँ परिमित ही प्रयुक्त है।

कुट्टनीमत के प्राप्त होने और प्रकाश में आने का इतिहास भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ सदियों से अप्राप्त होने के कारण यत्र-तत्र के उद्धृत श्लोकों मात्र से विद्वानों को विदित था। यह पीटर्सन महाशय को १८८३ ई० में गुजरात के काम्बेस्थित शान्तिनाथ मन्दिर के पुस्तक-भाण्डार में ताड़पत्र पर आनुमानिक त्रयोदश शताब्दी में लिखित प्राप्त हुआ। सदियों की चिरप्रसुप्ति के बाद जागरित होकर भी यह 'अपूर्ण एवं अशुद्ध' होने के कारण विद्वानों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बना रहा। १८८७ ई० में जयपुरीय महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद ने इस ग्रन्थ के और भी प्राप्त दो पाण्डुलिपियों के आधार पर निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से 'काव्यमाला' के तृतीय गुच्छक में इसे प्रकाशित किया, यद्यपि कि पूर्वोक्त त्रुटियाँ इस संस्करण में उपसंहृत न हो पाईं। पीटर्सन की प्राप्त पाण्डुलिपि में ग्रन्थ का नाम 'शम्भलीमतम्' था, लेकिन अन्य प्रतियों में 'कुट्टनीमतम्' शीर्षक था जो स्वीकृत हुआ। क्योंकि 'राजतरंगिणी' में कल्हण ने इस काव्य को 'कुट्टनीमतम्' के नाम से ही स्मरण किया है और बाद में प्राप्त हुई पूर्ण एवं शुद्ध

पाण्डुलिपि में यही शीर्षक मिला। कोश के अनुसार 'कुट्टनी' और 'शम्भली' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'कुट्टनीमत' आदि अर्थात् कुट्टनी (परपुरुष के साथ संयोग करा के स्त्रियों का शील हरण करने वाली) स्त्री द्वारा दी हुई मंत्रणा या उपदेश।

१८९७-९८ ई० में महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल यात्रा की और वहाँ उन्हें ११७२ ई० में प्रतिलिखित इसकी एक पूर्ण पाण्डुलिपि नेवारी लिपि और प्राचीन अंशतः बंगाक्षर में प्राप्त हुई। उनके कथनानुसार इससे पुराना कोई बंगाक्षर प्राप्त नहीं हुआ है। उन्होंने इस ग्रन्थ को बंगाल के एशियाटिक सोसाइटी को दिया जहाँ से एक कश्मीरी विद्वान् शिष्य श्रीमधुसूदन कौल के सम्पादकत्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

तब बम्बई के एक विख्यात गुजराती विद्वान् श्री तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी ने एशियाटिक सोसाइटी के संस्करण, तीन प्रतियों, काव्यमाला के खण्डित संस्करण और काशी के पण्डित रत्नगोपाल भट्ट द्वारा रचित 'रसदीपिका' नाम की टीका का अवलम्बन करके एक सम्पूर्ण सटीक संस्करण की रचना की। अब तक प्राप्त संस्करणों में यह ग्रन्थ सबसे उपयोगी और समग्र कहा जा सकता है।

इसके रचयिता श्री दामोदर गुप्त ने अपना परिचय कहीं नहीं दिया है। केवल 'राजतरंगिणी' का यह श्लोक इस सम्बंध में थोड़ा सा निर्देश करता है--

स दामोदरगुप्ताख्यं कुट्टनीमतकारिणम्।
कविं कविं बलिरिव धुर्यं धीसचिवं व्यधात्।।४९६

और कुट्टनीमत के अन्त में यह लिखा है--

इति श्रीकश्मीरमहामण्डलमहीमण्डन राजजयापीड-मंत्रिप्रवर दामोदर-गुप्तकविविरचितं कुट्टनीमतं समाप्तम्।

इन दोनों से इतना ही विदित होता है कि कुट्टनीमत के रचयिता श्री दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड़ के मंत्री थे। कल्हण ने कवि के जीवन की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है। वल्लभदेव ने अपनी 'सुभाषितावली' में दामोदर गुप्त के नाम से चार श्लोकों को उद्धृत किया है जो कुट्टनीमत में नहीं मिलते। सम्भव है कवि ने कोई अतिरिक्त निर्माण भी किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि कुट्टनीमत कवि के परिणत वयस् की रचना है, क्योंकि इसमें कवि ने विभिन्न शास्त्रों में अपने व्यापक पाण्डित्य का परिचय दिया है।

कल्हण के अनुसार जयापीड़ का राज्यकाल ७५१ ई० से ७८२ ई० तक ठहरता है। लेकिन आधुनिक खोज के अनुसार यह काल निर्णय दोषपूर्ण है। उसका राज्यकाल ७७९-८१३ ई० सन् था, जैसा कि स्टेन महाशय ने राजतरंगिणी की भूमिका में बताया है। श्री दामोदर गुप्त के इस समय में विद्यमान होने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

राज तरंगिणी के अनुसार दामोदर गुप्त के सम-सामयिक व्यक्तियों का पता चलता है जो जयापीड़ के आश्रित थे[1]--

क्षीरपण्डित--एक वैयाकरण, धातुपाठ के लेखक और पाणिनि के सम्बंध में अनेक पुस्तकों के रचयिता । इनसे जयापीड़ ने पतञ्जलि का महाभाष्य पढ़ा था।

भट्ट उद्भट--उद्भटालंकार के रचयिता, सुप्रसिद्ध आलंकारिक।

मनोरथ--एक कवि जिनके कुछ श्लोकों को 'औचित्य-विचार चर्चा' में आचार्य क्षेमेन्द्र ने उद्धृत किया है। मेरा ख्याल है कि 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में आचार्य आनन्दवर्धन ने 'तथा चान्येन कृत **एवात्र** श्लोक:' लिखते हुए 'यस्मि- न्नस्ति न वस्तु किञ्चन०' इत्यादि ध्वनिविरोधी श्लोक उद्धृत किया है, जिसके सम्बंध में लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं--**'ग्रन्थकृत्समान-कालभाविना मनोरथनाम्ना कविना'**-- तो सम्भव है यह मनोरथ कवि जयापीड़ के मनोरथ कवि ही हों। 'ध्वन्यालोक' का समय भी नवम शताब्दी होने के कारण यह बात संगत जान पड़ती है।

वामन--अलंकारसूत्र के रचयिता और काशिकावृत्ति के सम्मिलित लेखक।

शङ्खदत्त, चटक और **सन्धिमान**--इनका अन्यत्र कोई उल्लेख ज्ञात नहीं। श्रीदामोदर गुप्त ने कुटनीमत में प्रसंगवश इन लोगों का उल्लेख किया है।

कोहल (८२, ८७६)--संगीत और नाट्य के लेखक। 'संगीतरत्नाकर' में शार्ङ्गदेव ने इनका उल्लेख किया है। इनकी रचना अब तक अनुपलब्ध है।

ब्रह्मा (७५)--नाट्य के प्रथम रचयिता।

नारद (७५)--संगीत के आचार्य। नारदी शिक्षा और संगीत मकरन्द भी नारद की कृति के रूप में समझे जाते हैं, किन्तु इनसे इस नारद की पहचान ठीक नहीं।

वात्स्यायन (७७, १२३)--कामसूत्रों के रचयिता।

दत्तकाचार्य (७७)--कामसूत्रकार, इनकी रचना अज्ञात है।

भरत (८२, १२४, ८७६, १००९)--नाट्यशास्त्रकर्ता।

मदनोदय, दत्तक, विटपुत्र और **राजपुत्र** (१२३)--कामशास्त्र के अज्ञातचरित आचार्य।

---

१. क्षीराभिधाच्छब्दविद्योपाध्यायात् सम्भृतश्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः।।४८९।।
विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः।।४९५।।
मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मंत्रिणः।।४९७।।

विशाखिल (१२८)--कलाओं के लेखक। काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति (१। ७।७) में इनका उल्लेख है।

दत्तिल (१२४)--संगीतशास्त्र के रचयिता। इनकी कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं। ये कोहल के शिष्य कहे जाते हैं। शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर की टीका में चतुर कल्लिनाथ ने इनकी रचना से उद्धृत किया है।

व्यास (२४७)--महाभारत और अष्टादश पुराण के कर्ता।

मतंग (८७७)--संगीतशास्त्र के एक पुराने रचयिता। शार्ङ्गदेव और दूसरे लेखों द्वारा उल्लिखित।

इनके अतिरिक्त कवि ने हर्षदेव (अनंगहर्ष) का नाम लिया है (८००) और जिनकी सुप्रसिद्ध रचना रत्नावली के प्रथम अंक को आर्या छन्दों में अभिनय के ढंग पर प्रस्तुत किया है (८८१--९२८)।

अपने निर्माण के पश्चात् कुट्टनीमत प्रचार-प्रसार की दृष्टि से किसी से कम न था। मध्ययुग के कविगण और साहित्यकार इस काव्य से पूर्ण परिचित हो चुके थे। आचार्य मम्मट ने अपने प्रतिष्ठित निर्माण 'काव्यप्रकाश' में इस काव्य के दो श्लोकों (१०३, ६९७) को सराहनीय स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त सुभाषितावली, कविकण्ठाभरण, पञ्चतंत्र, दुर्घटवृत्ति, मंखकोश टीका, कवि-वचन-समुच्चय, सूक्तिमुक्तावली, अलंकार सर्वस्व, क्षीर स्वामी की अमर-कोश टीका आदि ग्रन्थों में इस काव्य के श्लोक उद्धृत मिलते हैं। इन ग्रन्थों में कहीं दामोदरदेव, कहीं भट्ट दामोदर गुप्त, कहीं कपिलदामोदर इत्यादि नामों से कवि का परिचय दिया गया है। पद्मश्री या पद्मश्रीज्ञान नामक बौद्धपण्डित (१० म ११ श शतक) के 'नागरसर्वस्व' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत का उल्लेख है।

आगे चल कर सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी से इस ग्रन्थ का मूल अस्तित्व तिरोहित हो चला, क्योंकि काव्य-प्रकाश के तत्कालीन टीकाकार माणिकचन्द्र आदि ने उद्धृत श्लोकों के रचयिता का नाम अथवा कोई परिचय नहीं दिया है और अनेक टीकाकारों ने इन्हें अन्य कविकृत कह कर भूल भी की है।

कुट्टनीमत की कथा

वाराणसी की मालती नामक गणिका ने किसी के कथनानुसार अपने को कामुक जनों के हृदय हरण करने में असमर्थ अनुभव करके विकराला नाम की कुट्टनी के पास जाकर उपाय पूछा। विकराला मालती के सौन्दर्य गुण की प्रशंसा करके बोली कि वह भट्टपुत्र (चिन्तामणि ?) को आकृष्ट करने का प्रयत्न करे। गणिका को चाहिए कि कामुक के मन में विद्यमान इस धारणा को कि वे ठग होती है, उनका राग कृत्रिम होता है, दूर करे और इस उद्देश्य से भट्टपुत्र का सविधि सत्कार करके मालती यह कथा सुनाए--

कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के पुरन्दरसेन नामके एक ब्राह्मण का लड़का सुन्दरसेन अपने मित्र गुणपालित के साथ देशाटन के उद्देश्य से निकला और अपनी यात्रा के प्रसंग में अर्बुदाचल (आबूपर्वत) पर पहुँचा। उस पर्वत की रमणीयता से मोहित सुन्दरसेन ने वहाँ एक उद्यान में हारलता नाम की एक सुन्दरी गणिका को देखा। दोनों के चले तत्काल नयनसंगतक के फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे को अपना दिल दे बैठे। सुन्दरसेन उस गणिका के साथ एक वर्ष तक आनन्दपूर्वक रहा। गुणपालित न चाहते हुए भी मित्र के प्रति गाढ़ सौहार्द के कारण सुन्दरसेन के साथ रहा। तत्पश्चात् पिता के भेजे हुए दूत ने सुन्दरसेन को पत्र दिया जिसमें उसकी कमजोरी के प्रति धिक्कार के साथ शीघ्र लौट आने और परिवार का बोझ सम्हालने के लिए निर्देश था। पिता की आज्ञा मान कर सुन्दरसेन अपने मित्र के साथ चला। उसके साथ कुछ दूर तक वियोग-विह्वल हारलता चली। नगर के बाहर जब वह हारलता से विदा हुआ और कुछ दूर चला गया तब पीछे से आते हुए किसी पथिक ने पूछने पर बताया कि कोई महिला बरगद के पेड़ के नीचे निश्चल पड़ी है। हारलता के निष्प्राण हो जाने के इस समाचार से रोता-पीटता वह लौटा और उसके मृत शरीर के समीप पहुँच कर देर तक विलाप करता रहा। अन्त में उसके शरीर का अग्निसंस्कार सम्पन्न कर मित्र के साथ संन्यासी होकर निकल गया।

विकराला ने कहा कि इस कथा से गणिकाओं के राग को प्रमाणित करके तू अपने को भट्टपुत्र से उसके परिचारकों के बीच रख लेने की प्रार्थना करना। इस प्रकार जब उसका विश्वास तुझ पर जम जाय तब विविधि प्रकार की मान-सूचक ईर्ष्या की बातें करना। जब वह तुझ पर रूढ़राग हो जाय तब अपनी माता के साथ मिथ्याकलह करना। माता तुझसे कहे कि पैसे खरचने वालों को छोड़ इसके पीछे क्यों पड़ी है ! गणिका जनों के लिए राग शोभा नहीं देता। तू माता की बात न मानना और अपने प्रिय के लिए सब-कुछ छोड़ देने को उतारू हो जाना। ऐसा करने से वह तुझे अपना सर्वस्व अर्पित करके सन्तृप्त करने का निश्चय करेगा, तेरे विविध कामवर्धक उपचारों को सराहेगा।

इतना होने पर यदि वह प्रभावित न हो तब तू यह प्रकट करना कि तेरे सारे गहने चोरों ने मार्ग में लूट लिए। यह प्रपञ्च रचना भी यदि वृथा सिद्ध हो तब तेरे आदमी से प्रेरित हो बनिया आकर यह कहे कि तुमने हार जो गिरवी रखी है उसे पैसा वापस करके लौटा ले। तू कहना कि हार किसी बिचवान के ठहराये दाम पर तू ही रख ले और जो पैसा बचेगा उसे पीछे दे दूँगी।

यह कपट रचना भी जब व्यर्थ सिद्ध हो तब कहना कि जब तुम बीमार पड़ गए थे तब मैंने देवी को बलि चढ़ाने की मनौती मान ली थी। लेकिन सामग्री के अभाव में जो पूजा नहीं कर पायी हूँ उसके कारण मन में शंका बनी रहती है।

यह भी व्यर्थ हो तब अपना घर खाली करके उसमें आग लगा देना और यह कहना कि मेरा सब कुछ जल गया।

इन उपायों से कामुक को खोखला कर डालना और तब उसके छोड़ने के उपाय (परुषोपचार) काम में लाना। बहुत कहने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं समझे तब कहना कि मेरा दिल तुमसे ही खुश होता है लेकिन क्या करूँ, माता की बात टाल नहीं सकती। इसलिए कुछ दिनों के लिए तुम चले जाओ, फिर आना तो तुम्हारे ही साथ रह कर दुनिया के मज़े लूँगी। यह कहने पर वह चला जाय और कुछ दिनों के बाद उसके पास धन एकत्र हो जाय तब पुन: उसे मिला लेने का प्रयत्न (भिन्नसन्धान) करना।

इसी प्रसंग में विकराला ने मालती को एक कथा सुनायी——

राजा सिंहभट का लड़का राजकुमार समरभट अपने परिचारकों के साथ काशी विश्वनाथ के दर्शन के पश्चात् वहाँ वेश्याओं, गायनाचार्यों, वणिग्जनों तथा अन्य विविध प्रकार के लोगों से मिला। सभी लोगों ने उसे सम्मानित किया। वहाँ उसने नृत्योपदेशक आचार्य से स्थानीय संगीत के सम्बंध में प्रश्न किया। उसने गणिका जनों की व्यापार-परायणता के विविध उदाहरण देते हुए हर्षदेवलिखित 'रत्नावली' के अभिनय करने वालियों में मञ्जरी नामक वेश्या का परिचय कराया। राजपुत्र ने मञ्जरी को हसरत भरी निगाह से देखते और 'क्या यह है!' कहते हुए वेत्रदण्ड से स्पर्श किया। इसी प्रसंग में उसके सचिव ने वेश्याओं का तिरस्कार करते हुए परकीयाप्रेम की प्रशंसा की। तब मञ्जरी की माता ने अपने पक्ष से सचिव के वाग्जाल का भेदन किया। नर्तकाचार्य ने राजपुत्र से 'रत्नावली' का एक अंक देखने के लिए प्रार्थना की। उसकी स्वीकृति के बाद पूरा प्रथम अंक खेला गया। राजपुत्र ने उस नाट्य को बेहद पसंद किया और रत्नावली की भूमिका निभाने वाली मञ्जरी के प्रति अनुरक्त हो गया। फलत: उस गणिका ने अपने विविध विलासों में उसे फाँस कर उसका सब कुछ ले लिया और उसे त्वगस्थिशेष करके छोड़ दिया।

यह कथा सुना कर कुट्टनी विकराला ने कहा कि जो कुछ मैंने कामुक के धन ऐंठने के उपाय बताये उनके प्रयोग से तू महती समृद्धि प्राप्त करेगी।

मालती ने यह उपदेश श्रवण कर विकराला का चरण-स्पर्श किया और सन्तुष्ट हो अपने घर गई।

कवि अन्त में लिखता है कि इस काव्य को जो काव्यार्थपालन पूर्वक श्रवण करेगा वह कभी विट, वेश्या, धूर्त और कुट्टनी से वञ्चित नहीं होगा।

इस साधारण और बहुत अंश में भद्दे और फीके कथानक को कवि ने अपने कवित्व का जामाजोड़ा पहना कर बहुत ही मज़ेदार और दिलचस्प बना दिया है। गुण की दृष्टि से प्रसाद और माधुर्य को सफलता से निभाया है और यत्र-तत्र

श्लेषानुबद्ध परिसंख्या, उपमा, व्यतिरेक आदि अयत्नसिद्ध आलंकारिक प्रयोगों का पुट देकर इसके गाम्भीर्य की सुरक्षा भी कर दी है। यद्यपि इस काव्य के रसास्वादन में इन प्रयोगों के कारण बाधा-सी महसूस होती है, किन्तु इनकी सरलता और स्वाभाविकता के कारण इस काव्य के प्रति कुछ ऐसा प्रलोभन पैदा हो जाता है कि सहृदय का मन नहीं खीझता। पाश्चात्य ढंग के आलोचकों ने इस काव्य को Erotico-comic (अर्थात् प्रेम-हास्य-सम्बंधी) काव्य कहा है और बहुत अंश में Satiric (व्यंग्यपूर्ण) कहा है। वस्तुस्थिति ऐसी ही है। हम कह सकते हैं कि कवि को इस काव्य में एक खास ढंग की सफलता मिली है जिसका दूसरा उदाहरण संस्कृत-साहित्य में नहीं है। क्षेमेन्द्र आदि ने भी इसी विषय पर विभिन्न रचनाएँ (समयमातृका आदि) की लेकिन कुट्टनीमत की सफलता अपूर्व है।

वैशिक जीवन का मौलिक वैविध्य इस काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस जीवन और कला से सम्बद्ध शास्त्र का निर्माण वात्स्यायन के कामसूत्र (षष्ठ-प्रकरण) और भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में बहुत पहले हो चुका था। वात्स्यायन ने षष्ठ 'वैशिक-अधिकरण' को बारह प्रकरणों में विभक्त किया ---(१) सहाय-गम्यागम्य चिन्ता, (२) गम्यकारण (३) उपावर्तनविधि (४) कान्तानुवर्तन, (५) अर्थागमोपाय (६) विरक्तलिंग (७) विरक्तप्रतिसन्धि (८) निष्कासन-प्रकार (९) विशीर्णप्रति सन्धान (१०) लाभविशेष (११) अर्थानर्थानुबन्धसंशयविचार और (१२) वेश्याविशेष।

इन विषयों में से बहुत को कवि ने काव्य की व्यावहारिक भूमि में लाकर उन्हें व्यक्त रूप में समझा दिया है। समाज में वेश्याजीवन के आरम्भ के सम्बंध में कोई निश्चित तथ्य प्रस्तुत करना कठिन है। स्कन्दपुराण आदि में वेश्याओं की उत्पत्ति के कथानक मिलते हैं लेकिन उन्हें वैज्ञानिक युग के मान्य तथ्यों के अनुसार अविश्वसनीय समझ लिया जाता है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वैशिक व्यापार, जो मुख्यतः नृत्य-संगीत पर आश्रित माना जाता है स्वर्ग में निवास करने वाली अप्सराओं के अनुकरण पर यहाँ के विलासिता प्रधान जीवन में आरम्भ हुआ होगा और आगे चल कर इसमें विभिन्न समाजविरोधी वासनात्मक तत्त्व शामिल होते गए। आचार्य भरत ने वेश्याओं की निम्न और उच्च कोटि की चर्चा में कहा है जो वेश्या कलाओं से अभ्यर्थित और रूप-शील-गुणान्विता होती है वह 'गणिका' इस नाम से अभिहित होकर जनसंसद में स्थान प्राप्त करती है--

आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि।।

बुद्धकाल में गणिकाओं के व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ संशोधन हुआ प्रतीत होता है। उनके लिए पालिसाहित्य में 'जनपदकल्याणी' शब्द प्रयुक्त

हुआ है। अस्तु, कुट्टनीमत उन्हीं वेश्याजीवन के समाजविरोधी तत्त्वों को सांकेतिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसका कवि कथानक के उतार-चढ़ाव में नहीं उलझता, बल्कि वस्तुस्थिति को काव्य के ढंग पर प्रस्तुत करने के लिए निरन्तर जागरूक रहता है। यद्यपि वह अपनी प्रवर्तमान प्रतिभा को रोककर कथानक में आ जाता है तथापि फिर वही बात हो जाती है। आरम्भ से अन्त तक इस काव्य में वैशिक जीवन के विविध उपादानों को हम मौलिक रूप में उपनिबद्ध पाते हैं। कुट्टनी, कुट्टनी के गृह पर स्थित जनसमुदाय, कामुक, कामुक का वैभव-विलास, उसके आवर्जन के विभिन्न उपाय, चौर, मातृकलह, परुषोपचार, भिन्नसन्धान, वक्रोक्ति प्रयोग, ललित-प्रयोग आदि आदि। इनके अतिरिक्त वैशिक जीवन में उपस्थित होने वाले कामुकों के विविध चरित्र, वेश्याओं की परस्पर बातचीत, उनका परस्पर ईर्ष्याभाव और कलह ये सब इस काव्य के बहुत ही वैनोदिक प्रसंग हैं।

आचार्यों द्वारा परिगणित काव्य के प्रकारों में कुट्टनीमत को लघुकाव्य या खण्डकाव्य कहा जा सकता है। कथावस्तु की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में इसे 'निदर्शनकथा' माना है[1]। रस काव्य में सूक्तियों की भरमार है और लोकोक्तियाँ भी यत्र-तत्र चमत्कारपूर्ण बन गई हैं। एक उदाहरण लीजिए——

कौमारकं विहन्तुं रतिसमये मदनसेनायाः।
इच्छामि किन्तु तस्या मात्राऽतीव प्रसारितं वदनम् ॥३५०॥

कोई विट कहता है कि मैं चाहता हूँ कि रति-समय में मदनसेना के कौमारक (क्वांरपन) का हरण करूँ, लेकिन उसकी माता ने मुँह ज्यादा फैला दिया है। 'मुँह का ज्यादा फैला देना' यह वैशिक जीवन का खास प्रयोग था जो अब भी हिन्दी में सुरक्षित है।

जीवन की गहराई तक पहुँचने वाले पद्यों की इस काव्य में कमी नहीं है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की एक उक्ति से प्रभावित गणिका के मुख से कितना और शिव में रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है——

यौवनचापलमेतद् यन्मादृशि कौतुकं भवताम्।
यत्तु सुखमनवगीतं तस्य स्थानं निजा दाराः ॥४६१॥

और जहाँ गणिका अपनी ओर से तर्क उपस्थित करती है——

क्षीणद्रव्ये देहिनि दारा अपि नादरेण वर्तन्ते।
किमुतादानैकरसाः शरीरपणवृत्तयो दास्यः ॥६४१॥
येऽपि धनक्षयदोषं पश्यन्ति जडा विलासिनीश्लेषे।
प्रष्टव्यास्ते भवता किमकृतकशिपुव्यया दाराः ॥५०३॥

---

१. तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत्पञ्चतन्त्रादिवत् धूर्तविट-नीमत-मयूर-मार्जारिकवच्च निदर्शनम्।

गणिका के सफल होने के लिए कुट्टनी का सबसे मुख्य उपदेश है कि वह किसी को अपना दिल न दे बैठे, रागहृत न हो जाय, क्योंकि इसका परिणाम उसके पक्ष में बुरा होता है--

सद्भावजाऽनुरक्ति र्न हि पथ्यं पण्यनारीणाम् ॥

इसलिए वह धनरहित व्यक्ति का तिरस्कार कर दे, अधिक सम्पत्ति वाले पुरुष का गौरव करे, क्योंकि उसके रूप का निर्माण ही धन-सिद्धि के लिए हुआ है--

अवधीरय धनविकलं कु गौरवमक्कशसम्पदः पुंसः।
अस्मादृशां हि मुग्धे धनसिद्धचै रूप निर्माणम् ॥२७८॥

इसमें सन्देह नहीं कि दरिद्र पुरुष में भी दिल से अनुराग करने वाली गणिका नहीं रह जाती, रूपाजीवा होकर भी वसंतसेना ने दरिद्र सार्थवाहपुत्र चारुदत्त में अनुराग किया और इसी प्रकार के निःस्वार्थ अनुराग का कुट्टनीमत में हारलता और सुन्दरसेन के कथानक के रूप में उज्ज्वल उदाहरण पेश किया गया है; फिर भी इसमें मात्र आदर्श है, आकस्मिकता है। यौवनकाल में रागहृत होने वाली गणिका वयःपरिणाम में बहुत कष्ट उठाती है, यहाँ तक कि गली-दर-गली भीख माँगती है--

बाल्ये तावदयोग्या पश्चादपि वृद्धभावपरिभूता।
तारुण्ये रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद् भिक्षाम् ॥ ५४४ ॥

हम कह चुके हैं संस्कृत में अन्य कई काव्य ग्रन्थ गणिका जीवन पर स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं। दशरूपकों में 'भाण' विशेष रूप से गणिकाओं के जीवन से सम्बद्ध साहित्य है। 'चतुर्भाणी' के नाम से प्रसिद्ध काव्यसंग्रह भाण-साहित्य का उल्लेखनीय निर्माण है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने समयमातृका, देशोपदेश, नर्ममाला और कलाविलास आदि काव्य प्रधान रूप से गणिकाओं के सम्बंध में लिखे हैं। इन ग्रन्थों में भारतीय गणिका जीवन के अध्ययन करने वालों के लिए पुष्कल सामग्री विद्यमान है। ये ग्रन्थ सामग्री की दृष्टि से मृच्छकटिक, चतुर्भाणी और कुट्टनीमत से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनके अतिरिक्त जल्हण का मुग्धोपदेश भी एक सफल काव्य है। संस्कृत के महाकाव्यों, सप्तशतियों और विभिन्न प्रकार के लघुकाव्यों में स्फुट रूप में गणिका जीवन सम्बंधी पद्य बहुत लिखे गए हैं जो मार्मिक, हृद्य एवं आकलनीय हैं। इधर एक विद्वान् ने सामग्रियों को विषय की दृष्टि से विभक्त करके चयन के रूप में 'गणिकावृत्तसंग्रह' नामक ग्रंथ प्रस्तुत किया है।

कुट्टनीमत के 'काव्यमाला' संस्करण के जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी अनुवाद बहुत पहले हो चुके हैं, साथ ही क्षेमेन्द्र की समयमातृका के भी अनुवाद हो चुके हैं। अध्यापक श्री त्रिदिवनाथराय ने कुट्टनीमत का बंगला अनुवाद 'वसुमती-साहित्य मन्दिर', कलकत्ता से प्रकाशित किया है। इसका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद-

सहित संस्करण मुख्यतः तनसुखराम त्रिपाठी के बम्बई वाले संस्करण के आधार पर तैयार किया गया है। हिन्दी अनुवाद में कवि के वक्तव्य को हिन्दी की प्रकृति के अनुसार तदनुरूप प्रयोग में उपस्थित करने का प्रयत्न है। भाव के निखार के लिए उर्दू के प्रचलित प्रयोगों को भी निःसंकोच भाव से रखा गया है। विशेष कर टिप्पणियों में कवि के शास्त्रीय और लोकीय संकेतों को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न है और विषय को सम्बद्ध और स्पष्ट करने के लिए मैंने उर्दू के मान्य लेखक मिर्ज़ा रुसवा (मरहूम) लिखित उपन्यास 'उमराव जान' को यत्र-तत्र उसी रूप में उद्धृत किया है। उमराव जान अदा लखनऊ की एक विदुषी गणिका थी जिसके जीवन की घटना को उसी से सुनकर उसी के शब्दों में मिर्ज़ा रुसवा ने यह अनमोल ग्रन्थरत्न प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत के समान ही वेशजीवन के शाश्वत तथ्यों और विविध उपादानों का काव्यात्मक और व्यावहारिक चित्रण है।

प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में मैंने विभिन्न प्रतियों के पाठ-भेदों को उद्धृत करना इसलिए आवश्यक नहीं समझा कि अब प्रायः तनसुखराम के संस्करण को बहुत कुछ प्रामाणिकता मिल चुकी है जो इस संस्करण का आधारभूत है। आवश्यक पाठभेद को मैंने प्रायः नहीं छोड़ा है।

कुट्टनीमत में अनुदाद करते समय कहीं कहीं जो मुझे कठिनाई हुई है वहाँ अपनी सीमाओं के कारण तर्कवितर्क प्रस्तुत करना मैंने उचित न समझा। किसी प्रामाणिक युक्ति के अभाव में 'खींचतान' का आश्रय लेना पड़ा है और थोड़े में टिप्पणी में कठिनाइयाँ व्यक्त कर दी हैं। इसके बावजूद मेरा जहाँ तक विश्वास है यह संस्करण कुट्टनीमत के स्वरूप तक पहुँचने का एक उपयोगी और अपरिहार्य माध्यम होगा। मुझे प्रसन्नता होगी कि कोई सहृदय विज्ञ जन मेरी त्रुटियों को संशोधन मुझे सूचित करने का कष्ट करेंगे। जहाँ मेरी गाड़ी अटकी है, उसके उद्धार का भार विद्वानों पर है।

मैं अपने आदरणीय मित्र श्री रामशंकर जी भट्टाचार्य का अतिशय अनुगृहीत हूँ जिनके कारण यह कार्य पूरा करने का मुझे अवसर मिला। इसके लिए उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता मात्र होगा। भट्टाचार्य जी ने वामनपुराण के और कुट्टनीमत के वाराणसी वर्णन को बहुत अंश में मिलता-जुलता दिखा कर मुझे चमत्कृत कर दिया, इस सूचना के लिए उनका मैं उपकृत हूँ। वाराणसी के विश्वनाथ-पुस्तकालय के अध्यक्ष पं० श्री कृष्णपन्त जी साहित्याचार्य ने अनुग्रह करके तनसुखराम की टीका वाले दुर्लभ संस्करण को मेरे इस कार्य के लिए बहुत काल तक सुलभ किया इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। सहसराम के मेरे अभिन्न मित्र

श्री सीताराम पाठक ने अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार करने में अपेक्षित सहयोग दिया है, मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इसमें जिन टीकाकारों (विशेषरूप से तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी), विद्वानों और कवियों के श्रम का उपयोग किया है उनका मैं ऋणी हूँ।

जगन्नाथ पाठक

डालटनगंज (पलामू)

२--९--६१

श्रीगणेशाय नमः

कुट्टनीमतं काव्यम्

स जयति संकल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बनभ्रमरः ।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकितं वसतिः ॥१॥

जिसका निवास-स्थान अनुराग-भरी ललनाओं के नेत्रों के अपाङ्ग का निरीक्षण है, अपनी भार्या रति के मुख रूपी कमल को चूमने वाला भौंरा, संकल्प-रूप मन से उत्पन्न वह (जगत्प्रसिद्ध कामदेव) विजयी हो[1] ॥१॥

१–प्रस्तुत काव्य के प्राचीन भारतीय वेश्या जीवन पर आधारित होने के कारण प्रेम के देवता भगवान् अनार्यवीर्य कामदेव के प्रति कविकृत यह जय-जयकार सर्वथा प्रासङ्गिक है और समुचित भी। क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने भी अपने वैशिक काव्यों में कामदेव की ही वन्दना की है।

'अनुरक्तललनानयनान्तविलोकन'—यहाँ 'ललना' शब्द विशेष रूप से जघन-चपला या पुंश्चली स्त्रियों का वाचक है, अर्थात् वेश्यायें। क्योंकि उन्हीं के कटाक्षों में काम का निवास स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है, बेचारी प्रकृति-सरल जनपद बधुओं के 'भ्रू विलासानभिज्ञ' लोचनों में प्रीति की स्निग्धता के सिवा और क्या मिल सकता है?

अवधीर्य दोषनिचयं गुणलेशे संनिवेश्य मतिमार्याः ।
कुट्टन्या मतमेतद्दामोदरगुप्तविरचितं शृणुत ॥२॥

सज्जनो, आप अवगुणों पर ध्यान न देकर एवं गुण का लेश जहाँ कहीं भी हो उसमें अपनी मति को प्रवृत्त कर दामोदर गुप्त द्वारा विरचित 'कुट्टनी[1] के मत' (उपदेश) रूप इस काव्य को सुनें ॥२॥

अस्ति खलु निखिलभूतलभूषणभूता विभूतिगुणयुक्ता ।
युक्ताभियुक्तजनता नगरी वाराणसी नाम ॥३॥

समस्त भू-मण्डल की अलङ्कारभूता, ऐश्वर्य के गुणों से युक्त, ब्रह्मज्ञानी और विद्वानों से सेवित वाराणसी नाम की नगरी है ॥३॥

अनुभवतामपि यस्यामुपभोगान्कामतः शरीरवताम् ।
शशधरखण्डविभूषितदेहलयः किल न दुष्प्रापः ॥४॥

जिस नगरी में शरीरधारी आसक्तिपूर्वक समग्र उपभोगों का अनुभव करते हैं तथापि उन्हें चन्द्र-खण्ड से विभूषित शरीर (अर्थात् भगवान् शङ्कर) में लीन होना दुर्लभ नहीं है[2] ॥४॥

चन्द्रविभूषितदेहा भूतिरताः सद्भुजंगपरिवाराः ।
वारस्त्रियोपि यस्यां पशुपतितनुतुल्यतां याताः ॥५॥

१—'कुट्टयति स्त्रीणां शीलं या सा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मध्यस्थ होकर पराई स्त्रियों का पर-पुरुषों के साथ संयोजन करके शीलहरण करती है वह स्त्री 'कुट्टनी' कहलाती है, सम्भवतः यह प्रचलित देश्य शब्द है। कुट्टनी का दूसरा पर्याय 'शम्भली' है, अर्थात् सुख की, मज़े की बात करने वाली नारी (शं सुखं भलते)। पाठान्तर के अनुसार इस काव्य को 'शम्भली मत' भी कहते हैं। माधवी, रङ्गमाता, अर्जुनी, कुम्भदासी, गणेसका, रततालो, चुन्दी, समयमातृका आदि भी कुट्टनी के पर्यायवाची शब्द-कोशों में और यत्र-तत्र काव्यों में प्रयुक्त मिलते हैं।

२—वाराणसी के सम्बन्ध में यह धार्मिक विश्वास बहुत प्राचीन-काल से इस देश में प्रचलित है कि यहाँ के निवासी सशरीर स्वर्ग अथवा मुक्ति का लाभ करते हैं तथा मृत्यु के बाद भगवान् शिव में लीन हो जाते हैं। कवि ने इसी प्रचलित धार्मिक मान्यता को इस आर्या में उपनिबद्ध किया है।

चन्द्र से विभूषित शरीर वाली, भूति में रत, भुजङ्गों के परिवार से युक्त वारस्त्रियाँ भी जहाँ शिव जी की देह का सादृश्य लाभ करती हैं[1] ॥५॥

अतितुङ्गसुरनिकेतनशिखरसमुत्क्षिप्तपवनचलिताभिः ।
मंजरितमिव विराजति यत्र नभो वैजयन्तीभिः ॥६॥

जहाँ बहुत ऊँचे देव-मन्दिरों के शिखरों पर फहराई हुई और हवा से लहराती हुई वैजयन्तियों (पताकाओं) से आकाश मञ्जरित हुआ जैसा शोभित होता है ॥६॥

अविरतसंचरदबलाचरणतलालक्तकद्रवारुणितम् ।
स्थलकमलवतीलक्ष्मीं बिभर्ति वसुधातलं यत्र ॥७॥

जहाँ पृथ्वीतल निरन्तर चलती-फिरती हुई अबलाओं के चरण-तलों के आलता के द्रव से अरुणित होकर स्थल कमलों की वनिका की शोभा धारण करता है ॥७॥

यत्र च रमणीभूषणरवबधिरितसकलदिङ्नभोभागे ।
शिष्याणां नाचार्यैरवद्यमवधार्यते पठताम् ॥८॥

और जहाँ रमणियों के गहनों की आवाज से समस्त दिग्भाग और आकाश इस प्रकार भर जाते हैं कि आचार्यजन गलत उच्चारण करते हुए अपने शिष्यों का वारण नहीं कर पाते[2] ॥८॥

दिव्यधराधरभूरिव या राजति मत्तवारणोपेता ।
बहुलनिशीथवतीव प्रोज्ज्वलधिष्ण्योपशोभिता या च ॥९॥

जो नगरी विन्ध्य पर्वत की वन-भूमि के समान शोभित है, विन्ध्याचल की वन-भूमि मतवाले हाथियों (मत्तवारणों) से भरी है और यह मत्तवारणों अर्थात्

१-शिव जी की देह चन्द्र से विभूषित है, वेश्यायें 'चन्द्र' नाम के अलंकार से विभूषित देह वाली हैं; शिव भूति अर्थात् भस्म रमाते हैं, वेश्यायें भूति अर्थात् ऐश्वर्य में रत रहा करती हैं; शिव के शरीर में भुजंगों (सर्पों) का परिवार पड़ा रहता है, वेश्या के यहाँ भुजङ्गों (विटों) का जमघट रहता है।

२-इस प्रसङ्ग में 'वामन पुराण' अध्याय तीन के वाराणसी-वर्णन की शब्द-अर्थ और अलङ्कारों की दृष्टि से समता देख कर आश्चर्य होता है। सम्भव है कुट्टनीमत के रचयिता ने सिर्फ छन्द में परिवर्तन करके उसी प्रसंग को ले लिया है। उदाहरण के लिए यह श्लोक पर्याप्त होगा–

विलासिनीनां रशनास्वनेन, श्रुतिस्वरो ब्राह्मण पुङ्गवानाम् ।
शुचिस्वरत्वं गुरवो निशम्य हास्यान्विताः सन्ति मुहुर्मुहुस्ताः ॥३१॥

(इस सूचना के लिए मैं अपने बहुश्रुत मित्र श्री राम शंकर भट्टाचार्य का अनुगृहीत हूँ।)

छज्जों से युक्त है तथा जो कृष्ण-पक्ष की रात्रि के समान शोभित है, रात्रि चमचमाते हुए नक्षत्रों से और यह दीप्यमान भवनों से जगर मगर कर रहा है ॥६॥

यतिगणगुणसमुपेता या नित्यं छन्दसामिव प्रचितिः ।
वनपंक्तिरिव सशाला तुरुष्कसेनेव बहुलगन्धर्वा ॥१०॥

जो नगरी छन्दों की प्रचिति (छन्दःशास्त्र) के समान है, छन्दों की प्रचिति यतियों (पाद विच्छेद के लयानुकूल स्थलों), गणों (जगण-मगण आदि गणों) के (समुचित स्थानों में उपयोग आदि) गुणों से युक्त है और यह यति-गणों (सन्त-महात्माओं आदि) के गुणों (शान्ति आदि गुणों) से युक्त है। जो नगरी वनपंक्ति के समान है, वनपंक्ति शाल नामक वृक्षों से युक्त है और यह शालाओं (भवनों) से युक्त है, एवं तुरुष्कों अर्थात् तुर्कों की सेना के समान है, तुरुष्क-सेना में बहुत से गन्धर्व अर्थात् घोड़े होते हैं और यहां गन्धर्व अर्थात् गायक जनों का बाहुल्य है ॥१०॥

तारागणोऽकुलीनः प्रियदोषा यत्र कौशिकाः सततम् ।
गद्ये वृत्तच्यवनं परगृहरोधस्तथाऽक्षेषु ॥११॥

जहां (सब लोग कुलीन अर्थात् खानदानी हैं) केवल तारागण अकुलीन (कु=पृथ्वी, पृथ्वी में लीन या स्थित नहीं) है। जहां (कोई दोषों=बुराइयों में प्रेम करने वाला नहीं है) केवल उलूक पक्षी (कौशिक) दोषा (रात्रि) के सतत् प्रेमी हैं। (जहां कोई व्यक्ति वृत्त अर्थात् सदाचार का भङ्ग नहीं करता) केवल गद्य में वृत्त(=छन्द) का भंग होता है। तथा जहां दूसरों के घर पर कोई रोध या रोक नहीं लगता; केवल अक्ष क्रीड़ाओं (पासा फेंक कर जुआ के खेलों) में दूसरों के गृह अर्थात् घरों, खाने का रोध होता है ॥११॥

शूलभृतो व्यालस्थाः पदवेदिषु यत्र धातुवादित्वम् ।
सुरतेष्वबलाक्रमणं दानच्छेदो मदच्युतौ करिणाम् ॥१२॥

ध्यानी लोग जहां शूल (त्रिशूल) धारण करते हैं (न कि कोई शूल रोग धारण करता है)। जहां केवल वैयाकरण लोग भू आदि धातुओं के सम्बन्ध में विवाद करते हैं (कोई भी वहां स्वर्ण—आदि धातुओं के सम्बन्ध में वाद-विवाद नहीं करता)। जहां केवल सुरत के प्रसङ्गों में अबलाएँ आक्रान्त होती हैं (न कि कोई बल के अभिमान में अबलों-निर्बलों पर आक्रमण करता है)। जहां मद के उतर जाने पर केवल हाथियों के दान (मदजल) का भङ्ग होता है (न कि कोई दान-कार्य को भंग करता है) ॥१२॥

तीव्रकरत्वं भानोरविवेको यत्र मित्रहृदयानाम् ।
योगिषु दण्डग्रहणं संधिच्छेदः प्रगृह्येषु ॥१३॥

जहां केवल सूर्य के कर (किरणें) तीव्र (तीखे) होते हैं (न कि राजा के कर=देय भाग तीव्र अर्थात् ज्यादा होते हैं)। केवल मित्रजनों के हृदयों के सम्बन्ध में विवेक (किसी प्रकार का भेदभाव) नहीं है (पर लोगों में विवेक या विचार है)। जहां केवल योगी लोग दण्ड ग्रहण (यष्टिधारण) करते हैं (न कि निरपराध प्रजाजन कोई दण्ड प्राप्त करते हैं)। जहां केवल प्रगृह्यों (संस्कृत व्याकरण के प्रगृह्य संज्ञा वाले शब्दों) में सन्धि (यण् आदि सन्धि) का भंग होता है (न चोरों द्वारा सन्धिच्छेद अर्थात् घरों में सेंध का मारना होता है, न लोगों में मैत्री का भंग होता है) ॥१३॥

छन्दःप्रस्तारविधौ गुरवो यस्यामनार्जवस्थितयः ।
वीणायां परिवादो द्विजनिलयेष्वप्रसन्नत्वम् ॥१४॥

छन्दों की प्रस्तार विधि (लघु, गुरु वर्णों के जानने में निमित्त बनाए गए विधान) में केवल गुरु (गुरु वर्ण) जहां अनार्जव ऋजुतारहित, ऽ इस प्रकार की टेढ़ी स्थिति में रहते हैं (परन्तु वहां के निवासी आर्जव-मृदुता-बरतते हैं)। वीणा में ही जहां केवल परिवाद (वीणा बजाने का अंगूठीनुमा तार, मिज़राब) होता है (परन्तु लोगों में परिवाद अर्थात् अपवाद-निन्दा नहीं होता)। जहां केवल ब्राह्मणों के घरों में अप्रसन्नता (अर्थात् प्रसन्न=मदिरा का अभाव) रहती है (न कि किसी में अप्रसन्नता दिखाई देती है) ॥१४॥

अनुरूपवृत्तघटना सत्कविकृतरूपकेषु लोके च ।
रमणीवचने यस्यां माधुर्य्यं काव्यबन्धे च ॥१५॥

जहां सत्कवियों द्वारा रचित रूपकों (दृश्यकाव्यों) में अनुरूप वृत्तों की घटना अर्थात् अनुकार्य के चरित्रों के अनुरूप अभिनय होता है और लोगों में अनुरूप वृत्त घटना अर्थात् एक रूप व्यवहार होता है। और जहां माधुर्य (मिठास, अथवा माधुर्य नामक गुण) रमणियों के वचन में और काव्य में होता है ॥१५॥

यस्यामुपवनवीथ्यां तमालपत्राणि युवतिवदने च ।
नखरप्रहाररणितं तंत्रीवाद्येषु सुरतकलहेषु ॥१६॥

जहाँ तमालपत्र (सतौनें के पत्ते अथवा मकरिका के तिलक चित्र) उपवन की वीथि में और युवतियों के मुख में रहते हैं। नखों के प्रहार की आवाज वीणा आदि तन्त्री वाद्य और सुरत के कलह दोनों में होती है ॥१६॥

नन्दनवनाभिरामा विबुधवती नाकवाहिनीजुष्टा ।
अमरावतीव यान्या विश्वसृजा निर्मिता जगति ॥१७॥

इन्द्र की नगरी अमरावती जिस प्रकार नन्दन वन से अभिराम, विबुधों (देवताओं) से अध्युषित, नाकवाहिनी (देवीसेना) से सेवित है उसी प्रकार जो नगरी आनन्दप्रद वनों से अभिराम, विबुधों (विद्वानों) से अध्युषित, नाकवाहिनी (स्वर्ग की नदी गङ्गा) से सेवित होने से विधाता के द्वारा संसार में मानों दूसरी अमरावती बना दी गई है ॥१७॥

समुवास वाररामा मानसवसतेः शरीरिणी शक्तिः ।
निःशेषवेशयोषिद्विभूषणं मालती नाम ॥२०॥

उस वाराणसी में मनसिज की शरीर धारिणी शक्ति रूप में समस्त वेश्याओं में भूषण सी मालती-नाम की एक वाराङ्गना[1] निवास करती थी ॥२०।

तस्यां खगपतितनुरिव विलासिनी हृदयशोकसंजननी ।
आकृष्टेश्वरहृदया प्रालेयनगाधिराजतनयेव ॥१८॥

जिस प्रकार गरुड़ की देह को देख कर विलासियों (विल में निवास करने वालों अर्थात् सर्पों) के हृदय में शोक उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार उसे देख-कर विलासी जनों (कामुकों) का हृदय शोक-सन्तप्त हो जाता है । जिस प्रकार, हिमालय की पुत्री पार्वती ने ईश्वर (शिव जी) के हृदय को आकृष्ट कर लिया था उसी प्रकार उसने भी ईश्वरों (धनेश्वरों) के हृदय आकृष्ट कर लिये थे ॥१८॥

संसक्तभोगिनेत्रा मन्दरधरणीभृतो यथा मूर्तिः ।
उपरि गता शूलानामन्धासुरगात्रलेखेव ॥१६॥

(समुद्र के मन्थन के समय जिस प्रकार मन्दराचल भोगी (सर्प, वासुकि नाग) रूप नेत्र (मन्थन की डोर) से संसक्त (बंधा) था, उसी प्रकार भोगी (विलासी) जनों के नेत्र उसके प्रति संसक्त रहते थे । जिस प्रकार अन्धकासुर की गात्र लेखा शूलों (शिव जी के तीन शूलों वाले आयुध) के ऊपर स्थापित थी, उसी प्रकार वह शूलाओं (वेश्याओं) की सिरमौर थी ॥१६॥

१-वार अर्थात् समूह की स्त्री । गणिका, वेश्या, रूपाजीवा आदि शब्द भी उनके पर्यायवाची हैं । इसके अतिरिक्त प्रकाशनारी, वेशयोषित, तड़ित्, जन-पद कल्याणी आदि शब्द भी वेश्या के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । ये सब अभिधान सार्थक हैं । वेश्यायें जिस घर या मुहाल में निवास करती हैं उसे 'वेश' कहते हैं (वेशो वेश्याजनाश्रयः—अमर) 'गणिका' भी गण या समूह वाली स्त्री कहलाती है । 'रूपा-जीवा' अर्थात् रूप के द्वारा जीविका चलाने वाली स्त्री । वेश्या को 'पण्य नारी' अर्थात् बाजारू औ... भी कहते हैं, अर्थात् जो पण्य या विक्रय की वस्तु होती है ।

पेशलवचसां वसतिर्लीलानामाकरः स्थितिः प्रेम्णः ।
भूमिः परिहासानामावसथो वक्रकथितानाम् ॥२१॥

वह थी सुन्दर वचनों की वसति, लीलाओं का आलय, प्रेम की स्थिति, परिहासों[1] की भूमि और वक्रोक्तियों[2] का निवास-स्थान ॥२१॥

सा शुश्राव कदाचिद्धवलालयपृष्ठदेशमधिरूढा ।
केनापि गीयमानां प्रसङ्गपतितामिमामार्याम् ॥२२॥

किसी समय जब वह अपने उज्ज्वल भवन की छत पर बैठी हुई थी तभी उसने किसी के द्वारा अवसर पर गाई जाती हुई प्रसङ्ग प्राप्त इस आर्या को सुना ॥२२॥

'यौवनसौन्दर्यमदं दूरेणापास्य वारवनिताभिः ।
यत्नेन वेदितव्याः कामुकहृदयार्जनोपायाः' ॥२३॥

"अपने यौवन और कमनीयता के मद को दूर ही से तज कर वेश्याओं को कामुकों के हृदय आकर्षित करने के उपाय मालूम करने चाहिएँ।" ॥२३॥

श्रुत्वाथ विपुलजघना मनसि मालती चकार चिरम् ।
अतिसाम्प्रतमुपदिष्टं सुहृदेवानेन साधुना पठता ॥२४॥

विशाल जघनों वाली इस मालती आर्या को सुन कर देर तक मन में यह गुनती रही कि आर्या को पढ़ते हुए इस भले आदमी ने मित्र की तरह ठीक मौक़े पर उपदेश दिया है ॥२४॥

१– हंसी मज़ाक की बातचीत को 'परिहास' कहते हैं। 'आर्या सप्तशती' में गोवर्धन लिखते हैं –

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवचने स एव परिहासः ।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ॥१३॥

अर्थात् दूसरे के मुख से जो 'दुर्वचन' कह जाता है वही अगर प्रिय के मुख से निकले तो 'परिहास' की आख्या ग्रहण करता है।

२–सीधी ढंग से न कह कर घुमा कर कही गई बात को 'वक्रोक्ति' कहते हैं। किसी बात को काव्यात्मक ढंग से कहने की शैली चमत्कार उत्पन्न करती है, अतः इसे काव्य का प्राण कहा है (वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्)। इस शैली को उर्दू में 'अंदाज़ेबयाँ' कहते हैं।

तद्गत्वा पृच्छामो विकरालां कलितसकलसंसाराम्।
यस्याः कामिजनौघो दिवानिशं द्वारमध्यास्ते ॥२५॥

तो संसार के वृत्तान्तों को जानने वाली उस विकराला से जाकर पूछती हूँ, जिसके द्वार पर रात-दिन कामुक जनों की भीड़ लगी रहती है ॥२५॥

इति मनसि सा निवेश्य द्रुततरमवतीर्य वेश्मनः शिखरात्।
विकरालाभवनवरं परिजनपरिवारिता प्रययौ ॥२६॥

इस प्रकार मन में सोच, भवन के शिखर से झट उतर, परिजनों से घिरी वह विकराला के घर गई ॥२६॥

अथ विरलोन्नतदशनां निम्नहनुं स्थूलचिपिटनासाग्राम्।
उल्वणचूचुकलक्षितशुष्ककुचस्थानशिथिलकृत्तितनुम् ॥२७॥

मालती ने आसन्दी (गद्देदार आसन) पर बैठी हुई विकराला को देखा। उसके दाँत प्रायः गिर गए थे और आगे के बचे हुए दांत मुंह से बाहर निकल आए थे, ठुड्ढी झुकी हुई थी, नाक का अग्र भाग मोटा और चिपका हुआ था, बड़े बड़े चूचुकों से उसके सूखे हुए स्तनों का पता लगता था, जिनके स्थान का चर्म झूल रहा था ॥२७॥

गम्भीरारक्तदृशं निर्भूषणलम्बकर्णपालीं च।
कतिपयपाण्डुरचिकुरां प्रकटशिरासन्ततायतग्रीवाम् ॥२८॥

उसकी आंखें भीतर धंसी हुई और लाल-लाल थीं। उसके कानों की ललकी भूषणहीन और लम्बी थी। कतिपय केश पक गए थे। ग्रीवा साफ़ दिखाई पड़ती नसों से भरी और अधिक फैली हुई थी ॥२८॥

सितधौतवसनयुगलां विविधौषधिमणिसनाथगलसूत्राम्।
तन्वीमंगुलिमूले तपनीयमयीं च बालिकां दधतीम् ॥२९॥

उसके दोनों वस्त्र उज्ज्वल और धुले हुए थे। उसने अनेक प्रकार की औषधियों और मणियों से बना गल सूत्र ताबीज के रूप में डाल रखा था तथा वह अंङ्गुलिमूल में सोने की बनी पतली मुंदरी पहने थी[1] ॥२९॥

१-आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी 'समयमातृका' से ठीक इससे मिलता-जुलता कुट्टनी का चित्र खींचा है—

अस्थियन्त्रशिसतन्त्री लीनान्त्रोदरकृत्तिका।
शुष्ककार्येयकरङ्काङ्कातेव कटपूतना ॥

गणिकागणपरिकरितां कामिजनोपायनप्रसक्तदृशम् ।
आसन्द्यामासीनां विलोकयामास विकरालाम् ॥३०॥

वह गणिकाओं से घिरी थी । उसकी आंखें कामुकजनों द्वारा अर्पित उपहारों में लगी हुई थीं ॥३०॥

अवलोक्य सा विधाय क्षितिमंडललीनमौलिना प्रणतिम् ।
परिपृष्टकुशलवार्ता समनुज्ञातासनं भेजे ॥३१॥

मालती ने विकराला को ज़मीन पर सिर रख कर प्रणाम किया । विकराला ने कुशलक्षेम पूछा । फिर मालती ने विकराला की आज्ञा से आसन ग्रहण किया ॥३१॥

अथ विरचितहस्तपुटा सप्रश्रयमासनं समुत्सृज्य ।
इदमूचे विकरालामवसरमासाद्य मालती वचनम् ॥३२॥

तब मालती अवसर पाकर अपने आसन को छोड़, हाथ जोड़, विनयपूर्वक विकराला से बोली ॥३२॥

विदधासि हरिमकौस्तुभमहरिं हरिमगजनाथममरेन्द्रम् ।
अद्रविणं द्रविणपतिं नियतं मतिगोचरे पतितम् ॥३३॥

निश्चय ही तुम्हारे बुद्धिजाल में आकर पड़े हरि अपने कौस्तुभ रत्न को, सूर्य अपने रथ के घोड़ों को, इन्द्र अपने ऐरावत को और कुबेर अपने धन को हार बैठते हैं ॥३३॥

अयमेव बुद्धिविभवं हृतविभवस्ते पटच्चरावरणः ।
कामुकलोकः कथयति सत्रागारेषु भुंजानः ॥३४॥

यही कामुक जन अपने विभव के (तुम्हारे द्वारा) हर लिए जाने से फटे-

---

वहन्ती सुबहुच्छिद्रं शरीरं चर्मबन्धनम् ।
अन्तर्गतजगद्व्याजशिक्षाशकुनिपञ्जरम् ॥
सुस्पष्टदृष्टदीर्घोग्रदशना भीषणाकृतिः ।
प्रसवक्रूरकोपेन संस्थितास्थिरता शुनी ॥
उलूकवदना काकग्रीवा मार्जारलोचना ।
निर्मिता प्राणिनामङ्गैरिव नित्यविरोधिनाम् ॥
(चतुर्थ समय)

पुराने वस्त्र से तन ढंक कर अन्न के क्षेत्रों (सत्रागारों)[1] में भोजन करते हुए तुम्हारे बुद्धिविभव की प्रशंसा करते हैं ॥३४॥

उपसंहृतान्यकर्मा धनवर्मा नर्मदांघ्रियुगलस्य ।
सकलसमर्पितसंपद्यदुपेतः पादपीठत्वम् ॥३५॥

जो कि धनवर्मा अपने काम-काज छोड़ एवं घर की सारी सम्पत्ति को अर्पित कर नर्मदा (नाम की गणिका) के दोनों चरणों का 'पादपीठ[2] बन चुका है ॥३५॥

यदुपगतो नयदत्तः सागरदत्तस्य मध्यमः पुत्रः ।
प्रीणाति मदनसेनां विधाय पितृमन्दिरं रिक्तम् ॥३६॥

जो कि सागरदत्त का मझला लड़का नयदत्त पिता का घर सूना करके मदनसेना का खुशामद करता है ॥३६॥ ;

यल्लीलार्पितचरणौ मंजर्या भट्टपुत्रनरसिंहः ।
परितोषं व्रजति परं मृदु मृदून्पाणियुगलेन ॥३७॥

जो कि भट्ट का पुत्र नरसिंह मञ्जरी के लीला से अर्पित चरणों को अपने हाथों से धीरे-धीरे सहलाता हुआ परितोष का अनुभव करता है ॥३७॥

यन्निःशेषितविभवो दीक्षितभवदेवपुत्रशुभदेवः ।
निर्भर्त्सितोऽपि नोज्झति केशवसेनागृहद्वारम् ॥३८॥

जो कि भवदेव दीक्षित का लड़का शुभदेव अपना धन दौलत फूंक कर दुत्कारे जाने पर भी केसरसेना का दरवाजा नहीं छोड़ता ॥३८॥

अन्या अपि कामिजनं साधारणयोषितो यदाक्रम्य ।
विदधति कर्पटशेषं विलसितमेतत्तवोपदेशानाम् ३९॥

जो कि बाजारू औरतें भी कामुकजनों को फांसकर उन्हें कर्पटशेष (सिर्फ तन ढंकने का कपड़ा भर शरीर पर बचा हुआ) कर डालती हैं यह सब तुम्हारे उपदेशों का ही चमत्कार है ॥३९॥

१-सत्रागार-मुफ़्त भोजन मिलने का क्षेत्र, पकान्नदानशाला । आजकल इस प्रकार के दान के लिए 'सदावर्त' प्रचलित है । वाराणसी ऐसे क्षेत्रों के लिए प्रसिद्ध है ।

२-पादपीठ-एक प्रकार की चौकीनुमा गुलगुल मचिया । यह पलंग के नीचे रखी जाती थी । कामुक अपनी सारी सम्पत्ति गणिका को समर्पित करके उसका पादपीठ बन चुका है । अर्थात् पलंग पर अब उसके साथ बैठने के क़ाबिल नहीं रहा, बल्कि वह पादपीठ के स्थान पर पड़ा रहता है ।

हीनान्वयजन्मानो गुणहीना रोगिणो निराकृतयः ।
उपसेविता मयापि प्रकटीकृतरागसौष्ठवं पुरुषाः ॥४०॥

मैंने भी नीच कुल में जनमे, गुणहीन, रोगी और बदसूरत पुरुषों की सेवा प्रेम का दिखावा करके की है ॥४०॥

मातः किं विदधामो हतधातुर्वामताभियोगेन ।
नासादयाम इष्टं निजतनुपण्यप्रसारकेणापि ॥४१॥

हे माता, क्या करें, मुये विधाता की ऐसी उल्टी चाल है कि अपनी देह को बाजार में (बिक्री के लिए) सजाने पर भी हमें इष्ट का लाभ नहीं होता ॥४१॥

तत्कुरु मातरनुग्रहममिधत्स्व ममापि देहिनो भोग्यान् ।
तेषां च वेशचेष्टितमनसिजशरजालपातनोपायान् ॥४२॥

तो हे माता, मुझ पर अनुग्रह करो, मेरे भी योग्य पुरुषों को तथा उनके वेश और आचरण एवं कामदेव के बाणों के जाल में उन्हें गिराने के उपाय बताओ ॥४२॥

इति गिरसुदीरयन्तीं सप्रेमामृश्य पाणिना पृष्ठे ।
रुचिरवचो विकराला रुचिराकृतिमालतीमूचे ॥४३॥

तब विकराला मनोहर आकृति वाली मालती से प्रेमपूर्वक उसकी पीठ सहला करके बोली ॥४३॥

अयमेव दह्यमानस्मरनिर्गतधूमवर्तिकाकारः ।
चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजनं किंकरीकुरुते ॥४४॥

"सुन्दरी, जलते हुए कामदेव के शरीर से निकली हुई धूमलेखा की आकार वाला तेरा यही केशभार कामुकजन को अपना दास बना लेता है ॥४४॥

अयमेव ते कृशोदरि मन्दोल्लसितभ्रुविभ्रमाधारः ।
अधरीकरोति धीरान्मधुरस्मितसुभगवीक्षितविशेषः ॥४५॥

हे क्षीण उदर वाली, हे कुछ उल्लसित भौंहों वाली, शृङ्गार चेष्टाओं से भरी, मीठी मुस्कान के साथ एक खास ढंग की तेरी मोहक चितवन धीर-जनों को भी झुका देती है ॥४५॥

इयमेव दशनकांती रतिकान्ताकूतमतितरां कुरुते ।
श्रुतिपथमप्युपयाता नियतं तव कामिनां मनसि ॥४६॥

यही तेरे मुख की कान्ति की कथा श्रवण करके कामुकजन मदनाकुल हो जाते हैं (देखने के बाद की स्थिति क्या होगी, पता नहीं) ॥४६॥

इयमेव दशनपंक्ती रुचिराचिरकान्तिधाम समकांतिः ।
उत्पादयति नितान्तं तव मन्मथदाहवेदनां पुंसाम् ॥४७॥

सुन्दर बिजली की लड़ी के समान कान्ति वाली यही तेरी दन्तपंक्ति पुरुषों की कामजनित दाहवेदना को अधिक-अधिक उत्पन्न करती है ॥४७॥

इदमेव समुल्लपितं लीलावति विजितपरभृतध्वनितम् ।
तव निःशेषभुजंगव्याकर्षणसिद्धमंत्र उच्चरितः ॥४८॥

हे लीलाओं वाली, कोकिल के स्वर को पराजित कर देने वाली यही तेरी आवाज़ समस्त भुजङ्गों (सर्पों, श्लेष से विटजनों) को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उच्चरित सिद्ध मंत्र है[1] ॥४८॥

इदमेव मकरकेतननिकेतनं स्तनयुगं तवाभोगि ।
भोगवति भोगसाधनमपरोपायग्रहा व्यर्थः ॥४९॥

हे विलासशीले, कामदेव का निवासभूत यही तेरा विशाल स्तनयुगल सुखों का साधन है, अब दूसरे उपायों को ग्रहण करना व्यर्थ है ॥४६॥

इदमेव बाहुयुगलं मृणालतनुसुन्दरं तवाभोगि ।
कस्य न जनयति मदनं कनकाङ्गदभूषणं सुतनु ॥५०॥

हे श्रेष्ठ जांघों वाली, हे सतनु, कमलनाल की भांति कोमल, वलयधारी यही तेरा बाहुयुगल किसके काम को उत्पन्न नहीं करता ? ॥५०॥

अयमेव मध्यदेशः कन्दर्पादेशकरणचतुरस्ते ।
प्रकृशोऽपि शरीरवतो दशमीं प्रापयति मन्मथावस्थाम् ॥५१॥

कामदेव की आज्ञा के पालन में चतुर यही तेरा कटिभाग अधिक क्षीण होकर भी शरीरधारी को काम की दशम अवस्था (अर्थात् मृत्यु) तक पहुँचा देता है ॥५१॥

१–अर्थात् जिस प्रकार आहितुण्डिक या सपेरा मन्त्रोच्चारण के द्वारा सर्पों को आकृष्ट कर लेता है उसी प्रकार यह तेरी आवाज़ विटजनों को आकृष्ट कर लेती है ।

इयमेव रोमराजिः संकल्पजचापयष्टिगुणशोभाम् ।
दधती विदधाति तव स्मरसायकशल्यविक्लवान्यूनः ॥५२॥

कामदेव की चापयष्टि के गुण (डोरी) की शोभा धारण करती हुई यही तेरी रोमपंक्ति जवानों को कामदेव के बाणों से व्याकुल कर डालती है ॥५२॥।

इदमेव च पृथुजघनं कलधौतशिलातलाभिरमणीयम् ।
तव तरुणि वशीकरणं यतिसंयतिनाशकारि करभोरु ॥५३॥

हे करभ (हाथ का कनीनिका की ओर का हथेली का किनारा या सूंड़) के समान ऊरु वाली, सुवर्ण के शिलातल की भांति रमणीय एवं विशाल यही तेरा जघन जवानों का वशीकरण और यतिजनों के संयम को भंग करने वाला है ॥५३॥

इदमेव तवोरुयुगं रम्भास्तम्भोपमं मनोहारि ।
वद सुन्दरि नाभिमतं मदनज्वरशान्तये कस्य ॥५४॥

हे सुन्दरी, तू ही कह केले के खम्भे-जैसा, मन को हर लेने वाला यह तेरा ऊरुयुगल कामज्वर के ताप के शमनार्थ किसे अभीष्ट नहीं है ? ॥५४॥

यौवनकल्पतरोस्ते कनकलताविभ्रमं सुवृत्तमिदम् ।
जंघायुगलं नेच्छति कामफलप्राप्तये क इह ॥५५॥

तेरे यौवनरूपी कल्पवृक्ष की कनकलता रूप यह फैले हुए तेरे जंघायुगल को यहाँ काम रूप फल की प्राप्ति के लिए कौन नहीं चाहता ? ॥५५॥

निर्जितदाडिमरागं विजितस्थलकमलिनीविलासमिदम् ।
तव चरणसरोजयुगं कस्य न मानसमलंकुरुते ॥५६॥

हे तरुणी, दाडिम की लाली को जीत लेने वाला एवं स्थलकमलिनी के विलास को पराजित कर देने वाला यह तेरा चरणयुगल किसके मन को अलंकृत नहीं करता ? (अर्थात् सब तेरे चरणों को अपने मन में धारण करते हैं, नित्य स्मरण करते हैं) ॥५६॥

२–५३ से ५५ तक के तीन पद्यों में जघन, ऊरुयुग और जंघा द्वय का वर्णन है। 'जघन' स्त्री का काञ्चीपद (करधनी पहनने का स्थान) होता है, अर्थात् जो कटि या कमर नीचे पुरोवर्ती प्रदेश है वह 'जघन' कहलाता है। 'ऊरु' पैर के मोड़ वाले स्थान के ऊपर का भाग है और उससे नीचे का गुल्फ पर्यन्त भाग जंघा कहलाता है।

ह्लेपयति वारणेन्द्रं हंसं हसति प्रयातमिदमेव ।
तव लीलावति ललितं यूनां हृदयानि मथ्नाति ॥५७॥

हे लीलाओं वाली, यही तेरा गमन ऐरावत को लज्जित करता है, हंस की खिल्ली उड़ाता है और जवानों के हृदय को मथ डालता है ॥५७॥

तदपि यदि ते कुतूहलमवधानं संविधाय तनुमध्ये ।
आकर्णय कथयामि स्वबुद्धिविभवानुसारेण ॥५८॥

हे क्षीण कटिभाग वाली, तथापि यदि तुझे कुतूहल है तो ध्यान देकर सुन, मैं अपनी बुद्धि के विभव के अनुसार कहती हूँ ॥५८॥

स्वीकुरु तावत्प्रथमं नृपसेवकभट्टसूनुमतियत्नात् ।
स्वाधीनामतिविपुलां यदि सम्पदमीहसे सुतनु ॥५९॥

हे सुतनु, यदि तू अतुल धन-सम्पदा को हस्तगत करना चाहती है तो पहले राजकर्मचारी भट्ट के लड़के को कोशिश करके अपना ले ॥५९॥

प्रत्यासन्नग्रामे स्वयं प्रभुः पितरि नित्यकटकस्थे ।
भट्टसुतश्चिन्तामणिराकृष्टो भवति नियमेन ॥६०॥

(उसका) पिता भट्ट हमेशा राजा की छावनी में रहा करता है और वह नज़दीक के गाँव में खुद मालिक बन गया है, (इसलिए) बेटी, भट्ट पुत्र रूपी चिन्तामणि निश्चय ही खिंच आयेगा[1] ॥६० ।

शृणु तस्य चारुहासिनि वेषग्रहणं च चेष्टितं चैव ।
निपतति स यथा तूर्णं प्रियसुरभिकुसुमशरासनप्रसरे ॥६१॥

हे सुन्दर हंसने वाली, जिससे कि वह भट्टपुत्र शीघ्र ही वसन्त के सखा कामदेव के धनुष के झोंके में आ गिरेगा, उसके वेष और आचरण कहती हूँ, सुन ॥६१॥

स्थूलस्थापितचूलकपंचांगुलमात्रकेशविन्यासः ।
लम्बश्रवणनिवेशितकरपत्रकघटितदन्तपंक्तिश्च ॥६३॥

उसने अपने सिर की चोटी को मोटी और लम्बी करके रखा है, उसके बाल परिमाण में पांच उंगली भरके हैं और अपने लम्बे कानों पर कर-पत्र

१-विकराला का तात्पर्य है कि भट्टपुत्र को हासिल करना उस चिन्तामणि को पाना है जिससे सारी इच्छायें पूरी हो जाती हैं । अथवा 'चिन्तामणि' भट्टपुत्र का नाम है ।

जैसे (आरीनुमा) बने हुए दांतों वाला 'पंक्ति' नाम का अलङ्कार लगाए रहता है ॥६२॥

करशाखार्पितमुद्रिकचामीकरकण्ठसूत्रिकाभरणः ।
परिमृष्टगात्रकुंकुमकिंचित्पिंजरितसर्वाङ्गः ॥६३॥

हांथ की उंगलियों में अंगूठी और कंठ में सुवर्णसूत्रिका रखता है अंगों में कुंकुम के उबटन लगे होने के कारण उसके सारे अंग कुछ-कुछ पिञ्जरित (रक्तपीत) रहते हैं ॥६३॥

प्रविलम्बिकुसुमदामकगलमण्डनजानरूपकृतशोभः ।
अन्तर्निविष्टसिक्थकतौरुष्किकखुम्भिकादिचरणत्रः ॥६४॥

पुष्पों की माला उसके गले में लटकती रहती है एवं सुवर्ण के गहने से शोभित रहता है। उसके उपानह के भीतर मोम और तुरुष्क देशकी बनी नाल[1] आदि वस्तुएँ है ॥६४॥

नानावर्णविवेष्टितबहलदशापाशबद्धततकेशः ।
एकस्मिन्दलवीटकमपरस्मिन्सीसपत्रकं कर्णे ॥६५॥

रंग-बिरंगे सूत्रों को बट कर बनाये गये बंधन से उसने अपने बालों को बांध रखा है। उसके एक कान पर 'दलवीटक' और दूसरे कान पर 'सीसपत्रक' नाम के अलङ्कार हैं[2] ॥६५॥

उच्चण्डकनकगर्भितकुंकुमपिंजरितवस्तिपरिधानः ।
स्थूलतरकाचवर्तकमालां च गले दधानेन ॥६६॥

उसका कपड़े का पहनावा चमकदार सुनहला और कुंकुम के कारण पिञ्जरित (लाल-पीला) रहता है। उसके पीछे-पीछे उसका नई उम्र वाला ताम्बूल करङ्क-वाहक (पानदान ले चलने वाला पुरुष) अपने गले में मोटी शीशे की कौड़ियों की माला धारण किये हुए रहता है ॥६६॥

१-अथवा 'तुरुष्क' अर्थात् 'शिल्हक' नाम से प्रसिद्ध शिलारस, उसके द्वारा निर्मित लेपनद्रव्य 'तौरुष्किक' है, अथवा 'महाव्युत्पत्ति' के अनुसार धूम विशेष जिससे बना हुआ लेपन द्रव्य यहाँ 'तौरुष्किक' पद से अभिप्रेत है।

२-ये दोनों कर्णाभरण अब अप्रसिद्ध हो चुके हैं। सम्भवतः 'दलवीटक' पान के बीड़े जैसा और सीसपत्रक किसी वृक्ष के पत्ते जैसा अलङ्कार हो। निश्चय ही ये दोनों अलङ्कारों के देशी नाम हैं।

वृश्चिकरंजितकररुहकरमूलनिबद्धशंखचक्रेण ।

प्रथमवयस्त्वं भजता ताम्बूलकरंकवाहिनानुगतः ॥६७॥

उसके नख मेंहदी[1] (वृश्चिक) लगाने से लाल रहते हैं और वह अपने बाहुमूल में शङ्ख-चक्र बांधे रहता है ॥६७॥

श्रेष्ठिवणिग्विटकितवप्रधानरङ्गस्य सुमहतो मध्ये ।

शूलापालस्थापितकतिपयवध्रोरुपीठिकासीनः ॥६८॥

मुख्य रूप से सेठों, बनियों, विटों और धूर्तों की बड़ी महफिल के बीच में वेश्याध्यक्ष (शूलापाल) द्वारा लाकर रखे हुए मोटे-मोटे गद्दे पर वह भट्ट का पुत्र बैठता है[2] ॥६८॥

उत्संगार्पितखड्गैरयथातथभाषिभिर्मदौद्धत्यम् ।

बिभ्राणैरनुजीविभिरधिष्ठितः पंचषैः पुरुषैः ॥६९॥

उसके पास पांच छ आदमी अपनी कमर में तलवार खोंसे, व्यर्थ की बकवास करते एवं अभिमान में चूर खड़े रहते हैं ॥६९॥

१–तनसुखराम ने इसे कुरवक माना है। कोश-प्रमाण के अभाव में सिर्फ रक्त वर्ण होने से कुरवक को 'वृश्चिक' मानना चिन्त्य है। रक्त पुनर्नवा से भी इसकी पहचान उसी प्रकार है। मेंहदी के अर्थ में वृश्चिक का यह प्रयोग अर्थ के सङ्गत होने पर भी निःसंदिग्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मेंहदी का प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः मेंहदी मुसलमानी युग में भारत में आया विदेशी पौधा है।

२–यहाँ से कामुक की महफिल का एक चित्रण आरम्भ है। इसमें उपस्थित होने वाले दो प्रकार के लोग हैं, एक तो व्यापारी, जैसे सेठ, बनिये और दूसरे वेश्यागृहों के आश्रित रहने वाले, जैसे विट, कितव आदि। दोनों का अभिप्राय कामुक को पोट-फुसला कर धन ऐंठ लेना है। भट्टपुत्र के वर्णन से कह सकते हैं कि यह प्राचीन काल के वेश्यागामी रसिकजनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस आर्या के 'शूलापाल' शब्द का अर्थ तनसुखराम के अनुसार 'वेश्याध्यक्ष' है। इसका आगे भी इसी ग्रन्थ में उल्लेख है, किन्तु बंग टीकाकार श्री त्रिदिवनाथ राय ने इसे 'रङ्गशालाध्यक्ष' कहा है। मेरी समझ में यह व्यक्ति मुजरे की तैयारी में अपनी ओर से सजावट-बनावट करने वाला है, जो ठीके पर सब वेश्यालयों में पहुँच कर सब को सब तरह की भोग सामग्री प्रस्तुत करने का काम करता है।

चतुरतरसेवकार्पितपृष्ठपरिक्षिप्तपूर्वदेहांशः ।
अन्तर्धृततताम्बूलश्वोच्छूनकपोलकलितकरपर्णः ॥७०॥

वह चालाक नौकर के दिये हुए तकिए पर आधे शरीर को ढाले रहता है। मुख के भीतर ताम्बूल रखने से उसके कपोल अधिक फूल जाते हैं, फिर वह अपने हाथ मल लेता है ॥७०॥

अनपेक्षितप्रसङ्गः पुनः पुनः पठति सोन्नतभ्रूकः ।
गाथां श्लोकप्रायां भावितचेता यथातथाधीताम् ॥७१॥

प्रसंग का खयाल न करके आनन्दमग्न हो, भौंहे उठाकर, जैसे-तैसे अधीत गाथा-छन्द के श्लोकों को बार-बार पढ़ता है ॥७१॥ Leh

विस्मयलोलितमौलिः पार्श्वगतांस्ताडयन्नसावेगात् ।
हा कट्ठु साध्विति वादैरन्तरयति परसुभाषितश्रवणम् ॥७२॥

आश्चर्य से सिर हिलाता है, बगल वालों को रसावेग के कारण ठोंक देता है और 'हा' 'कट्ठु' 'साधु' आदि वचनों से सुभाषित श्रवण करते हुए दूसरों को विघ्न पहुँचाता है ॥७२॥

इदमुक्तो रहसि रुषा तातेन नृपो नृपेण तातोऽपि ।
इति पितुराविष्कुरुते महीभृतः प्रणयविश्वासौ ॥७३॥

पिता जी ने एकान्त में राजा से यह कहा और राजा ने भी पिता जी से कहा' इस प्रकार अपने पिता और राजा के प्रति परस्पर प्रेम और विश्वास प्रकट करता है ॥७३॥

पत्रच्छेदमजानञ्जानन्वा कौशलं कलाविषये ।
प्रकटयति जनसमाजे बिभ्राणः पत्रकर्तरीं सततम् ॥७४॥

पत्ते काट कर चित्रकारी करने की कला (पत्रच्छेद) को जानता अथवा न जानता हुआ वह अपने हाथ में हमेशा पत्ते काटने की कैंची लिए हुए यह लोगों में प्रकट करता है कि वह कला के विषय में कुशलता रखता है ॥७४॥ Pam

ब्रह्मोक्तनाटयशास्त्रे गीते मुरजादिवादने चैव ।
अभिभवति नारदादीन्प्रावीण्यं भट्टपुत्रस्य ॥७५॥

भट्टपुत्र का कौशल ब्रह्मा के द्वारा[1] कहे गए नाट्य-शास्त्र में, गान में एवं मृदंग आदि वाद्यों के बजाने में नारद आदि गान्धर्व शास्त्र के रचयिताओं को अभिभूत करता है ॥७५॥

वसुनन्दचित्रदण्डकमुक्तायुधखड्गधेनुबन्धेषु ।
व्रजति पुरतोऽस्य नित्यं भार्गवतां परशुरामोऽपि ॥७६॥

वसु,[2] नन्द, चित्र, दण्डक (आदि कुश्ती के दाव-पेंचों में तथा) चक्र आदि मुक्तायुध और तलवार, छूरी आदि (अमुक्तायुध) के प्रयोगों में इसके सामने निश्चय ही परशुराम अपने भार्गवत्व (भृगुवंश में उत्पन्न होने का अभिमान) छोड़ देते हैं ॥७६॥

वात्स्यायनमयमबुधं वाह्यं दूरेण दत्तकाचार्यम् ।
गणयति मन्मथतंत्रे पशुतुल्यं राजपुत्रं च ॥७७॥

यह कामशास्त्र में वात्स्यायन को अपण्डित, दत्तक आदि आचार्यों[3]

१—यद्यपि नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं तथापि मूल रूप में वह शास्त्र ब्रह्मा जी से ही भरत को प्राप्त हुआ, जैसा कि स्वयं नाट्य शास्त्र में भरत ने कहा है—

'नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।'

२—परिक्रम मण्डल अर्थात् द्वन्द्व युद्ध के पैंतरे के अर्थ में वसु आदि का उल्लेख करते हुए तनसुखराम ने कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया है। इनका चारी-भेद के अर्थ में भी उल्लेख प्रमाणित नहीं है।

३—वात्स्यायन (मल्लनाग) कामशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं, दत्तक (दत्तिल ?) कामशास्त्र के वैशिक अधिकरण के कर्त्ता माने जाते हैं और राजपुत्र कोई प्राचीन कामशास्त्रकार थे।

७७ वें और ७८ वें श्लोक के बीच एक और श्लोक दो अन्य पाण्डुलिपियों में प्राप्त होता है—

"यः प्रार्थितोऽपि यत्नात्कवचो राधा सुतोददातिस्म ।
अविचिन्तित वसुवर्षस्त्याग गुणं हसति तस्यायम् ॥"

इसका अर्थ यह है—

राधा के पुत्र जिस कर्ण ने यत्नपूर्वक प्रार्थना करने पर अपना कवच दान में दे दिया, बिना सोचे-बिचारे धन की वर्षा करने वाला यह भट्टपुत्र उसके त्याग गुण का उपहास करता है।

को दूर से ही बाहरी और राजपुत्र को पशु जैसा करार देता है ॥७७॥

प्रपलायनैकहृदये यो विक्रममातनोति हरिणेऽपि ।
सिंहस्य तस्य शौर्यं त्रपाकरं भट्टपुत्रस्य ॥७८॥

जोर से भागने पर तुले हरिण जैसे प्राणी पर भी जो अपना पराक्रम दिखलाता है उस सिंह का शौर्य भट्टपुत्र के लिए लज्जित करने वाला होता है[1] ॥७८॥

आखेटकेऽपि कौतुकमस्त्येव जयश्च चंचले लक्ष्ये ।
भट्टभयेन न खेलति भट्टसुतः किंत्वतिप्रकटम् ॥७९॥

शिकार खेलने में भी इसे शौक है ही, चंचल निशाने को दागने का भी शौक है, किन्तु यह अपने पिता भट्ट के डर से प्रकट होकर नहीं खेलता है ॥७९॥

इति निजसेवकनिगदितरमणीयवचःश्रवणपरितुष्ट्या ।
अन्तर्मुदितो ब्रूते मामेष खलीकरोतीति ॥८०॥

इस प्रकार अपने सेवक जन के रमणीय वचनों से परितोष अनुभव करके वह मन-ही-मन खुश होता है, लेकिन कहता यह है कि यह मेरी झूठी तारीफ कर रहा है[2] ॥८०॥

१—कवि ने चाटुकारों के द्वारा यह कहला कर कि पलायमान हरिण पर पराक्रम करने वाले सिंह का शौर्य उसके लिए लज्जाकर था, व्याजस्तुति द्वारा भट्टपुत्र की भीरुता सूचित की है ।

२—हम कह चुके हैं कि भट्ट का पुत्र के रूप में हमें प्राचीन 'रसिक' का यह चित्र देखने को मिला है । ठीक इसी ढंग के रसिक (नवाब) का उल्लेख गणिका 'उमराव जान' ने किया है—'घर से खुश । वालिद मरहूम इनके रिश्वत, नजराने के रुपये से एक बड़ा इलाका इनके खर्च के लिए खरीद कर छोड़ गये थे......आप अपने आपको यूसुफेसानी (यूसुफ के बराबर सुन्दरतम) समझते थे, पहरों आइना सामने रहता था । बाल बढ़ाया गया, घुंघर बनाया गया । नुक्केदार टोपी सर पर रखी गई । ऊँची चोली का अंगरखा अंटा । बड़े पायचों का पाजामा पहना गया । यह सब ठाठ रंडियों की दरबारदारी के लिए किया गया था ।

......गाने के इल्म में भी आपको कमाल था । ठुमरियाँ खुद बनाते, खुद ही धुन बना कर गाते थे । खुद ही भाव बनाते जाते थे । और तो जो कुछ था वह था, मुँह से तबला खूब बजाते थे । यारों ने खूब ही बना दिया था । ...

कतमत्कतमल्लग्नं प्रस्थान का च नर्तकी भद्रा ।
विटखटक का नृत्यति कोहलभरतोदितक्रियया ॥८१॥

कौन कौन प्रस्थान (नाट्यादि शास्त्र का विषय) मालूम है, कौन नर्तकी[1] श्रेष्ठ (या साध्वी) है, नाट्याचार्य कोहल और भरत के कहे हुए प्रकार के अनुसार विटखटक[2] (शृङ्गटक ?) में कौन नाचती है ॥८१॥

वतन से बेरोक-टोक रुपया चला आता था । लखनऊ के बेफिक्रे, खुशपोशाक, ऐशपसन्द, मुफ़्तखोरे आपके साथ रहते थे ।

'रससदन भाग' में 'रसिक' होने के लिए अपेक्षित सामग्री का अच्छा चित्र है, जो भट्टपुत्र के वर्णन के बहुत अनुकूल है—

आपादलम्बिविधृते कनकोज्ज्वलाग्रे द्वे वाससी विशद कोमल सूक्ष्म सूत्रे ।
अंशे च तुल्यचतुरस्रतनुः पटोऽयं क्षिप्तो विचित्रपरिधि र्नवकुङ्कुमश्रीः ॥
कस्तूरिका तिलकमाहित माननान्ते हस्तौ च साधु रचितौ कनकाङ्गुलीयैः ।
पाटीर पङ्कसरसं च भुजान्तरालं जातोऽस्मि हन्त रसिकोऽव हमग्र गण्यः ॥

१—नर्तकी का लक्षण भरत ने इस प्रकार लिखा है—

यौवनादि गुणोपेता नृत्तगीत विचक्षणा ।
सदा प्रगल्भा च तथा त्यक्तालस्याजितश्रमा ॥

समागतासु नारीषु रूपयौवन कान्तिषु ।
न दृश्यते गुणैस्तुल्या नर्तकी-सा प्रकीर्तिता ॥ (२४।३३-३४)

२—विटखटक (या शृङ्गटक) —'विटखटक' सम्भव है कोई नृत्यकला पारिभाषिक शब्द हो, परन्तु संस्कृत टीकाकार तनसुखराम ने प्रमाण न मिलने के कारण इसका शब्दार्थ यह लगाया है कि वह नृत्यभेद जो विटों (भड़ुओं) द्वारा 'खटक' अर्थात् आकाँक्षित हो । प्रमाण के अभाव में इसी अर्थ पर सन्तोष करना पड़ता है । पाठान्तर 'शृंगटक भी भ्रामक पाठ है, शृंगटक शब्द के समकक्ष होने से इसका अर्थ 'चौराहा' करना और यह कहना कि चौराहे पर कौन नाच सकती है ? यह अर्थ भी कथञ्चित् मान्य है । श्री राय ने दूसरा पाठ 'शृंगटक' ही माना है और उसे एक प्रकार का 'गेयकाव्य' कहा है, और प्रमाण उद्धृत करते हैं कि यह मसृणोद्धक प्रयोग विशिष्ट एवं उद्धतत्व प्रधान—

'सख्या समक्षं पत्युर्युदुद्धतं वृत्त· मुच्यते ।
यसृणं च क्वचिद् धूर्तचरितम् शृङ्गटस्तु सः ?' (काव्यानुशासन).

कीदृक्त्वं लयमार्गे धेनुकरचिते च भाणके कीदृक् ।
प्रेंखणकादावेवं पृच्छति नृत्योपदेशकं यत्नात् ॥८२॥

वह इस प्रकार यत्नपूर्वक नृत्य के उपदेशक आचार्य से पूछता है कि तुम लय के मार्ग में धेनुक के द्वारा रचित ताल में तथा प्रेङ्खणक आदि में कैसे हो[1] ? अर्थात् तुम्हारी उनमें कहाँ तक पहुँच है ? ॥८२॥

सुमनोमालां कण्ठात्सादरचेता ददाति नर्तक्यै ।
अपनीय स ताम्बूलकमनवसरे साधुवादं च ॥८३॥

आदर युक्त चित्त वाला वह ताम्बूल वाली फूल की माला को कण्ठ से निकाल कर नर्तकी को अर्पित करता है और बिना अवसर के 'साधु' 'साधु' कहता है ॥८३॥

भुजपतनगात्रसंस्थितिलालित्योद्वहनपार्श्ववलितानि ।
अनयैव निर्मितानि स्थानकशुद्धिश्च चातुरश्यं च ॥८४॥

भुजवलन, गात्र- संस्थिति, लालित्य, उद्वहन, पार्श्ववलित, स्थानक शुद्धि और चातुरश्य नृत्य के इन प्रकारों को इसी ने तो बनाया है[2] ।'८४॥

१—नयमार्ग (लयमार्ग ?) नृत्य के प्रसंग के आधार पर 'नय' का 'लय' बनाया गया है, जो उचित है । 'लय' ताल के बीच का द्रुत, मध्य और विलम्बित काल है । 'ताल' नाचने के समय गला बचाने की क्रिया का काल से मान या निर्धारण है ।

धेनुक—यह कोई गेयकार आचार्य थे ।

प्रेङ्खणक—यद्यपि उपरूपक के भेद के अर्थ में यह प्रसिद्ध है तथापि प्रस्तुत में नृत्य की चर्चा के कारण तनसुखराम ने इसका योगिक अर्थ 'नृत्य' किया है, प्रकर्ष में इङ्खन या चलन हो जहाँ ।

२—भुजवलन—विशेष नियमों से हाथों का संचालन करना । गात्रसंस्थिति—अंगों की बिलकुल स्थिरता, कभी कभी नृत्य में किसी वस्तु को सिर पर रख कर नाचते हैं, कमाल यह होता है कि नृत्यकाल में भी अंगों की स्थिरता के कारण वह वस्तु गिर नहीं पाती । लालित्य—'मालविकाग्निमित्र' में सम्भवतः इसे ही 'सौष्ठव' कहा है—

'ततः प्रविशत्याचार्या वेद्यमाणाङ्ग सौष्ठवा मालविका'

जैसा कि इसका लक्षण कहते हैं—

अनुच्चनीचचलतामगानां समपादताम् ।
कथिकूर्पर शीर्षासकण्ठानां समपादताम् ॥

प्रविभक्तैर्भावरसैरभिनयभङ्ग्या परिक्रमैश्चित्रैः ।
रम्भामप्यतिशेते किमुतेतरनर्तकीलोकम् ॥८५॥

यह अपने अलग-अलग भावों और रसों से नई भङ्गियों (अदाओं) से तथा आश्चर्य करने वाले आवर्तनों (परिक्रमों) से रम्भा को भी अभिभूत करती है, फिर दूसरी मृत्युलोक की नर्तकियों की बात ही क्या ? ॥८५॥

इत्यपसारकविरताव विरतमुत्क्षायुकण्ठमत्युच्चैः ।
वर्णयति भावितात्मा लक्षितपदमात्रया पात्रम् ॥८६॥

इस प्रकार भावुक मन वाला वह नृत्य के अवसान में[1] हमेशा जोर से कण्ठ को उछाल कर सिर्फ ताल-मात्रा को लक्षित करके नर्तकी की प्रशंसा करता है ॥८६॥

प्रायेण भट्टतनयो भवतीदृशवेषचेष्ठितो भद्रे ।
तं मदनवागुरान्तः पातयसि यथा तथा ब्रूमः ॥८७॥

हे भद्रे, प्रायः करके भट्टपुत्र के यह वेश और आचरण हैं, उसे जिस प्रकार तू काम के फाँस में गिराएगी, उस प्रकार कहती हूँ ॥८७॥

रम्यां प्रतीक विश्रान्ति-मुरसस्च समुन्नतिढ़े ।
अभ्यासोप तितामाहः सौष्ठवं नृत्य वेदिनः ॥

उद्वहन—अंगधारण, सम्भवतः यह नृत्य में अंगों को ऊपर उठा देने की प्रक्रिया है, प्रायः नृत्य में ऐसा होता है कि सारे शरीर के बोझ को एक हाथ पर रख लेते हैं । पार्श्ववलित—बगली काट कर मुड़ना, (Side Movement) । स्थानक—शुद्धि—अर्थात् विशुद्धता, दोषराहित्य । चातुरश्य—कौशलपूर्वक अंगों का अवस्थान । नृत्य के आरम्भ में यह स्थिति आती है, जैसा कि कहा है—

अंगस्य चतुरस्त्रत्वं समपादौ लताकरौ ।
आरम्भे सर्वनृत्यानामेतत् सामान्य मिष्यते ॥ (वसन्तराजीय) ।

१—यहाँ 'अपसारक' का प्रयोग सम्भव है नृत्य के विराम होने पर विराम-सूचक या नर्तकी के निर्गमनसूचक गीतवादन हो ।

चतुरा प्रागल्भ्यवती परचित्तज्ञानकौशलोपेता।
योज्या तस्मिन्दूती वक्रोक्तिविभूषिता प्रयत्नेन ॥८८॥

जो दूती चतुर, ढीठ, दूसरे के चित्त को जानने में निपुण और कुटिल बातें करने वाली हो, उसे प्रयत्नपूर्वक उसके पास लगा देना चाहिए [1] ॥८८॥

समुपेत्य तयाऽवसरे ताम्बूलं सुमनसश्च दत्त्वेत्थम्।
अभिधातव्यः सुन्दरि मकरध्वजदीपकैर्वचनैः ॥८९॥

हे सुन्दरी, वह दूती उसके पास समय से पहुँच कर ताम्बूल और फूल के उपहार अर्पित कर इस प्रकार कामोद्दीपक वचन बोले ॥८९॥

जन्मसहस्रोपचितैः पुण्यचयैरद्य फलितमस्माकम्।
यत्त्वं नयनानन्दन नयनाऽवसरं समेतोऽसि ॥९०॥

हमारे हज़ारों जन्मों के सञ्चित पुण्यसमूह आज फलित हुए कि जो हे नयनानन्दन, तुम आँखों के सामने हुए हो ॥९०॥

चाटुक्रममनुरागं प्रणयरुषौ विरहजनितशोकार्तिम्।
प्रकटयति वाररमणी नटीव शिक्षाभियोगेन ॥९१॥

(अभिनय करने वाली) नटी के समान वेश्या-शिक्षा में निपुणता के द्वारा प्रशंसापूर्वक अनुराग, स्नेह, क्रोध और वियोग से उत्पन्न शोक के कष्ट प्रकट करती है ॥९१॥

प्रवयसि यौवनशालिनि हीनकुले सत्कुलप्रसूते च।
रोगवति दृढ़शरीरे समचित्ता योगिनश्च गणिकाश्च ॥९२॥

बूढ़े और जवान में, नीच और कुलवान में, रोगी और स्वस्थ शरीर

१—दूती के गुण—

पटुता धृष्टता चेतीङ्गितज्ञत्वं प्रतारणम्।
देशकालज्ञता चैव दूतीकृत्ये गुणा मताः॥

मालती माधव में दूतियों के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है—

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुधाः क्रियासु ॥ ३।११

वाले में योगी और गणिकाएं दोनों बराबर चित्तवाले (अर्थात् भेदभाव रहित) होते हैं ॥९२॥

उपचरिताप्यतिमात्रं पण्यवधूः क्षीणसम्पदः पुंसः ।
पातयति दृशं व्रजतः स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ॥९३॥

अधिक मात्रा में (द्रव्यादि द्वारा) सेवित होकर भी वेश्या (पण्यवधू) जाते हुए, क्षीण सम्पत्ति वाले पुरुष के शरीर के वस्त्रमात्र पर भी ललचाई नजर रखती है ॥९३॥

इत्थं दृढतरवासितमनसां पुंसामसाम्प्रतं पुरतः ।
वेशविलासवतीनामशरीरशरव्यथाकथनम् ॥९४॥

ऐसी स्थिति में उन पुरुषों के आगे जिनका मन दृढ़तर वासनाओं से वासित है, वेश्याजनों की कामजनित व्यथा के सम्बन्ध में कहना असामयिक है ॥९४॥

केवलमगणितलाघवदूरपरित्यक्तधीरताभरणा ।
मुखरयति मां दुराशादग्धसखी तेन कथयामि ॥९५॥

केवल दुराशा नाम की दग्ध सखी, जो हल्कापन की परवाह न करके धैर्य के गहने को बिल्कुल छोड़ चुकी है, मुझे वाचाल कर रही है, इसलिए कहती हूँ ॥९५॥

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता ॥९६॥

मालती के हृदय में पहले कामदेव अधिष्ठित हुआ, बाद में हे रमणी-वल्लभ ! उसके लोचन गोचर होते हुए तुम अधिष्ठित हुए ॥९६॥

क्षणमुत्कण्टकिताङ्गी क्षणमुल्वणदाहवेदनायत्ता ।
क्षणमुपजातोत्कम्पा स्वेदार्द्रवपुः क्षणं भवति ॥९७॥

क्षण ही में उसके अङ्गों में रोमाञ्च हो जाता है, क्षण ही में तीव्र दाहजनित वेदना की दशा हो जाती है, क्षण ही में कंपकपी होने लगती है और क्षण ही में वह पसीने से तर-बतर हो जाती है ॥९७॥

मुहुरविभावितकार्श्या मुहुरुज्झितधीरभावमत्युच्चैः ।
रोदिति गायति च पुनः पुनश्च मौनावलम्बिनो भवति ॥९८॥

कभी तो उसकी हँसी दिखाई नहीं देती, कभी धीरता को छोड़ कर जोर से रोने लगती है, फिर गाने लग जाती है और फिर चुप हो जाती है ॥९८॥

पतति मुहुः पर्यङ्के मुहुरङ्के परिजनस्य मुहुरवनौ ।
किसलयकल्पिततल्पे मुहुरम्भसि मुहुरनङ्गसंतप्ता ॥९९॥

काम से संतप्त वह कभी पलंग पर, कभी परिजन की गोद में, कभी जमीन पर, कभी पल्लव की बनी सेज पर और कभी जल में पड़ जाती है ॥९९॥

महिषीव पंकदिग्धा हंसीव मृणालवलयपरिवारा ।
सुभगमयूरीवासौ भुजंगविद्वेषिणी जाता ॥१००॥

हे सुभग, (चन्दन-कर्पूरादि का लेपन करके) वह कभी कर्दमलिप्त महिषी की भाँति, कभी कमलनालों के वलय (कटक) का परिधान करके (कमलनाल के समूह में विचरने वाली) हंसनी की भाँति और कभी (विटरूपी) भुजङ्गों से द्वेष करने वाली मोरनी की भाँति हो जाती है ॥१००॥

कदलीचम्पकचन्दनपंकेरुहनीरहारघनसारम् ।
सुन्दरशशधरकान्तं नो शान्त्यै मदनहुतभुजस्तस्याः ॥१०१॥

हे सुन्दर, कदली, चन्दन, कमल, जल, हार, कर्पूर, चन्द्रकान्त सबके-सब उसकी मदनाग्नि को शमन नहीं कर पाते[1] ॥१०१॥

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥१०२॥

दिन-रात वह बाला इस प्रकार प्रलाप करती रहती है—सखी 'कपूर' हटाओ, हार दूर करो, कमलों से लाभ क्या ? कमलनाल व्यर्थ है ॥१०२॥

१—श्री त्रिदिवनाथ राय ने 'सुन्दर' शब्द को शशधर कान्त या चन्द्रकान्तमणि का विशेषण माना है, वस्तुतः इसे ऊपर के 'सुभग' शब्द की भाँति भट्टपुत्र का सम्बोधन होना चाहिए। अन्यथा श्लोक में अपुष्टार्थता या व्यर्थ विशेषणता दोष प्रसक्त होगा।

संकल्पैरुपनीतं त्वामन्तिकमुल्लसन्मनोवृत्तिः ।
दृढमालिंगति पश्चात्स्वभुजापीडेन याति वैलक्ष्यम् ॥१०३॥

कल्पनाओं के बल से तुम्हें नजदीक लाकर वह भीतर मन में प्रफुल्ल हो तुम्हें आलिङ्गन-पाश में कस लेती है, पीछे जब अपने हाथों का संघट्टन होता है तब वह लज्जित हो जाती है ॥१०३॥

कुसुमामोदी पवनः पिककूजितभृङ्गसार्थरसितानि ।
इयमियती सामग्री घटिता कामेन तद्विनाशाय॥१०४॥

फूलों की सुगन्ध वाली हवा, कोकिल की कूक और भ्रमर-समूह की गुंजार इतनी सामग्री ब्रह्मा जी ने उसके विनाश के लिए ही रची है ॥१०४॥

अबलां बलिना नीतां दशामिमां मकरकेतुना रक्ष ।
आपत्पतितोद्धृतये भवति हि शुभजन्मनां जन्म ॥१०५॥

बलशाली कामदेव ने उस अबला को इस दशा तक पहुँचा दिया है। तुम उसकी रक्षा करो। क्योंकि विपत्ति में पड़े प्राणियों के उद्धार के लिए ही शुभजन्मा पुरुष जन्म लिया करते हैं ॥१०५॥

नो गृह्णंति यथार्था अर्थिजनैर्निगदिता गिरः प्रायः ।
मालत्या गुणलेशं शृणु धृष्टतया तथापि कथयामि ॥१०६॥

प्रायः प्रार्थी जनों की यथार्थ बातें लोग ग्रहण नहीं करते हैं तथापि धृष्टता-पूर्वक मालती के गुणों का किञ्चित् उल्लेख करती हूँ, (कृपा करके) सुनो ॥१०६॥

आस्फालयतो नूनं धनुरतनोः कौसुमं रजः पतितम् ।
संगृह्य सा सुगात्री विश्वसृजा निर्मिता तेन ॥१०७॥

निश्चय ही कामदेव जब अपना धनुष आस्फालन करने लगा तब उसके धनुष से फूल की धूल गिरी और ब्रह्मा ने उसे बटोर कर उस शोभन अङ्गों वाली मालती का निर्माण किया ॥१०७॥

उपहसति गिरिसुताया लावण्यं येन सततलग्नेन ।
न द्रवतामुपनीतं भोगीन्द्रविभूषणस्य देहार्धम् ॥१०८॥

वह (मालती) पार्वती के लावण्य की हंसी उड़ाती है, जो (लावण्य) हमेशा लगा रह कर सर्पराज के गहने धारण करने वाले शिव जी के आधे शरीर को द्रवित नहीं कर सका[1] ॥१०८॥

शशधरबिम्बार्धगतां छायामिव सैंहिकेयवदनस्य ।
अलिपटलनीलकुटिलामलकावलिमलिकसंनिधौ वहति ॥१०९॥

वह राहु के मुख को चन्द्रबिम्ब के आधे भाग पर पड़ी छाया की भाँति अपने ललाट के समीप भ्रमर-समूह-जैसी नील कुटिल अलकावलि धारण करती है ॥१०९॥

सरसिजमस्थिरशोभं विभ्रमरहितं च मण्डलं शशिनः ।
केन समेतु समत्वं हृदयप्रिय मालतीवदनम् ॥११०॥

कमल की शोभा स्थिर नहीं रहती और चन्द्र के मण्डल में विभ्रम (विलास) का अभाव है, तो फिर हे प्यारे, किसके साथ मालती का मुखड़ा अपनी समता रखे ? ॥११०॥

अलिरुपरि तदीक्षणयोर्भ्रान्त्वा सौगन्ध्यसूचितविशेषः ।
निपतति कर्णाम्बुरुहे निर्गुणताप्यवसरे साध्वी ॥१११॥

भौंरा उसकी कमल सदृश आँखों पर मंडरा कर जब उसे सुगन्धि की विशेषता मालूम होती है तब (मालती के) कान में लगे कमल पर जा बैठता है, समय पर गुणरहित होना भी अच्छा है ॥१११॥

१—स्त्री के शोभन अंगों में मुक्ताफल के भीतर झिलमिलाते हुए पानी की तरह जो मालूम पड़ता है उसे ही 'लावण्य' कहते हैं—

मुक्ताफलेषु छायाया स्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रति-भाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

'लोचन' में आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं—
लावण्यं हि नाम अवयव संस्थानाभिव्यंग्यमवयव व्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव ।

बिभ्राणेऽरुणिमाणं सहजं जितबन्धुजीवरुचिमधरे ।
यदलक्तकविन्यसनं तत्तस्या मण्डनक्रीडा ॥११२॥

अपने स्वभावतः लाल, बन्धुजीव (बन्धूक) की शोभा को जीत लेने वाले अपने अधर पर जो वह आलता लगाती है वह उसकी प्रसाधनलीला मात्र है ॥११२॥

चित्रमिदं यदि कृशता तस्या बलिपरिगृहीतमध्यस्य ।
अथवा नो विधिविहिता महताप्यपनीयते तनुता ॥११३॥

आश्चर्य तो यह है कि जो बलि (त्रिबलि, श्लेष से बलवान्) के द्वारा सेवित मध्य भाग बिलकुल क्षीण हो गया है (उसे तो बलिपरिगृहीत होने के कारण बलयुक्त होना चाहिए था।) अथवा बात यह है कि जब विधाता ही क्षीण कर चुका है तो कोई बड़ा भी उस क्षीणता को दूर कर नहीं सकता ॥११३॥

आस्तामपरस्तावत्तस्याः स्मरवसतिपृथुतरनितम्बः ।
श्लथयति कपिलमुनेरपि दृक्पथपतितः समाधानम् ॥११४॥

दूसरे अङ्ग को छोड़िए, उसका जो कामदेव का निवास-स्थान भूत विशाल नितम्ब है वह दृष्टिगोचर होकर कपिल मुनि की समाधि को भी ढीला कर देने वाला है ॥११४॥

तस्या रम्भावपुषो रम्भोपममूरुयुगलमवलोक्य ।
मकरध्वजोऽपि सहसा निजसायकलक्ष्यतां याति ॥११५॥

रम्भा के सदृश शरीर वाली उस मालती का रम्भा सदृश ऊरु युगल देख कर सहसा कामदेव भी अपने ही बाण का निशाना बन जाता है ॥११५॥

जघनभरालसयाता नायाता सा विलोचनप्रसरम् ।
तिष्ठति तेन मनोहर शरजन्मा ब्रह्मचर्येण ॥११६॥

हे मनोहर, जघन के भार से अलसा कर चलने वाली वह (मालती) दृष्टिगोचर नहीं हुई, इसी कारण कार्तिकेय जी आज तक ब्रह्मचारी बने बैठे हैं ॥११६॥

यदि कथमपि मधुमथनः पश्यति तामसमबाणसर्वस्वम् ।
तदसारभार भूतामिव लक्ष्मीमुरसि विनिहितां मनुते ॥११७॥

यदि किसी प्रकार विष्णु कामदेव के सर्वस्व उस मालती को देख लें तो छाती पर पड़ी लक्ष्मी को व्यर्थ की भारभूत जैसी मानने लग जाँय ॥११७॥

यदि पतति सा कथंचिद्वीक्षणविषये हरस्य तदवश्यम् ।
त्रिभुवनमशिवं कुरुते वामेतरदेहभागमासाद्य ॥११८॥

यदि वह (मालती) किसी प्रकार शिव जी के दृष्टिपथ में आ जाय तो (वह) उनके दाहिने शरीरार्ध को पाकर (क्योंकि पार्वती उनके बायें शरीरार्ध में रहती है) त्रिभुवन को अशिव (शिव जी से रहित) बना डाले ॥११८॥

सौन्दर्यं तत्तादृशमशेषयोषिद्विलक्षणं सृजतः ।
यन्निष्पन्नं धातुस्तन्मन्ये काकतालीयम् ॥११९॥

उसका सौन्दर्य उस प्रकार जो समस्त स्त्रियों में विलक्षण बन गया है उसे विधाता की आकस्मिक घटना (काकतालीय) मानती हूँ (अन्यथा विधाता में वह शक्ति कहां कि ऐसे विलक्षण सौन्दर्य का निर्माण करे) ॥११९॥

सहजविलासनिवासं तस्या वपुरनभिवीक्षमाणस्य ।
मन्ये नाकाधिपतेः सहस्रमपि चक्षुषां विफलम् ॥१२०॥

स्वाभाविक विलासों का निवास-स्थान उसके शरीर के न देख पाने वाले स्वर्गाधिपति इन्द्र की हजार आँखों को भी मैं विफल मानती हूँ ॥१२०॥

शिथिलयतु कुसुमचापं क्षिपतु शरान्वाणधौ मनोजन्मा ।
संसारसारभूता विचरति भुवि मालती यावत् ॥१२१॥

कामदेव अपने पुष्प के धनुष को तब तक ढीला कर दे, बाणों को तरकस में डाल दे, जब तक संसार की सारभूता मालती पृथ्वी पर विलसित है ॥१२१॥

वात्स्यायनमदनोदयदत्तकविटवृत्तराजपुत्राद्यैः ।
उच्छ्रूसितं यत्किंचित्तत्तस्या हृदयदेशमध्यास्ते ॥१२२॥

वात्स्यायन, 'मदनोदय' ग्रंथ का रचयिता, दत्तक, विटपुत्र, राजपुत्र

आदि आचार्यों ने जो कुछ कहा है वह उसके हृदय में अधिष्ठित रहता है ॥१२२॥

भरतविशाखिलदंतिलवृक्षायुर्वेदचित्रसूत्रेषु ।
पत्रच्छेदविधाने भ्रमकर्मणि पुस्तसूदशास्त्रेषु ॥१२३॥

भरत का नाट्यशास्त्र, विशाखिल का कलाशास्त्र, दन्तिल का सङ्गीत-शास्त्र, वृक्षायुर्वेद, चित्रकला, सूची शिल्प, पत्रच्छेद-विधान, भ्रमकर्म (इन्द्रजाल), पुस्तकर्म (काष्ठ, मृत्तिका, चर्म अथवा धातु के खिलौने पुत्तलिका-बनाना) सूदशास्त्र (पाक शास्त्र) ॥१२३॥,

आतोद्यवादनविधौ नृत्ते गीते च कौशलं तस्याः ।
अभिधातुं यदि शक्तो वदनसहस्रेण भोगिनामीशः ॥१२४॥

आतोद्य (वीणा, मुरज, वंशी, कांस्य आदि चतुर्विध वाद्य) के बजाने की विधि, नृत्त और गीत इत्यादि में उसके कौशल को शायद हजार मुखों से शेषनाग कह सकें ॥१२४॥

परिगलदालोलांशुकमपयंत्रणमुरसि मालती रभसात् ।
निपतति नाऽपुण्यवतां रतिलालसमानसा रहसि ॥१२५॥

जो पुण्यवान् नहीं हैं उनके वृक्ष पर मालती एकान्त में चंचल सरकते वस्त्र एवं बिना किसी यन्त्रण के वेग से नहीं आ पड़ती ॥१२५॥

रतिरसरभसास्फालनचलवलयनिनादमिश्रितं तस्याः ।
तत्कालोचितमणितं श्रुतिपथमुपयाति नाऽल्पपुण्यस्य ॥१२६॥

रतिजनित आनन्द के वेग से परस्पर रगड़ खाते चञ्चल कंगनों की खन-खनाहट से मिला हुआ उस मालती के तत्काल उचित लगने वाला मणित (रतिकाल की आवाज) पुण्यरहित व्यक्ति के कानों तक नहीं पहुँचता ॥१२६॥

इत्थमभिधीयमानः शुभमध्ये यदि भवेदुदासीनः ।
एवं ततोऽभिधेयः संदर्शितकोपया दूत्या ॥१२७॥

हे सुन्दर कटिभाग वाली, इस प्रकार कहने पर (भी) यदि वह उदासीन रहे तब कोप दिखा कर दूती को यह कहना चाहिए ॥१२७॥

किं सौभाग्यमदोऽयं यौवनलीलाभिरूपतादर्पः ।
सहजप्रेमोपनतां मालतिकां न बहु मन्यसे येन ॥१२८॥

क्या यह तुझे अपने सौभाग्य का घमंड हो गया है अथवा यौवन की रमणीयता का अहङ्कार, जिससे सहज प्रेमभाव से पास आई मालती को स्वीकार नहीं करते हो ॥१२८॥

न गणयति या कुलीनान्द्रविणवतः शास्त्रवेदिनः प्रणतान् ।
सा भवदर्थे शुष्यति कुस्थाननिवेशितं धिगनुरागम् ॥१२९॥

जो मालती अपने सामने सिर झुकाए कुलीनों, धनिकों और शास्त्र जानने वालों को कुछ भी नहीं समझती, वह तुम्हारे लिए सूखती जा रही है। धिक्कार है उस अनुराग को जो गलत स्थान में हो ॥१२९॥

कमलवती तीव्ररुचौ बहुभस्मनि शम्भुशिरसि शशिलेखा ।
सा च त्वयि पशुकल्पे यदभिरता तेन मे कृशता ॥१३०॥

तीखे किरणों वाले सूर्य में कमलवनी राख की ढेर लगे शिव के सिर में चन्द्रलेखा और पशु-सरीखे तुझमें वह जो अनुरक्त है उसी कारण (शोक से) मैं दुबली हो गई हूँ ॥१३०॥।

असरलमरसं कठिनं दुर्ग्रहमस्निग्धमाश्रिता खदिरम् ।
यदुपैति वाच्यपदवीं मालतिका तत्किमाश्चर्यम् ॥१३१॥

सरलता रहित, नीरस, कर्कश, कष्ट से ग्राह्य एवं रूखे खदिर वृक्ष को पाकर मालती (चमेलीलता) जो निन्दित होती है उसमें क्या आश्चर्य ? ॥१३१॥।

अथवा कः खलु दोषो यदतुल्यतयोपजनितवैलक्ष्यः ।
स्वाधीनामपि सरसां परिहरति मृणालिकां ध्वांक्षः ॥१३२॥

अथवा क्या दोष, कि जो बराबरी में न आने के कारण लज्जित हो कौआ अपने अधीन और सरस कमलिनी को भी छोड़ देता है ॥१३२॥।

मात्र करिष्यसि खेदं निष्ठुरमुक्तोऽसि यन्मया सुभग ।
यूनां हि रक्ततरुणीसुहृदभिहितपरुषमाभरणम् ॥१३३॥

हे सुभग, मैंने तुम्हें जो कड़ी बाते कहीं उससे दुःख मत मानना,

क्योंकि जवानों के लिए अनुरक्त सुन्दरी की सखी की कड़ी बात (शोभा देने वाला) आभरण होती है ॥१३३॥ ।

चन्द्रमसेव ज्योत्स्ना कंसासुरवैरिणव वनमाला ।
कुसुमशरासनलतिका कुसुमाकरवल्लभेनेव ॥१३४॥

चाँद से चाँदनी की भाँति, कृष्ण से बनमाला[1] की भाँति, वसन्त के सखा कामदेव से कामलता की भाँति ॥१३४॥

मदलीला हलिनेव स्तनयुगलेनेव हारलता ।
रम्यापि सा सुगात्री रम्यतरा भवतु संगता भवता ॥१३५॥

हलधर बलराम से मदलीला की भाँति, स्तनयुगल से हारलता की भाँति, तुमसे संगम प्राप्त कर वह शोभन अङ्गों वाली मालती रम्या होकर भी रम्यतरा हो जाय ॥१३५॥ ।'

किं बहुना यदि यूनामुपरि विधातुं समीहसे चरणम् ।
तत्कुरु रमणीरत्नं प्रेमोज्ज्वलमंकतस्तूर्णम् ॥१३६॥

बहुत कहने से क्या, यदि तुम जवानों के सिर पर चरण रखना चाहते हो तो प्रेम की चमक वाले उस रमणीरत्न[2] को शीघ्र अङ्क में ले लो ॥१३६॥

अथ तद्वचनश्रवणप्रविजृम्भितमदनभट्टदायादः ।
उपचरणीयः सुन्दरि निजवसतिमुपागतस्त्वयाप्येवम् ॥१३७॥

तत्पश्चात् उस दूती की बातें सुनने से भट्टपुत्र का मदन उद्दीपित होगा उससे वह अपने घर आए उसे तुम भी हे सुन्दरी, इस प्रकार उपचार करना ॥१३७॥

१—पैर तक लटकती हुई माला अथवा पत्रपुष्पमयी माला को 'बनमाला' कहते हैं । भगवान कृष्ण के बनमाला धारण करने के कारण ही उन्हें 'बनमाली' कहते हैं ।

२—रमणीरत्न—अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दरी । कहा है—

'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते' ।

वराहमिहिर भी लिखते हैं—

स्त्रीणां गुणा यौवनरूपवेष दाक्षिण्य विज्ञान विलास पूर्वाः ।
स्त्रीरत्न संज्ञा च गुणान्वितासु, स्त्रीव्याधयोऽन्याश्चतुरस्य पुंसः ॥

(बृहत्संहिता ७७।१२) ।

दूरादभ्युत्थानं प्रणमनमात्मासनप्रदानं च ।
प्रविधेयमंचलेन प्रस्फोटनमंघ्रियुगलस्य ॥१३८॥

दूर ही से उसे आते देख उठ जाना, प्रणाम करना, अपना आसन देना और आँचल से उसके पैरों को पोंछना ॥१३८॥ ।

ईषदयत्नप्रकटितकक्षोदरबाहुमूलकुचयुगलम् ।
संदर्श्य झटिति यास्यसि नायकदृग्गोचरात्तूर्णम् ॥१३९॥

फिर थोड़ा विना कोशिश के अपनी काँख, उदर, बाहुमूल, दोनों स्तन उसे प्रकट दिखा करके झट से उसकी आँखों से ओझल हो जाना ॥१३९॥ ।

अथ पर्यंकसनाथं दीपोज्ज्वलकुसुमधूपगन्धाढ्यम् ।
विततवितानकरम्यं प्रवेशितो वासकागारम् ॥१४०॥

तब हे भारी जघन वाली, उसे पलङ्ग से सजे, दीपों से प्रकाशित, फूलों की और धूप की गन्ध से सुवासित, फैले चँदरवा से सुशोभित वासकागार[1] में दाखिल करना ॥१४०॥

मात्रा ते गुरुजघने सादरमवतारणादिकं कृत्वा ।
अभिनन्दनीय एभिर्वंचनविशेषैः प्रयत्नेन ॥१४१॥

तेरी माता उसे आदरपूर्वक अवतारण (आवभगत) आदि करके इन खास बातों से यत्न करके अभिनन्दन करे ॥१४१॥

अद्याशिषः समृद्धाः परितुष्टा इष्टदेवता अद्य ।
कल्याणालंकारो यदलंकृतवानिदं वेश्म ॥१४२॥

आज आशीर्वचन सफल हुए, इष्ट देवता सन्तुष्ट हैं, जो कि कल्याण के अलङ्कार आपने इस घर को अलंकृत किया ॥१४२॥

१—वासकागार अर्थात् भोगावास, रतालय । 'उमराव जान' के शब्दों में लखनवी वासकागार का यह चित्र देखिए—... उनके कमरे जुदा जुदा सजा दिए गए थे । निवाड़ के पलंग, डोरियों से कसे हुए थे । फर्श पर सुथरी चाँदनी खिंची हुई । बड़े बड़े नक्शी पानदान, हुस्नदान, खासदान, उगालदान अपने अपने करीनों से रखे हुए । दीवारों पर हलबी आइने उम्दा उम्दा तस्वीरें छत में छतरियाँ लगी हुईं जिसके दरमियान एक छोटा-सा झाड़ । इधर-उधर उम्दा हण्डियाँ ।......

अनुरूपपात्रघटनं कुर्वाणस्याद्य कुसुमबाणस्य ।
सुचिराद्वत संजातः शरासनाकर्षणश्रमः सफलः ॥१४३॥

योग्य पात्रों का मिलन करने वाले कामदेव का धनुष खींचने का श्रम बहुत देर के बाद फलीभूत हुआ ॥१४३॥

विन्यस्य शिरसि चरणं सुभगा गणिकाजनस्य सकलस्य ।
सौभाग्यवैजयन्तीं संप्रति वत्सा समुत्क्षिपतु ॥१४४॥

सुहागिन मेरी बच्ची समस्त गणिकाओं के सिर पर पैर रख कर अब अपने सौभाग्य की पताका फहराये ॥१४४॥

दुहितर एव श्लाध्या धिक् लोकं पुत्रजन्मसंतुष्टम् ।
जामातर आप्यन्ते भवादृशा यदभिसम्बन्धात् ॥१४५॥

धत्तेरे संसार की कि जो लड़के के जनम से सन्तोष अनुभव करता है। प्रशंसनीय तो लड़कियाँ हैं जिनके सम्बन्ध से आप जैसे दामाद हासिल होते हैं ॥१४५॥

दृढपरिचया गुणज्ञा भवद्विधा नार्थनार्हका यदपि ।
तदपि हृदयाभिनन्दन दुहितृस्नेहादहं वच्मि ॥१४६॥

आप जैसे व्यक्ति यद्यपि दृढ़ परिचय वाले, गुणज्ञ एवं योग्य पात्र को सम्मान देने वाले होते हैं तथापि हे हृदयाभिनन्दन, मैं लड़की के प्रति स्नेह के कारण कहती हूँ ॥१४६॥

सहजप्रेमोपनता न्यस्ता त्वयि मालती तथा कार्यम् ।
न यथा भवति वराकी त्वद्विप्रियजन्मनां शुचां वसतिः ॥१४७॥

स्वभावतः अनुरक्त मालती को तुम्हें समर्पित करती हूँ, ऐसा करना जिससे कि यह बेचारी तुम्हारे अनिष्ट (वियोग) के कारण शोकों का स्थान न हो ॥१४७॥

मृदुधौतधूपिताम्बरमग्राम्यं मण्डनं च बिभ्राणा ।
परिपीतधूपवर्तिः स्थास्यसि रमणांतिके सुतनु ॥१४८॥

हे सतनु, कोमल, धुले, धूपादि द्वारा वासित वस्त्र एवं अग्राम्य (कारीगरी

से बने) आभूषण धारण कर तथा धूपवर्ति[1] का पान कर तू कान्त के समीप उपस्थित हो ॥१४८॥

सस्नेहं सव्रीडं ससाध्वसं सस्पृहं च पश्यन्ती ।
किंचिद्दृश्यशरीरा प्रविरलपरिहासपेशलालापा ॥१४९॥

सस्नेह, सलज्ज, ससम्भ्रम और सस्पृह दृष्टिपात करती हुई तू अपने शरीर को कुछ प्रकट कर देना और उसके साथ कभी कभी मजाक का पुट देकर बातचीत करना ॥१४९॥

मातरि निर्यातायां परिजनमुक्ते च वासकस्थाने ।
अभियुंजाने रमणे वामाचरणं क्षणं कार्यम् ॥१५०॥

माता जब वहाँ से बाहर चली जाय और परिजन भी उस भोगावास को छोड़ दें और कान्त जब रमणार्थ प्रवृत्त होने लगे तब कुछ क्षण तू प्रतिकूल आचरण करना (अपना अङ्ग सटने न देना, निषेध करना आदि) ॥१५०॥

रतिसंगरविहितमतावाकर्षति रभसतः पुरस्तस्मिन् ।
कुट्टमितमाचरन्ती जनयिष्यसि किंचिदंगसंकोचम् ॥१५१॥

रतियुद्ध[2] के लिए जब उसका मन बिलकुल हो जाय और सामने वह वेग से तुझे खींचने लगे तब कुट्टमित[3] करती हुई तू अपने अङ्गों को सिकोड़ लेना ॥१५१॥

१–धूपवर्ति—मुख को सुगन्धित करने के लिए बीड़ीनुमा द्रव्य, जिसमें खास-खास मसाले होते थे और जिस प्राचीन काल के शौकीन नागरिक जला कर धूम्र-पान करते थे। इसका उल्लेख कादम्बरी और हरविजय महाकाव्य में भी प्राप्त है। यह धूमवर्ति विविध प्रकार की होती थी। उनमें से एक का नागरसर्वस्व में इस प्रकार उल्लेख है—

कर्पूरागुरु चन्दन मुस्तकपूति प्रियङ्गु वालं च ।
मांसी चेति नृपाणां योग्या रतिनाथ धूमवर्तिरियम् ॥४।३६॥

२–'युद्ध' संज्ञा तब दी जाती है जब दो (या अनेक) मल्ल परस्पर अभिभवेच्छा से भिड़ जाते हैं। इस प्रकार चण्डवेग नायक और नायिका की निःशंक रति भी एक प्रकार का 'युद्ध' है। इस युद्ध में होने वाले चुम्बन, आलिङ्गन, नखाघात, दन्তাघात, ताड़न, सीत्कृत, उपसर्पन आदि बिलकुल दो मल्लों की कुश्ती के समान होते हैं। आगे के प्रसंग में इसी कवि ने हारलता और सुन्दरसेन के रति युद्ध का वर्णन किया है।

३–यह एक प्रकार की सम्भोग कालीन शृङ्गार चेष्टा है। भीतर से प्रसन्नता

प्रारब्धे सुरतविधौ क्रमदर्शितचित्तयोनिसंवेगा ।
अपशंकमर्पयिष्यसि निर्व्याजं पुत्रि गात्राणि ॥१५२॥

बेटी, जब वह सुरत आरम्भ कर दे तब तू क्रम से चित्त और योनि (अथवा चित्तयोनि अर्थात् कामदेव) का संवेग दिखाना और निःशङ्क और निष्कपट भाव से अपने अङ्गों को उसे अर्पित कर देना ॥१५२॥

यद्यद्वाच्छति हन्तुं यद्द्रष्टुं यच्च विलिखितु गात्रम् ।
तत्तदपसारणीयं सावेगं ढौकनीयं च ॥१५३॥

जिस-जिस अङ्ग को वह आघात करना[1] चाहे, जिसे देखना चाहे और जिसे खरोंचना[2] चाहे उस उसको आवेगपूर्वक हटा लेना और फिर उसके सामने कर देना ॥१५३॥

दंशे सव्यथहुंकृतिमामर्दे विविधकण्ठरसितानि ।
नखविलिखने च सीत्कृतिमाघातेषूल्वणं क्वणितम् ॥१५४॥

जब वह दाँत से काटे[3] तो व्यथासूचक हुँकार करना, मसलने[4] लगे तो विविध प्रकार से कंठ की आवाज करना, नखों से खरोंचने लगे तो सीत्कार[5] भरना और आघात करे तो जोर से चीख पड़ना ॥१५४॥

ह्रस्वायासश्वासान्मुंचन्ती पुलकदंतुरशरीरा ।
स्विद्यत्सकलावयवा प्रकरिष्यसि रागवृद्धये पुंसाम् ॥१५५॥

कामुक पुरुषों के राग बढ़ाने के निमित्त तू बार-बार श्रमसूचक श्वास

है, फिर भी ऊपर से नायक द्वारा केश, स्तन, अधर आदि के पकड़ने पर नायिका का सिर और हाथ झकझोरना 'कुट्टमित' कहलाता है। (साहित्यदर्पण)।

१–स्कन्धद्वय, सिर, स्तनान्तर, पृष्ठ, जघन और पार्श्व ये कामशास्त्र के अनुसार आघात या प्रहरण के स्थान हैं।

२–दोनों काँखें, कंठ, दोनों गाल, नाभि, श्रोणि, दोनों स्तन, भगस्कन्ध और कण्ठ मूल ये नखाघात या नखों द्वारा खरोचने के स्थान माने गए हैं।

३–कांख, उदर, स्तन, कपोल और कंठ ये दन्तपीड़न के स्थान हैं।

४–मसलने के स्थान हैं बाहु, स्तन, नितम्ब, पार्श्व, निम्नोदर और जघन।

५–वात्स्यायन के कामसूत्र में किस समय किस प्रकार का विरुत करना चाहिए, इसका उल्लेख है। (२।७।१३-२०)।

छोड़ती हुई रोमांच से शरीर को व्याप्त करना और समस्त अंगों को पसीने-पसीने करना ॥१५५॥

परभृतलावकहंसकपारावततुरगहृदयनिःस्वनितम् ।
अनुकार्यमुचितकाले कलकण्ठि रुतैस्त्वया रसतः ॥१५६॥

हे अव्यक्त मधुर कंठ वाली, कोकिल, लवा, हंस, कबूतर और घोड़े की भाँति रस के उचित समय में आवाज करना ॥१५६॥

मा मा मामतिपीडय मुंच क्षणमद्य नो समर्थाऽस्मि ।
इति गद्गदास्फुटाक्षरमभिधातव्यस्त्वया कामी ॥१५७॥

"मत, मत, मुझे जोर से मत पीड़न कर, निठुर, मुझे छोड़, मैं पार नहीं पा सकती" इस प्रकार की गद्गद एवं अस्पष्ट आवाज से कामुक के प्रति बोलना ॥१५७॥

अनुबन्धमानुकूल्यं वामत्वं प्रौढताभसामर्थ्यम् ।
सुरतेषु दर्शयिष्यसि कामुकभावं स्वयं बुद्ध्वा ॥१५८॥

कामुक का अभिप्राय स्पष्ट समझ कर उसके साथ सुरतों में कभी अनुराग, कभी अनुकूलता, कभी प्रतिकूलता, कभी प्रगल्भता और कभी असामर्थ्य प्रदर्शन करना ॥१५८॥

असमंजसमश्लीलं दूरोज्झितधैर्यमविनयप्रसरम् ।
व्यवहारमाचरिष्यसि वृद्धिमुपेते रसावेगे ॥१५९॥

जब रत का आवेग वृद्धि प्राप्त कर ले तब असङ्गत, अश्लील, धैर्यरहित, अविनययुक्त व्यवहार करना ॥१५९॥

अविचेतितनखरक्षतिरामीलितलोचना निरुत्साहा ।
नायककार्यसमाप्तौ स्थास्यसि शिथिलीकृतावयवा ॥१६०॥

जब नायक अपना कार्य समाप्त कर ले तब जैसे उसके नखों की खरोंचें तुम्हें याद ही नहीं, तू अपनी आँखें मूंद लेना, निरुत्साह हो अपने अङ्गों को शिथिल करके पड़ जाना ॥१६०॥

झगिति नितम्बावरणं निःसहतनुतां स्मितं सवैलक्ष्यम्।
खेदालसां च दृष्टिं जनयिष्यसि मोहनच्छेदे ॥१६१॥

जब सुरत का प्रसंग समाप्त हो जाय तो झट अपने नितम्ब ढंक लेना, देह खिन्न कर लेना, शर्माती हुई मुस्कुराना और खेद के मारे अलसाते हुये देखना ॥१६१॥

वृत्ते रताभियोगे स्पृष्ट्वा सलिलं विविक्तभूभागे।
प्रक्षाल्य पाणिपादं स्थित्वा क्षणमासने समूह्य कचान् ॥१६२॥

जब रताभियोग समाप्त हो जाय तब निर्जन स्थान में जल-स्पर्श कर, हाथ-पैर धो, आसन पर तनिक बैठ, बालों को समेट ॥१६२॥

उपयुक्तवदनवासा शय्यामारुह्य दर्शितप्रणया।
इति वक्ष्यसि तं रमणं दृढतरमालिंग्य रभसतः कण्ठे ॥१६३॥

ताम्बूल आदि मुखवास ले, सेज पर चढ़, प्रणय दिखाते हुए, वेग से कस कर कंठालिङ्गन करते हुए उस रमण से यह कहना ॥१६३॥

भट्टसुत नूनमिष्टा तव जाया यदनुरक्तहृदयस्य।
जनयति परितुष्टिमलं नापररामापरिष्वंगः ॥१६४॥

हे भट्टपुत्र, निश्चय ही तुम्हारी पत्नी तुम्हें प्रिय है, क्योंकि जितना वह अनुराग भरे हृदय वाले तुम्हें अधिक सन्तुष्ट करती है उतना दूसरी रमणी का आलिङ्गन नहीं ॥१६४॥

सफलं तस्या जन्म स्पृहणीया सैव सकलललनानाम्।
गौरी तयैव महिता सुभगंकरणं तपस्तयाचरितम् ॥१६५॥

उसका जन्म सफल है, समस्त स्त्रियों में वह स्पृहणीय है, उसने ही गौरी की अर्चना की है, उसने सौभाग्यकरण तप किया है ॥१६५॥

सैवैका गुणवसतिस्तस्या एवान्वयः सदा श्लाघ्यः।
यस्याः शुभशतभाजः पाणिग्रहणं त्वया विहितम् ॥१६६॥

गुणों का भाजन वही एक है, उसी का वंश हमेशा प्रशंसनीय है, शत-शत पुण्यों के भाजन जिस सुन्दरी का तुमने पाणिग्रहण किया है ॥१६६॥

तिष्ठतु सा पुण्यवती वंशद्वयभूषणं वरारोहा ।
या नापयाति भवतो लक्ष्मीरिव नरकवैरिणो हृदयात् ॥१६७॥

पिता और पति के वंशों का भूषण, सुन्दर नितम्बों वाली वह तो है ही, जो विष्णु के हृदय से लक्ष्मी की भाँति तुम्हारे हृदय से दूर नहीं होती ॥१६७॥

पातयसि कुवलयनिभे कौतुकमात्रेण लोचने यासु ।
ता अपि सत्यं सुन्दर हर्षोच्छलिता न मान्ति गात्रेषु ॥१६८॥

जिन सुन्दरियों पर कौतुकमात्र से तुम अपनी कुवलय सदृश आँखें डाल देते हो, हे सुन्दर, वे भी इस प्रकार हर्षोच्छलित हो जाती हैं कि अपने अङ्गों में खुद नहीं अंट पाती हैं ॥१६८॥

तनुरपि नाथप्रणयः प्रायो मुखरीकरोति लघुमनसः ।
स्वार्थनिवेशितचित्ता करोमि तेऽभ्यर्थनां तेन ॥१६९॥

जिसका मन छोटा है उसे प्रिय का थोड़ा भी प्रणय प्रायः मुखर बना देता है। उसी कारण स्वार्थ को मन में रख कर तुमसे अनुरोध करती हूँ ॥१६९॥

तीव्रस्मरतारुण्याच्चापलतः कौतुकेन घृणया वा ।
मद्भाग्यसम्पदा वा दूत्या वा कौशलात्स्वभावाद्वा ॥१७०॥

उद्दीप्त कामदेव से युक्त जवानी से, या चपलतावश, या अनुग्रह से, या मेरे सौभाग्य से, या दूती के उपाय से, या स्वभाव से ॥१७०॥

योऽयं प्रेमलवांशः प्रदर्शितोऽस्मासु जीवनोपायः ।
बाधा नात्र विधेया गणिकाजनवृत्तमन्यथा बुद्ध्वा ॥१७१॥

जो कि यह हमारे जीवित रहने का उपाय-स्वरूप प्रेम का लेशमात्र हम पर तुमने प्रदर्शित किया है उसमें गणिका जनों के मनोभावों को गलत (अन्यथा) समझ कर बाधा नहीं करना ॥१७१॥

येन स्नेहः क्रोधः शाठ्यं दाक्षिण्यमार्जवं व्रीडा ।
एतानि सन्ति तास्वपि जीवद्धर्मोपनीतानि ॥१७२॥

जिस कारण से स्नेह, क्रोध, शठता, अनुकूलता, कोमलता, लज्जा ये

सब जीवित रहने वालों को निसर्गतः प्राप्त होते हैं वे सभी उन गणिकाओं में भी रहते हैं ॥१७२॥

निर्व्याजसमुत्पन्नप्रबलप्रेमाभिभूतहृदयानाम् ।
दयितविरहाक्षमाणां गणिकानां तृणसमाः प्राणाः ॥१७३॥

बिना छल-कपट के उत्पन्न प्रबल प्रेम के द्वारा अभिभूत हृदय वाली, एवं प्रिय के विरह को सहन न कर पाने वाली गणिकाएँ निज प्राणों को तृण-समान समझती हैं ॥१७३॥

अत्राकर्णय साद्भुतमाख्यानं वर्णयामि यद्वृत्तम् ।
अद्यापि बिभर्ति वटो विशेषणं यदभिसम्बन्धात् ॥१७४॥

इस प्रसंग में सुनो,मैं एक आश्चर्य-युक्त आख्यान, जो घटित हो चुका है, कहती हूँ, जिस घटना के साक्षिस्वरूप आज भी बरगद का पेड़ 'वेश्यावट' नाम से परिचित है ॥१७४॥

हारलता का आख्यान

'अस्ति महीतलतिलकं सरस्वतीकुलगृहं महानगरम् ।
नाम्ना पाटलिपुत्रं परिभूतपुरंदरस्थानम् ॥१७५॥

पाटलिपुत्र नाम का एक महानगर है, वह पृथ्वी का तिलक, सरस्वती का कुलगृह और इन्द्र के स्थान अमरावती को परिभूत करने वाला है ॥१७५॥

त्रिभुवनपुरनिष्पादनकौशलमिव पृच्छतो विरिंचस्य ।
दर्शयितुं निजशिल्पं वर्णकमिव विश्वकर्मणा विहितम् ॥१७६॥

जब ब्रह्मा ने त्रिभुवन के नगरों के निर्माण का कौशल विश्वकर्मा से पूछा तब मानों उन्होंने अपना शिल्प[1] दिखाने के लिये इस नगर को एक "वर्णक" (प्रतिनिध-चित्र) के रूप में निर्माण किया ॥१७६॥

अश्रेयोभिरनाश्रितमभिभूतं नातिभूतिदोषेण ।
न स्वीकृतमुपसर्गैः कलिकालमलैरनालीढम् ॥१७७॥

वहाँ अमङ्गल नहीं रहते, पराजय के दोषों से वह अभिभूत नहीं है,

१-शिल्प आठ प्रकार का होता है—आलेख्य,लेख्य, दारुकर्म, चितिकर्म, पाषाणकर्म, रौप्यकर्म, देवकर्म, चित्रकर्म ।

उत्पातों का वहाँ उपद्रव नहीं है, कलिकाल की खराबियाँ वहाँ नहीं पहुँची हैं ॥१७७॥

पातालतलं भोगिभिरम्भोधिर्विविधरत्नसंघातैः ।
सुरसदनं विबुधगणैर्द्रविणोपचयैः पुरं कुबेरस्य ॥१७८॥

भोगिगण (विलासी जन, श्लेष से सर्पगण) के निवास के कारण यह पाताल के समान है, नाना प्रकार के रत्नों के ढेरों से यह समुद्र के समान है, विबुधजनों (विद्वानों, श्लेष से देवताओं) के कारण अमरावती के समान है, धन की समृद्धियों से कुबेर की नगरी अलका के समान है ॥१७८॥

महिलाभिरसुरविवरं कटकं हि हिमाचलस्य गन्धर्वैः ।
हरिनगरं क्रतुयूपैः शमविभवैर्मुनिजनस्थानम् ॥१७९॥

महिलाओं के कारण वह असुरविवर [1] (स्त्रीप्राय असुरों के देश का प्रवेशमार्ग) के समान है, गन्धर्वों (गान करने वालों, पक्ष में देवयोनि विशेषों) के कारण वह हिमालय के मध्य देश से समान है, यज्ञ के 'यूप' नामक लकड़ी के बने खूंटों के कारण वह अयोध्या के समान है, शान्ति के विभवों के कारण वह मुनिजनों के वासस्थान आश्रम के समान है ॥१७९॥

तिष्ठन्तु सकलशास्त्रव्यालोचनविमलबुद्धयो विप्राः ।
सदसद्गुणनिर्णीतौ ललना अपि निकषभूमयो यत्र ॥१८०॥

समस्त शास्त्रों के अनुशीलन से विमल-बुद्धि ब्राह्मण जनों की बात कौन करे, जहाँ ललनाएं भी भले-बुरे के निर्णय में कसौटी का काम करती हैं ॥१८०॥

कलिकालोदितभीत्या क्रतुहुतवहधूमकम्बलावरणः ।
तिष्ठन्निभृतोपि कृतश्चरितैरनुमीयते यत्र ॥१८१॥

जहाँ कलिकाल से उत्पन्न डर के मारे यज्ञाग्नियों के धूम का कम्बल ओढ़े लुक-छिप कर रहते हुए भी धर्म का अनुमान (लोगों के) सदाचारों से होता है ॥१८१ ॥

१—'असुरविवर' में प्रवेश करने के लिए भूमि में बने किसी गहरे गड्ढे में प्रवेश किया जाता था । वेतालसाधन इसका मुख्य अंग था । उससे धन और स्त्री की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी । इसके साधक 'वातिक' कहे जाते थे ।

अपहरति पिधातुमिव स्वकलंकं शशधरः प्रसार्य करान् ।
रात्रौ यत्र वधूनां लावण्यं वदनकोषेभ्यः ॥ १८२॥

जहाँ चन्द्र मानों अपने कलंक को ढंकने के लिए करों (हाथों अथवा किरणों) को फैला कर रात्रि में वधूजनों के मुख के खजानों से लावण्य का अपहरण करता है ॥१८२ ॥

तिमिरपटलासिताम्बरमपहरदभिसारिकाजनौघस्य ।
निजतनु कान्तिवितानं वल्लभसम्भोगविहितये यत्र ॥१८३॥

जहाँ अभिसारिका जनों का अपने शरीर की कान्ति का वितान अन्धकार-समूह के काले वस्त्र को हटाता हुआ प्रिय मिलन के काम में आ जाता है ॥१८३ ॥

यत्र नितम्बवतीनां विचलन्नयनान्तशितशरैर्व्रणितः ।
शिथिलयति पथिकलोकः स्वकलत्रसमागमोत्कण्ठाम् ॥१८४॥

जहाँ नितम्ब वालियों के चंचल कटाक्षों के चोख बाणों से घायल होकर पथिक लोग अपनी पत्नियों के समागम की उत्कण्ठा शिथिल कर देते हैं ॥१८४ ॥

यत्र च कुलमहिलानामल्पत्वं वचसि पाणिपादे च ।
स्वच्छत्वमाशये च व्यालोलत्वं विशालनेत्रे च ॥१८५॥

जहाँ कुलवन्ती महिलाएं जिस प्रकार अल्पभाषिणी हैं उसी प्रकार उनके हाथ-पैर भी छोटे-छोटे हैं, उनके मन (आशय) जिस तरह स्वच्छ हैं उसी तरह उनकी चंचल और विशाल आँखें भी स्वच्छ हैं ॥१८५॥

स्तनजघनचिकुरभारे घनता जीवेशसहजरागे च ।
कुलदेवतार्चनविधौ बलिशोभा मध्यभागे च ॥१८६॥

उनके स्तन जघन और केशभार की तरह उनका प्रियतम के प्रति स्वाभाविक अनुराग भी घना है, कुलदेवताओं की पूजा में जिस तरह बलि (उपहार के पदार्थ) की शोभा होती है उसी प्रकार उनके कटिभाग में भी बलि (त्रिवलि) की शोभा है ॥१८६॥

गम्भीरता स्वभावे चेतोभवबाणतूणनाभौ च।
विस्तीर्णता नितम्बे गुरुजनपूजानुरक्तचित्ते च ॥१८७॥

कामदेव के बाण के तरकस की भाँति उनका नाभिकूप उनके स्वभाव के समान गम्भीर है, गुरुजनों की पूजा में अनुरक्त उनके चित्त की भाँति उनका नितम्ब विस्तीर्ण है ॥१८७॥

हरिणायतेक्षणनां विच्छित्तिः कोषहरणमब्जेषु ।
कुटिलत्वमलकपंक्तौ बालानां कामचेष्टितं यत्र ॥१८८॥

जहाँ विच्छित्ति (अतिशय शोभा) केवल हरिण के समान विशाल आँखों वाली सुन्दरियों में है (अत्र विच्छित्ति अर्थात् विच्छेद नहीं है), कोशहरण (अर्थात् हथियार रखने के बने चर्मपेटकों से हथियार निकालना) केवल अस्त्रों के सम्बन्ध में है (अन्यत्र प्रजाओं में किसी के कोश अर्थात् खजाने का हरण या लूटपाट नहीं होता), कुटिलता केवल बालों में है (लोगों में कुटिलता नहीं है), स्वेच्छाचार बालकों में है (न कि लोग स्वेच्छाचा करते हैं) ॥१८८॥

संयमनमिंद्रियाणामिनोपघातग्रहस्तमिस्रस्य ।
स्तब्धत्वं तालतरौ हारलतास्तरलसंगता यस्मिन् ॥१८९॥

संयमन (निग्रह) जहाँ केवल इन्द्रियों का होता है (लोगों का निग्रह या धर पकड़ नहीं होता), केवल सूर्य का उपघात रूप ग्रह राहु के पक्ष में होता है (न कि कोई भी अपने स्वामी का प्रातिकूल्य ग्रहण करता है), स्तब्धता केवल ताल के पेड़ों में है (लोगों में स्तब्धता अर्थात् प्रतिकूल व्यवहार नहीं), केवल हार-लताएं तरल (मध्यमणि) के साथ रहती हैं (लोग तरल अर्थात् किसी चंचल पुरुष के साथ नहीं रहते) ॥१८९॥

भुजगाः पररंध्रदृशः खण्डचन्ते प्रियतमाधरा यत्र ।
सूचीव्यथानुभूतिर्नृत्याभ्यासप्रवृत्तानाम् ॥१९०॥

दूसरों का रन्ध्र केवल सर्पगण देखते हैं (लोग दूसरों का रन्ध्र अर्थात् दोष या कमजोरी नहीं देखते), केवल प्रियतमाओं के अधर खण्डित किए जाते हैं dever (कोई खण्डित अर्थात् तिरस्कृत नहीं होता), जो नृत्यकला के अभ्यास में

प्रवृत हैं उन्हें केवल सूची (एक विशेष प्रकार का अभिनय) के कष्ट का अनुभव होता है (किसी अपराध के कारण सूची की व्यथा का कोई अनुभव नहीं करता) ॥१६०॥

नतवपुरप्यतिसरला मन्थरगमनापि नर्मदा यस्मिन् ।
गुरुजनशास्त्ररतापि स्वभावमुग्धाङ्गनाजनता ॥१६१॥

अतिसरला भी युवतियाँ जहाँ नत देहों वाली हैं (विरोध यह कि जो झुके शरीर वाली हैं वे अतिसरला अर्थात् बिलकुल सीधी-साधी कैसे हो सकती हैं ? परिहार यह कि अत्यन्त सरल स्वभाव वाली हैं), धीमी चाल चलने वाली होकर भी नर्मदा हैं (नर्मदा नदी तो बहुत वेग से बहती है, परिहार यह कि नर्म देने वाली अर्थात् परिहासरसिका हैं और जघन के भार से अलसाई होने के कारण धीमी चाल से चलती हैं), गुरुजनों में और शास्त्रों में रत होने पर भी मुग्धा हैं (विरोध यह कि शास्त्रज्ञानशील मुग्धा कैसे हो सकती हैं, परिहार यह कि मुग्धा अर्थात् सुन्दर हैं) ॥१६१॥

तस्मिन्मखशतपूतः पुरहूत इव द्विजन्मनां प्रवरः ।
गुरुरिव विद्यावसतिर्वसति स्म पुरंदरो नाम्ना ॥१६२॥

उस नगर में इन्द्र के समान सौ यज्ञ सम्पन्न करने से पवित्र, बृहस्पति के समान विद्वान, पुरन्दर नाम के एक ब्राह्मण-श्रेष्ठ निवास करते थे ॥१६२॥

धर्मात्मजस्य सत्यं त्रिपुररिपोर्विजितकुसुमचापत्वम् ।
हरिनाभिपंकजभुवो नियतेन्द्रियतां जहास यः सततम् ॥१६३॥

जो हमेशा युधिष्ठिर के सत्य की, शिवजी की कामदेव पर विजय की और विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा के इन्द्रियनियम की खिल्ली उड़ाया करते थे ॥१६३॥

न्यक्कृतवृष इति शर्वे याचक इति कौस्तुभाभरणे ।
पीडितवसुधासुत इति कपिले न बभूव यस्य बहुमानः ॥१६४॥

शिव ने वृष (धर्म) को नीचे झुका दिया (क्योंकि वे वृष अर्थात् नन्दिकेश्वर बैल पर चढ़ते हैं) अतः उनके प्रति, 'भिखमंगा है' यह विष्णु के प्रति, 'पृथ्वी और सगर-पुत्रों को पीड़ित किया है' यह कपिल के प्रति कहते हुए जो गौरव नहीं रखते थे ॥१६४॥

मार्गानुगतौ लुब्धो यः प्राणिवपुर्विनाशविमुखोऽपि ।
परिहृतपरदरोऽपि स्वाकांक्षितगुरुजनप्रमदः ॥१६५॥

प्राणियों के शरीर का विनाश करने से जो सर्वथा विमुख थे तो भी मार्ग (मृगसमूह) के अनुगमन करने में लुब्ध (व्याध) थे (परिहार यह कि मार्ग अर्थात् सन्मार्ग के अनुगमन करने के लोभी थे), जिन्होंने दूसरों की पत्नियों को सर्वथा त्याग दिया था तथापि स्वयं गुरुजनों की प्रमदाओं को चाहा करते थे (इस विरोध का परिहार यह कि गुरुजनों का प्रमद अर्थात् हर्ष चाहा करते थे) ॥१६५॥

यस्यान्वये महीयसि सरसीव समस्तसत्त्वनिजवसतौ ।
सच्चरितजन्मभूमौ विनिवारितकलिमलप्रसरे ॥१६६॥

सरोवर के समान समस्त सत्त्वों (सत्त्व-गुणों अथवा जीवों) के निवास-स्थान, सच्चरितों के जन्म-ग्रहण करने की भूमि, कलिकाल के दोषों से रहित जिसके कुल में ॥१६६॥

पितृतर्पणप्रसङ्गे खड्गग्रहणं न शौर्यदर्पे च ।
त्रुटनं मेखलिकानां वटुकजने नो रताभिसंमर्दे ॥१६७॥

जब कभी पितृ-तर्पण का प्रसंग उपस्थित होता तभी खड्ग (अर्थात् गैंडे की सींग के बने पात्र) का ग्रहण किया जाता था न कि शूरता के घमंड से कोई खड्ग अर्थात् तलवार ग्रहण करता था, मेखलाओं अर्थात् करधनियों का टूटना छोटे बच्चों का होता था, न कि सुरत की रगड़ में मेखलाएं टूटती थीं ॥१६७॥

श्रुतिभेदेषु विवादो नो रिक्थविभागमन्युना कलितः ।
तेजस्विता हविर्भुजि न शमैकरतेषु भूमिदेवेषु ॥१६८॥

विवाद केवल वेदों के भेदों के बारे में हुआ करता था न कि धन के विभाग या बंटवारे के कारण उत्पन्न क्रोध से विवाद उठ खड़ा होता था, तेजस्विता केवल अग्नि में थी, न कि शमप्रधान ब्राह्मणों में ॥१६८॥

जरतामेव स्खलनं जपतामेवाधरस्फुरणम् ।
यजतामेव समिद्रुचिरेणाजिन एव कृष्णसंपर्कः ॥१६९॥

स्खलन केवल बूढ़ों का होता था, अधर का फरफराना केवल जप करने

वालों का होता था, समित् अर्थात् समिधा की इच्छा यज्ञ करने वालों को ही होती थी (न कि कुल के लोगों के समित् अर्थात् युद्ध की इच्छा होती थी) कालिमा का सम्पर्क केवल मृगचर्म में ही होता था (न कि कुलीन लोगों में कालिमा अर्थात् पाप का सम्पर्क था) ॥१९९॥

तस्याभूत्सकलकलोद्भासितपक्षद्वयस्य सुत एकः ।
नाम्ना सुन्दरसेनः कच इव वचसामधीशस्य ॥२००॥

बृहस्पति के जैसे कच नाम का पुत्र हुआ उसी प्रकार अपनी समस्त कलाओं से मातृकुल और पितृकुल को उद्भासित करने वाले उस पुरन्दर के सुन्दरसेन नाम का एक पुत्र था ॥२००॥

पशुपतिनयनहुताशनभस्मितमवधार्यं यं वपुष्मन्तम् ।
अपरमिव कुसुमचापं रतिरतये निर्ममे धाता ॥२०१॥

विधाता ने कामदेव को शिवजी की नेत्राग्नि से भस्म हुए देखकर रति की तृप्ति के निमित्त शरीरधारी दूसरा कामदेव मानो बना डाला था ॥२०१॥

तिष्ठन्तु तावदन्याः कुलललना यस्य रूपमवलोक्य ।
सापि महामुनिदयिता कृच्छ्रेण ररक्ष चारित्रम् ॥२०२॥

दूसरी कुलवन्तियों की बात दूर रहे, जिसका रूप देख कर महामुनि की पत्नी (वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती अथवा अत्रि की पत्नी अनसूया) भी बड़ी मुश्किल से अपने चरित्र की रक्षा कर सकी थीं ॥२०२ ॥

कलधौतफलकशोभां बिभ्राणं यस्य पृथुतरं वक्षः ।
दृष्टवा चिराय लक्ष्मीर्हरिहृदये दुःस्थितिं मेने ॥२०३॥

सुवर्ण के पाट जैसे जिसके विशाल वक्षःस्थल को देख कर लक्ष्मी देर तक विष्णु के हृदय पर अपना निवास कष्टप्रद समझती रही ॥२०३॥

कथमीदृग्यदि न कृतः शशिशकलैरथ कृतः कथं व्यथकः ।
इत्थं यमीक्षमाणो निर्णयमगमन्न कामिनीसार्थः ॥२०४॥

कामिनी-समूह जिसे देखता हुआ इस प्रकार किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा कि यदि यह चन्द्र के खंडों से नहीं बना है तो ऐसा कैसे है ? ॥२०४॥

यो जग्राह हिमांशोः प्रसन्नमूर्तित्वमचलतः स्थैर्यम् ।
जलधरत उन्नतत्वं गाम्भीर्यं यादसां पत्युः ॥२०५॥

जिसने चन्द्रमा से प्रसन्न-मूर्ति होना, पर्वत से स्थिरता, मेघ से उन्नति और समुद्र से गाम्भीर्य ग्रहण किया था ॥२०५॥

यो विनयस्य निवासो वैदग्ध्यस्याश्रयः स्थितेः स्थानम् ।
प्रियवाचामायतनं निकेतनं साधुचरितस्य ॥२०६॥

जो विनय का निवास, विदग्धता का आश्रय, मर्यादा का स्थान, प्रियवचनों का आयतन एवं साधु चरित का निकेतन था ॥२०६॥

यो मदनः प्रमदानां तुहिनकरः साधुकुमुदषण्डस्य ।
निकषोपलो गुणानां मार्गतरुः पथिकलोकस्य ॥२०७॥

जो प्रमदाओं का मदन, साधुजन रूपी कुमुदखण्ड को विकसित करने वाला चन्द्र, गुणों का निकष एवं पथिक जनों का मार्गवृक्ष था ॥२०७॥

सज्जनगोष्ठीनिरतः काव्यकथाकनकनिकषपाषाणः ।
प्रणयिजनकल्पवृक्षो लक्ष्मीलीलाविहारभूमिश्च ॥२०८॥

जो सज्जनों की सभा में बैठा रहता, काव्यालाप रूप सोने का निकष, प्रेमी जनों के लिए कल्पवृक्ष और लक्ष्मी की लीलाओं की विहार-भूमि था ॥२०८॥

जलधिरिव तुहिनभासः सहवृद्धिपरिक्षयः सुहृत्तस्य ।
सकलोपधाविशुद्धो बभूव गुणपालितो नाम्ना ॥२०९॥

चन्द्र का समुद्र के समान साथ ही बढ़ने-घटने वाला उसका सब प्रकार से परीक्षित गुणपालित नाम का एक मित्र था ॥२०९॥

तेन समं स कदाचित्तिष्ठन्रहसि प्रसङ्गतः पतिताम् ।
केनापि गीयमानामशृणोदार्यामिमां सहसा ॥२१०॥

उसके साथ किसी समय बैठे हुए उसने प्रसंग से प्राप्त, किसी के द्वारा गाई गई इस आर्या को सहसा सुना ॥२१०॥

'देशान्तरेषु वेषस्वभावभणितानि ये न बुध्यन्ते ।
समुपासते न च गुरून्विषाणविकलास्त उक्षाणः' ॥२११॥

दूसरे देशों की वेषभूषा, रहन-सहन और बोली जिन्हें मालूम नहीं तथा गुरुजनों की सेवा जिन्होंने नहीं की वे बिना सींग के बैल हैं ॥२११॥

आकर्ण्याथ तमूचे वचनमिदं सुन्दरः सुहृन्मुख्यम् ।
शोभनमेतद्गीतं गुणपालित साधुनानेन ॥२१२॥

सुनकर सुन्दरसेन अपने प्रधान मित्र से बोला—'गुणपालित, इस भले-मानुस ने ठीक यह गीत गाया है ॥२१२॥

साधूनामाचरितं खलचेष्टां विविधलोकहेवाकान् ।
नर्मं विदग्धैर्विहितं कुलटाजनवक्रकथितानि ॥२१३॥

गुरुगेहशास्त्रतत्त्वं विटवृत्तं धूतवंचनोपायान् ।
वारिधिपरिखां पृथ्वीं जानाति परिभ्रमन्पुरुषः ॥२१४॥

जब आदमी समुद्र से घिरी पृथ्वी पर भ्रमण करता है तब वह सज्जनों के आचरण, दुर्जनों की चेष्टा, विविध प्रकार के लोगों की उत्कंठा, विदग्धजनों के परिहास, कुलटाओं की वक्रोक्तियाँ, गम्भीर और गूढ़ शास्त्रों का तत्व, विटों का वृत्तान्त और धूर्तों के ठगने के उपाय से परिचित होता है ॥२१३-२१४॥

अत उज्झित्य गृहस्थितिसुखलेशं विविधलाभपरिणामे ।
स्थापय गमनारम्भे वयस्य हृदयं मया सहितः ॥२१५॥

अतः हे मित्र, घर पर पड़ा रहने के लेशमात्र सुख को छोड़, विविध प्रकार के लाभ के परिणामस्वरूप मेरे साथ इस गमन-कार्य में मन को प्रवृत्त करो' ॥२१५॥

इत्थं निगदितवन्तं सुहृदुत्तरलाभलालसात्मानम् ।
ऊचे सुन्दरसेनं लज्जित इव सहचरो वचनम् ॥२१६॥

इस प्रकार मित्र के उत्तर सुनने के इच्छुक कहते हुए सुन्दरसेन से उसका साथी लज्जित-सा बोला ॥२१६॥

अभ्यर्थनानुबन्धो लज्जाकर एव मादृशां किंतु ।
आकर्णय कथयामः पथिकानां यानि दुःखानि ॥२१७॥

'मुझ-जैसों से बार-बार प्रार्थना करना लज्जाकर ही है, किन्तु सुनो, पथिकों के मार्ग में जो कष्ट होते हैं, उन्हें कहता हूँ ॥२१७॥

कर्पटकावृतमूर्तिर्दूराध्वपरिश्रमावसितशक्तिः ।
पांसूत्कटधूसरितो दिनावसाने प्रतिश्रयाकांक्षी ॥२१८॥

पथिक देह में फटा-पुराना कपड़ा लपेटे, सुदूर मार्ग पर चल कर थक जाने से समाप्तप्राय बल वाला, धूल-धक्कड़ से भरा, दिन बीत जाने पर निवास स्थान का इच्छुक ॥२१८॥

मातर्भगिनि दयां कुरु मामैवं निष्ठुरा भव तवापि ।
कार्यवशेन गृहेभ्यो निर्यान्ति भ्रातरश्च पुत्राश्च ॥२१९॥

इस प्रकार बहुत तरह की दीन बातें करता है कि, माँ, बहन, मुझ पर दया करो, इस तरह निठुर न बनो, तुम्हारे भी भाई और लड़के कार्यवश घर से बाहर निकलते हैं ॥२१९॥'

किं वयमुत्पाट्य गृ प्रातर्गन्तार ईदृगेव सताम् ।
भवति निवासो यस्मिन्निज इव पथिकाः प्रयान्ति विश्रामम् ॥२२०॥

क्या हम लोग प्रातःकाल घर उखाड़ कर ले भागेंगे ? सज्जनों का निवास स्थान ऐसा ही होता है, जहाँ पथिक अपने घर की भाँति विश्राम पाते हैं ॥२२०॥

अद्य रजनीं नयामो यथाकथंचित्तवाश्रये मातः ।
अस्तं गतो विवस्वान्वद सम्प्रति कुत्र गच्छामः ॥२२१॥

माँ, तुम्हारे आश्रम में जिस किसी तरह आज रात गुजार लेंगे । सूरज डूब गया, कहो इस समय कहाँ जाँय ? ॥२२१॥

इति बहुविधदीनवचाः प्रतिगेहद्वारदेशमधितिष्ठन् ।
निर्भर्त्स्यतेव राको गृहिणीभिरिदं वदन्तीभिः ॥२२२॥

प्रत्येक घर के दरवाजे पर खड़ा हुआ वह यह कहती हुई घर वाली स्त्रियों से दुत्कारा जाता है ॥२१३॥

न स्थित इह गेहपतिः किं रटसि वृथा प्रयाहि देवकुलम् ।
कथितेऽपि नापगच्छति पश्य मनुष्यस्य निर्बन्धम् ॥२२३॥

'मालिक घर पर नहीं हैं, क्यों व्यर्थ का बकवास कर रहे हो ? मन्दिर में चले जाओ, देखो कहने पर भी नहीं टसकता, मर्दों की जात बड़ी ढीठ होती है' ॥२२३॥

अथ यदि कथंचिदपरः पुनः पुनर्याचितो गृहस्वामी ।
निर्दिशति सावधीरणमत्र स्वपिहीति जीर्णगृहकोणे ॥२२४॥

और यदि किसी प्रकार दूसरे घर का मालिक बार-बार मांग करने पर नाक-भौं सिकोड़ कर बता देता है कि इस पुराने घर के कोने में सो जाओ ॥२२४॥

तत्र कलहायमाना तिष्ठति गृहणी विभावरीप्रहरम् ।
अज्ञाताय किमर्थं वासो दत्तस्त्वयेति सह भर्त्रा ॥२२५॥

तो उसकी घर-वाली यह कहती हुई कि अनजान आदमी को क्यों घर में तुमने वास दे दिया, सारी रात पति से झगड़ती रहती है ॥२२५॥

ईदृगयं सरलात्मा किं कुर्मो भगिनि तावको भर्ता ।
स्थास्यसि गेहेऽवहिता भ्रमन्ति खलु वंचका एवम् ॥२२६॥

'बहिन तेरा मरद बड़ा सीधा है, तू क्या करती है ? जरा घर से सचेत होकर रहना । इस तरह ठग घूमा करते हैं' ॥२२६॥

इति भाजनादियाच्ञां बुद्धौ विनिधाय निकटवर्तिनो गेहात् ।
नारीजनः समेत्य ब्रूते तामाप्तभावेन ॥२२७॥

इस प्रकार पड़ोस के मकान से बर्तन आदि मांगने के बहाने स्त्रियाँ आकर बड़े यथार्थभाषी के रूप में कह जाती हैं ॥२२७॥

गृहशतमधिकमटित्वा कलमकुलत्थाणुचणमसूरादि ।
एकीभूतं भुंक्ते क्षुधोपतप्तोऽध्वगो भैक्षम् ॥२२८॥

देर तक सैकड़ों घर घूम कर पथिक धान, कुलथी, चीनी, चना, मसूर आदि एक में मिला हुआ भिक्षान्न भूख से पीड़ित हो खाता है ॥२२८॥

परवशमशनं वसुधा शयनीयं सुरनिकेतनं सद्म ।
पथिकस्य विधिः कृतवानुपधानकमिष्टिकाखण्डम् ॥२२९॥

विधाता ने पथिक का भोजन पराधीन, शय्या धरती, घर देवमन्दिर और तकिया ईंट का टुकड़ा बनाया है ॥२२९॥

इति निगदितवति तस्मिन्सुन्दरसेनस्य चोत्तरावसरे ।
इयमुपगीता गीतिः केनापि कथाप्रसङ्गेन ॥२३०॥

वह यह कह ही रहा था और सुन्दरसेन को जब उत्तर देने का अवसर हुआ इसी बीच किसी ने कथा के प्रसङ्ग से यह गीति सुनाई ॥२३०॥

'निजवरभवनं सुरगृहमुर्वीतलमतिमनोहरं शयनम् ।
कदशनममृतमभीप्सितकार्यैकनिविष्टचेतसां पुंसाम्' ॥२३१॥

'जिन लोगों का चित्त अभीष्ट कार्य के सम्पादन में पूरी तरह लग चुका है उनके लिए देवमन्दिर अपना ही भवन बन जाता है, धरती अति मनोहर शय्या हो जाती है, खराब भोजन अमृत बन जाता है' ॥२३१॥

तां च श्रुत्वा सुहृदं पौरन्दरिरिदमुवाच परितुष्टः ।
मम हृदयगतं प्रकटितमेतेन सहैव गच्छामः ॥२३२॥

उसे सुन कर पुरन्दर का लड़का सुन्दरसेन सन्तुष्ट हो अपने मित्र से बोला 'इसने मेरे दिल की बात साथ ही खोल दी, तो हम चलें' ॥२३२॥

अथ सहचरद्वितीयः क्लेशसमुद्रावतरणकृतचित्तः ।
निरगात्सुन्दरसेनः कुसुमपुरादविदितः पित्रा ॥२३३॥

अनन्तर सुन्दर सेन दूसरे साथी के साथ क्लेश का समुद्र पार करने के लिए निश्चय करके पिता के अनजाने ही कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) से निकल पड़ा ॥२३३॥

पश्यन्विदग्धगोष्ठीरभ्यस्यन्नायुधानि विविधानि ।
शास्त्रार्थानधिगच्छन्विलोकयन्कौतुकान्यनीकानि ॥२३४॥

विदग्ध जनों की गोष्ठियाँ[1] देखता, नाना प्रकार के आयुधों का अभ्यास

[1]—प्राचीन काल में यहाँ कई प्रकार की गोष्ठियां प्रचलित थीं, जैसे जल्प-गोष्ठी, पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, वीणागोष्ठी

करता, शास्त्र के अर्थों को समझता, अनेक कौतुकों को अवलोकन करता ॥२३४॥

जानन्पत्रच्छेदनमालेख्यं सिक्‌थपुस्तकर्माणि ।
नृत्यं गीतोपचितं तन्त्रीमुरजादिवाद्यभेदांश्च ॥२३५॥

पत्ते पर कटाव की कला, चित्र, मोम और काष्ठ की पुत्तलिका बनाने का कौशल, नृत्य, गीत, तंत्री, मुरज आदि वाद्यभेद सीखता ॥२३५॥

बुध्यन्वंचकभङ्गीर्विटकुलटानर्मवक्रकथितानि ।
बभ्राम सुहृत्सहितः सुन्दरसेनो महीमखिलाम् ॥२३६॥

एवं ठगों की चालें और विटों तथा कुलटाओं के परिहास-वचनों, वक्रोक्तियों को समझता[1] मित्र के साथ सुन्दर सेन समस्त पृथ्वी पर घूमा ॥२३६॥

अथ विदिसमकलशास्त्रो विज्ञाताशेषजनसमाचारः ।
निजगृहगमनाकांक्षी स शिलोच्चयमर्बुदं प्राप ॥२३७॥

तत्पश्चात् सकल शास्त्रों के ज्ञान प्राप्त कर, अशेष जनों के रहन-सहन मालूम कर, अपने घर जाने का इच्छुक वह आबू (अर्बुद) पर्वत पर पहुँचा ॥२३७॥

तत्पृष्ठदेशदर्शनलोलमतिं सुन्दरं परिज्ञाय ।
गुणपालितो बभाषे विलोक्यतामद्रिराज इति ॥२३८॥

जब गुणपालित ने देखा कि सुन्दरसेन आबू पर्वत के पीछे का भाग देखने के लिए चंचल हो रहा है, तब बोला—'देखो इस पर्वतराज को ॥२३८॥

आदि । बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'विद्यागोष्ठी' का उल्लेख किया है । विद्या, धन शील, बुद्धि और आयु में मिलते-जुलते लोग जहाँ अनुरूप बातचीत के द्वारा एक जगह आसन जमावें उसे 'गोष्ठी' कहते हैं :—

समानविद्यावित्तशीलबुद्धिवयसामनुरूपैरालापैरेकत्रासनबंधो गोष्ठी ।

वात्स्यायन ने लोकविद्विष्टा पर-हिंसात्मिका गोष्ठी और लोक चित्तानुवर्तिनी गोष्ठी के नाम से अच्छी और बुरी के भेद से गोष्ठियों का दो सामान्य विभाग कर दिया है । इन सब प्रकार की गोष्ठियों में वैदग्ध्य या बुद्धिचातुर्य अपेक्षित होता है । अतः प्रस्तुत में इन सभी प्रकार की गोष्ठियों का निर्देश है ।

१—महाकवि बाण ने भी अपने घुमक्कड़ी (इत्वर) जीवन में कुछ इसी

एष सुतः सानुमतः स्यन्दच्छीताच्छसलिलसम्पन्नः ।
लोकानुकम्पयेव प्रालेयमहीभृता मरौ न्यस्तः ॥२३९॥

प्रवहमान शीतल जल से सम्पन्न यह पर्वत हिमालय का पुत्र है, जिसे हिमालय ने लोगों पर अनुकम्पा करके मरुभूमि में रख दिया है ॥२३९॥

शिशिरकरकान्तमौलिः कटकस्थितपवनभोजनः सगुहः ।
विद्याधरोपसेव्यो बिभर्त्ति लक्ष्मीमयं शंभोः ॥२४०॥

यह शिवजी की शोभा धारण करता है, क्योंकि इसके भी शिखर पर चन्द्रकान्त मणि हैं (शिव जी का सिर चन्द्र से कान्त अर्थात् मनोहर लगता है), इसके भी कटक अर्थात् मध्यभाग में सर्प निवास करते हैं (शिवजी के कटक अर्थात् वलय के रूप में सर्प रहते हैं), यह भी सगुह (अर्थात् गुहाओं से युक्त) है (और शिवजी गुह अर्थात् कार्तिकेय के सहित हैं), यह भी विद्याधरों से सेवित है (और शिवजी विशेष प्रकार की मंत्र-तंत्र विद्या को धारण करने वाले योगियों से युक्त हैं) ॥२४०॥

अत्र तरुशिखरसंगतसुमनस इति जातनिश्चयो मन्ये ।
अभिलषति समुच्चेतुं तारा निशि मुग्धकामिनीलोकः ॥२४१॥

यहाँ मुग्ध कामिनियाँ रात में वृक्षों के शिखरों पर लगे फूल समझ कर आश्चर्य से भर कर तारों को तोड़ लेने की इच्छा करती हैं ॥२४१॥

आश्चर्यं यतुपान्ते तिष्ठन्त्येतस्य सप्त मुनयोऽपि ।
अथवा कस्याकर्षं न करोति समुन्नतिर्महताम् ॥२४२॥

आश्चर्य तो इसमें है कि इस पर्वत के समीप ही सप्तर्षि तारे रहते हैं, अथवा इसमें आश्चर्य कैसा, बड़ों की समुन्नति किसे आकृष्ट नहीं करती ? ॥२४२॥

अवगत्य निरवलम्बनमम्बरमार्गं पतंगतुरगाणाम् ।
अयमवनिधरो मन्ये विश्रान्त्यै वेधसा विहितः ॥२४३॥

ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ने आकाश मार्ग को निरवलम्बन जानकर सूर्य के घोड़ों के विश्राम के लिये इस पर्वत को बनाया है ॥२४३॥

प्रकार की उपलब्धियां हासिल की थीं, जैसा कि 'हर्षचरित' में वे लिखते हैं–उदार व्यवहार वाले बड़े बड़े राजकुलों को देखता, अनिन्द्य विद्याओं से उद्भासित गुरुकुलों में निवास करता, मूल्यवान् बात-चीत और गम्भीर गुणों वाले लोगों की गोष्ठियों में भाग लेता एवं विदग्ध जनों के मण्डलों (गोष्ठियों) का गाहन करता ...(प्रथम उच्छ्वास) ।

इममाश्रित्य हिमांशोरोषधयः संनिकर्षमुपयाताः।
प्रत्यासत्तिः प्रभुणा प्रायोऽनुग्राहकवशेन ॥२४४॥

इसी पर्वत को आश्रयण करके ओषधियों ने (अपने पति) चन्द्र का सन्निकर्ष प्राप्त किया, प्रायः बीच वाले अनुग्राहक के माध्यम से प्रभु का सान्निध्य लाभ होता है ॥२४४॥

सेक्तुमिवाशाकरिणोविसृजत्ययमवनिधरणपरिखिन्नान्।
निर्झरसलिलकणौघान् भवति हि सौहार्दमेककार्याणाम् ॥२४५॥

यह पर्वत पृथ्वी धारण करने से नितान्त खिन्न दिग्गजों को मानों सींचने के लिये अपने निर्झरों के जल-शीकर छिड़कता है, क्योंकि एक ही कार्य करने वालों का आपस में सौहार्द हो जाता है (पृथ्वी धारण करने का जो कार्य दिग्गजों का है वही महीभृत् होने से पर्वत का भी है) ॥२४५॥

हारीताहितशोभो मुदितशुको व्यासयोगरमणीयः।
विश्रान्तभरद्वाजः समतामयमेति मुनिनिवासस्य ॥२४६॥

हारीत पक्षियों (हारिल चिड़ियों) से शोभित, शुक पक्षियों सेउल्लसित, व्यास (विस्तार) के कारण रमणीय, भरद्वाज (भरत पक्षियों) का विश्राम-स्थान यह पर्वत हारीत, शुक, व्यास, भरद्वाज मुनियों से सेवित आश्रम की समता प्राप्त करता है ॥२४६॥

अस्मिन्निःसंगा अपि परलोकप्राप्त्युपायकृतयत्नाः।
गन्धवहभोजना अपि न हिंसका फलभुजोऽपि न प्लवगाः ॥२४७॥

यहाँ निःसङ्ग होकर भी परलोक (अन्य लोक अथवा मनुष्य पक्ष में मृत्यु के बाद जो लोक मिलता है) की प्राप्ति के उपाय में प्रयत्नशील, वायु भोजन करने वाले (सर्प, हिंसक प्राणी) होकर भी अहिंसक, वानर न होकर भी फल के भोगी ॥२४७॥

शुभकर्मैकरता अपि षट्कर्माणोऽयता अपि स्ववशाः।
अनभिमतरौद्रचरिताः शिवप्रिया अपि वसन्ति शमनिरताः ॥२४८॥

एकमात्र शुभ कर्म में निरत होकर भी षट्कर्म (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह) में निरत, यत (बद्ध, पक्ष में जितेन्द्रिय) होकर भी स्वाधीन, रौद्रचरित (रुद्र = शंकर के चरित, पक्ष में भयंकर आचरण)

में अनभिमत होकर भी शिव के प्रेमी, शान्त स्वभाव (तपस्वी जन) निवास करते हैं ॥२४८॥

मूर्तिरिव शिशिररश्मेर्हरिणवती सप्तपत्रकृतशोभा ।
सरणिरिव चण्डभासः पलाशिनी यातुधानजायेव ॥२४९॥

मृग के रहने से मृगांक (चन्द्र) की मूर्ति के समान, सप्तपत्र वृक्ष (सतवन के पेड़ों) से शोभित हो सतपत्र (सात घोड़ों) वाले सूर्य के रथ की सरणि के समान, पलाश वृक्षों से शोभित होकर पलासिनी (मांस भक्षण करने वाली) राक्षसी सेना के समान ॥२४६॥

सोत्कण्ठेव समदना वासकसज्जेव कृततिलकशोभा ।
बहुहरिपीलुसनाथा नरनाथद्वारभूमिरिव ॥२५०॥

मदन वृक्ष (धतूरे के पेड़) के रहने के कारण समदना उत्कण्ठिता[1] नायिका के समान, तिलक वृक्षों के अवस्थित होने के कारण तिलक (विशेषक) से शोभित वासकसज्जा[2] नायिका के समान बहुत से हरिचन्दन और पीलु वृक्षों से युक्त होने से हरि (अश्व), पीलु (हाथी) से समायुक्त राजद्वार-भूमि के समान ॥२५०॥

अर्जुनबाणव्रातैः कुरुनाथवरूथिनीव संछन्ना ।
ऋक्षसहस्रोपचिता लक्ष्मीरिव गगनदेशस्य ॥२५१॥

अर्जुन और बाण नामक वृक्षों से ढँकी रहने के कारण अर्जुन के बाण समूह से ढँकी कौरव सेना के समान, हजारों ऋक्षों (भालुओं) से संवर्धित होने से ऋक्ष-सहस्र (हजारों तारागण) संवर्धित आकाश-लक्ष्मी के समान ॥२५१॥

ध्वजिनीव दानवानां मृष्टकसमधिष्ठिता त्रियामेव ।
उद्यातरोहिणीका रम्येयमुपत्यका भाति ॥२५२॥

मिष्टक अर्थात् आम्रवृक्षों से अधिष्ठित होने से मिष्टक नामक दैत्य से

१—प्रियमिलन की उत्कण्ठा वाली नायिका। यह काम से अत्यन्त अभिभूत, तरल मानस वाली, पसीने से तर और कांपती हुई एवं रोमांञ्चित अङ्गों वाली नायिका 'उत्कंठिता' कहलाती है।

२—यह अवस्थाकृत भेद के अनुसार अष्टविध नायिकाओं में एक प्रकार की नायिका है। जब नायिका प्रिय के आगमन की उत्कंठा में अपने वासकागार (भोगावास) को सब प्रकार से सुसज्जित करके बैठती है तब उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।

समधिष्ठित दानवी सेना के समान, रोहिणी अर्थात् हरीत के उत्पन्न होने से रोहिणी नामक नक्षत्र जिसमें उदित है ऐसी रात्रि के समान यह रमणीय उपत्यका (पर्वत के नीचे की समतल भूमि) शोभा दे रही है ।।२५२।।

इति दर्शयति वयस्येसुन्दरसेने च पश्यतिप्रीत्या ।
स्वप्रस्तावोपगता गीतिरियं केनचिद्गीता ।।२५३।।

इस प्रकार जब मित्र दिखा रहा था और सुन्दरसेन ललक से देख रहा था तभी किसी ने अपने कथा-प्रसंङ्ग में याद आई इस गीति (एक प्रकार की आर्या) का गान किया ।।२५३।।

'अतिशयितनाकपृष्ठं पृष्ठं ये नार्बुदस्य पश्यन्ति ।
बहुविषयपरिभ्रमणं मन्ये क्लेशाय केवलं तेषाम्' ।।२५४।।

'स्वर्ग से बढ़ कर इस आबू पर्वत के पृष्ठभाग को जो नहीं देखते, उनका बहुत से देशों का घूमना केवल क्लेश के लिए हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ' ।।२५४।।

आकर्ण्य च स बभाषे महात्मनानेन युक्तमुपगीतम् ।
शिखरिशिरः पश्यामो वयस्य रम्यं समारुह्य ।।२५५।।

सुनकर सुन्दरसेन बोला—'मित्र, इस भलेमानुस आदमी ने ठीक कहा है, इस पहाड़ की रमणीय चोटी पर चढ़ कर देखें, ।।१५५।।

अथ गिरिवरमारूढो विलोकयन्विविधविबुधभवनानि ।
वापीरुद्यानभुवः सरांसि सरितश्चचार विस्मेरः ।।२५६।।

अनन्तर वह पहाड़ की चोटी पर चढ़ गया, वहाँ अनेक प्रकार के देवालयों, वापियाँ, उद्यान, सरोबर और नदियाँ आश्चर्य के साथ देखता हुआ घूमने लगा ।।२५६।।

विचरन्नुपवनमण्डपपुष्पप्रकराभिरामभूपृष्ठे ।
रममाणां सह सख्या ललनामालोकयामास ।।२६०।।

(इसी समय) पुष्पाकीर्ण अभिराम उपवन भूमि में विचरण करते हुए उसने सखी के साथ क्रीड़ा करती हुई एक ललना को देखा ।।२६०।।

अचिराभामिव विघनां ज्योत्स्नामिव कुमुदबन्धुना विकलाम्।
रतिमिव मन्मथरहितां श्रियमिव हरिवक्षसः पतिताम् ।।२५७।।

वह मेघवियुक्त बिजली, चन्द्रविकला चाँदनी, मन्मथरहिता रति, विष्णु के वक्ष से गिरी लक्ष्मी ।।२५७।।

हस्तोच्चयं विधातुः सारं सकलस्य जंतुजातस्य ।
दृष्टान्तं रम्याणां शस्त्रं संकल्पजन्मनो जैत्रम् ॥२५८॥

विधाता के हस्त शिल्प का नमूना, समस्त जीवनगत् का सार, रमणीय वस्तुओं का दृष्टान्त, कामदेव का जयशील शस्त्र ॥२५८॥

विकसितकुसुमसमृद्धिं श्रृंगाररसापगैककलहंसीम् ।
लीलापल्लववल्लीं व्रतिनामवधानवर्मणां भल्लीम् ॥२५६॥

खिले हुए पुष्पों की समृद्धि, श्रृङ्गार रस की नदी की एकमात्र कलहंसी, लीला के पल्लवों वाली लता और तपस्वियों की समाधि की कवच को चकनाचूर कर देने वाली भल्ली थी ॥२५६॥

अवलोकयतस्तस्य स्मरसायकवेध्यतामुपगतस्य ।
इदमभवन्मनसि चिरं विस्मयभाराभिभूयमानस्य ॥२६१॥

जब सुन्दरसेन उसे देखता हुआ कामदेव के बाण से विंध गया तब आश्चर्य के भार से अभिभूत होते हुए उसने देर तक मन में यह सोचा ॥२६१॥

क्वेदं खलु विश्वसृजः कौशलमत्यद्भुतं समुपजातम् ।
येन विरुद्धानामपि घटितैकत्र स्थितिस्तथाहीयम् ॥२६२॥

'यह विधाता का अद्‌भुत निर्माण कौशल कहाँ से उत्पन्न हुआ, जिससे परस्पर विरुद्ध पदार्थों का एकत्र संघटन है ॥२६२॥

ललितवपुर्निर्दोषा स्फुरदुज्ज्वलतारकाभिरामा च ।
निर्वाच्यवदनकमला जितवीणा क्वणितवाणी च ॥२६३॥

जैसा कि यह रमणी ललित देह वाली निर्दोष और चमकदार और उज्ज्वल आँखों के तारों से अभिराम है। इसका मुखकमल अवचनीय है, वाणी वीणा को पराजित करने वाली है और क्वणन (वीणा की आवाज) जैसी है ॥२६३॥

प्रकटितविग्रहसंस्थितिरतिशोभाघटितसंधिबन्धा च ।
उन्नतपयोधराढ्या शरदिन्दुकरावदाता च ॥२६४॥

उसके अंगों का संस्थान स्पष्ट दिखाई दे रहा है और अपनी अधिकतम शोभा से इसके सब अङ्गों का मेल बैठा हुआ है, ऊँचे-ऊँचे पयोधरों (स्तनों) वाली है और शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी के समान धवल है। ।२६४॥

अभिमतसुगतावस्थितिरभिनन्दितचरणयुगलरचना च।
अतिविपुलजघनदेशा विध्वस्तशरीरविहितशोभा च ॥२६५॥

सुन्दर चाल से चलना और रुकना इसे अभिमत है और जिसके दोनों चरणों की रचना का लोग अभिनन्दन करते हैं। इसका जघनदेश अति विशाल है और कामदेव के कारण इसकी शोभा है [1] ॥२६५॥

१—ऊपर के तीन श्लोकों (२६४-२६६) में कवि ने प्रस्तुत नायिका में श्लेष घटित विरोधाभास के द्वारा परस्पर विरोधी वस्तुओं का एकत्र संघटन बताया है। क्रम से उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

नायिका निर्दोषा है, दोष अर्थात् बाहु, निर्गत बाहु वाली अर्थात् बाहुहीन है, फिर वह ललित वपु अर्थात् शोभित शरीर वाली कैसे है; अथ च, दोषा अर्थात् रात्रि, निर्दोष अर्थात् रात्रि रहित है, फिर चमकते हुए तारों, नक्षत्रों से अभिराम कैसे है? विरोध का परिहार यह है कि नायिका निर्दोष अर्थात् दोषों से रहित है, उसमें कोई दोष नहीं और चमकदार आँखों के तारे से अभिराम है।

उसका मुख-कमल निर्वाच्य अर्थात् वाणी रहित है, फिर उसकी वाणी वीणा को जीत लेने वाली कैसे है? परिहार यह कि उसका मुखकमल निर्वाच्य अर्थात् अवचनीय (जिसमें कोई कहने, दोष देने की बात नहीं) है।

जब कि उसने वाणी के द्वारा वीणा को पराजित कर दिया है तब उसकी वाणी क्वणित अर्थात् वीणा की आवाज जैसी कैसे है? परिहार यह कि वीणा से अधिक मीठी वाणी बोलती है और जो वीणा की आवाज जैसी सुन पड़ती है।

जब कि उसने विग्रह अर्थात् युद्ध की संस्थिति को प्रकट किया है फिर शोभा के द्वारा सन्धिबंध अर्थात् मेल-मिलाप कैसे कर दिया है? परिहार है कि विग्रह की संस्थिति अर्थात् अङ्गों का विन्यास, अपनी जगह पर रहना और सन्धिबंध अर्थात् अङ्गों का संश्लेष गठन।

जब कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् मेघों से परिपूर्ण है तब फिर शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी से अवदात कैसे है? परिहार यह कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् स्तनों वाली है और शरच्चन्द्र की चाँदनी के सदृश धवल है।

जब कि सुगत अर्थात् बुद्ध में अवस्थिति जिसे अभिमत है तब फिर चरणों अर्थात् वेद की शाखाओं की रचना अभिनन्दित कैसे है? परिहार यह है कि सुगत अर्थात् शोभन गमन उसे अभिमत है और चरण अर्थात् पैर उसके अभिनन्दित हैं।

जबकि उसका जघन भाग अति विशाल है फिर उसके शरीर की शोभा विध्वस्त अर्थात् विनाश प्राप्त कैसे है? परिहार यह कि उसका जघन भाग अति विशाल है और विध्वस्त अर्थात् विनाश को प्राप्त, शिव के द्वारा दग्ध है शरीर जिसका ऐसे कामदेव द्वारा जिस नायिका की शोभा सम्पादित है।

आविर्भवदनुरागे तस्मिन्नथ वलितलोचना सहसा ।
सापि बभूव मृगाक्षी हस्तगता कुसुमचापस्य ॥२६६॥

सुन्दरसेन के हृदय में अनुराग उत्पन्न हो ही रहा था कि मृग के समान आँखों वाली वह सुन्दरी भी उस पर दृष्टि पड़ते ही सहसा कामदेव के वशीभूत हो गई ॥२६६॥

तरुमूलमाश्रिताया विस्मृतसकलान्यकर्मणः सपदि ।
तस्या गात्रलतायामंकुरितं सात्त्विकैर्भावैः ॥२६७॥

वह वृक्ष के नीचे जा बैठी और शीघ्र ही अपने दूसरे सारे काम भूल गई। उसकी अङ्गलतिका में सात्विक भाव[1] अंकुरित होने लगे ॥२६७॥

सैवोपवनसमृद्धिस्तस्मिन्नेव क्षणे स्मरं समाश्रित्य ।
तां व्यथयितुमारेभे प्रभोर्हि कृत्यं करोति खलु सर्वः ॥२६८॥

वही उपवन-समृद्धि (जो कुछ ही देर पहले उसे सुख दे रही थी) उसी क्षण कामदेव को स्मरण करके उसे व्यथित करने लगी ; अपने मालिक का काम सब करते हैं ॥२६८॥

गात्रसरसंधनेभ्यः प्रस्वेदजलं विनिर्ययौ तस्याः ।
अन्तर्ज्वलितमनोभवहव्यभुजा दह्यमानेभ्यः ॥२६९॥

भीतर ही भीतर प्रज्ज्वलित कामाग्नि के कारण जली जाती हुई उसके अङ्गों की शिरा-संधियों से पसीना छूटने लगा ॥२६९॥

कुसुमशरजालपतिता मुहुर्मुहुर्विदधती विवृत्तानि ।
अनिमेषं पश्यन्ती मत्स्यवधूमनुचकार सा तन्वी ॥२७०॥

कामदेव के जाल में फँसी, बार-बार छटपटाती और अपलक देखती हुई वही तन्वी मछली का अनुकरण करने लगी ॥२७०॥

स्तब्धतनुं सोत्कम्पां पुलकवतीं स्वेदिनीं मनिःश्वासाम् ।
विदधे तामसमशरः क्रीडति हि शठो विशिष्टमासाद्य ॥२७१॥

विषमबाण कामदेव ने उसे जड़ीभूत शरीर वाली, कंपकंपी से भरी,

१—सात्विक भाव आठ प्रकार के वर्णित हैं—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विका मताः ॥

रोमाञ्चयुक्त, पसीने से तर और निःश्वासयुक्त बना डाला; शठ विशेष स्थान पाकर और खेल खेलने लग जाता है ॥२७१॥

उच्छ्वासैरुल्लसनं कुचयुगले सौष्ठवं विलासानाम्।
अभिलषितेन प्रेम्णा स्निग्धत्वं चक्षुषोर्मनोहारि ॥२७२॥

उच्छ्वासों के कारण उसके स्तन उल्लसित हो उठते थे, उसके मन में एक विशेष इच्छा के उत्पन्न हो जाने के कारण उसके विलासों में अधिकतर चारुता उत्पन्न हो गई थी, प्रेम के कारण उसकी आँखों में मन हर लेने वाली स्निग्धता छा गई थी ॥२७२॥

अनुरक्तया वदनरुचिं वचसि च गमने साध्यसस्खलनम्।
तस्या मदनः कुर्वन् उपनिन्ये चारुतामवधिम् ॥२७३॥

अनुराग के कारण उसके मुख की कान्ति कुछ और ही हो गई थी, वाणी और गमन दोनों में उसके भय के कारण स्खलन होने लगा; इस प्रकार कामदेव ने उसकी चारुता को सीमा तक पहुँचा दिया ॥२७३॥

पार्श्वगतेऽपि प्रेयसि कामशरासारताड्यमानापि।
न शशाक साऽभिधातुं चित्तगतं प्रणयभङ्गतो भीता ॥२७४॥

प्रियतम के पास होने पर भी, काम के बाणों की वर्षा से ताड़ित होती हुई भी प्रणय-भंग हो जाने की आशंका से डरी हुई वह अपने दिल की बात न कह सकी ॥२७४॥

अथ विदितचित्तवृत्तिः सक्तदृगं प्रियतमे समाकृष्य।
मदनेन दह्यमानां विहसितविशदं जगाद तामाली ॥२७५॥

अनन्तर उसकी चित्तवृत्ति को जानकर, प्यारे में लगी आँखों वाली एवं कामाग्नि में जलती हुई उसे खींचकर सखी मुस्कुराते हुए बोली ॥२७५॥

अयि हारलते संहर हरहुँकृतिदग्धदेहसंक्षोभम्।
सद्भावजानुरक्तिर्नहि रम्या पण्यनारीणाम् ॥२७६॥

अरी हारलते, शिव जी के हुङ्कार से दग्ध शरीर वाले कामदेव द्वारा जनित उद्वेग को दूर हटा, क्योंकि बाजारू औरतों के लिये सद्भावजनित[1] अनुराग हितकर नहीं ॥२७६॥

१—सद्भाव अर्थात् अभिमान; यही मेरा प्रिय है दूसरा नहीं, यह अभिप्राय

अवधीरय धनविकलं कुरु गौरवमकृशसम्पदः पुंसः ।
अस्मादृशां हि मुग्धे धनसिद्धौ रूपनिर्माणम् ॥२७७॥

धनरहित पुरुष को छोड़ और बहुत धन वाले पुरुष का गौरव (सम्मान) कर ; क्योंकि अरी बेवकूफ, हम-जैसियों के रूप का निर्माण धन कमाने के लिए हुआ है[1] ॥२७७॥

अभिरामेऽभिनिवेशं विदधाना विविधलाभनिरपेक्षा ।
उपहस्यसे सुमध्ये विदग्धवाराङ्गनावारैः ॥२७८॥

अरी सुन्दर कटिभाग वाली, तू नाना प्रकार के लाभों की परवाह न करके केवल सुन्दर (दिखाई देने वाले) पुरुष में अभिनिवेश जो कर रही है तो चालाक वेश्याओं की जमात में तेरी खिल्ली उड़ेगी ॥२७८॥

येषांश्लाघ्यं यौवनमभिमुखतामुपगतो विधिर्येषाम् ।
फलितं येषां सुकृतैर्जीवितसुखितार्थिता येषाम् ॥२७९॥

जिनका यौवन प्रशंसनीय है, जिनका भाग्य अनुकूल हो गया है, जिनका पुण्य फलित हो चुका है और जो जीवन का आनन्द चाहने वाले हैं ॥२७९॥

अभिमान है। इससे उत्पन्न अनुरक्ति को 'अभिमानिकी अनुरक्ति' कहते हैं। वात्स्यायन के अनुसार प्रीति चार प्रकार की होती है—

अभ्यासादाभिमानाच्च तथा सम्प्रत्ययादपि ।
विषयेभ्यश्च तन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम् ॥२।१

उनमें अभिमानिकी प्रीति का लक्षण है—

'अनभ्यस्तेष्वपि पुरा कर्मस्वविषयात्मिका ।
सङ्कल्पाज्जायते प्रीतिर्यासा स्यादाभिमानिकी ॥

रूप गोस्वामी ने और भी स्पष्ट रूप से इसे समझाया है—

'सन्तु रम्याणि भूरीणि प्रार्थं स्यादिदमेव मे ।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते ॥

प्रस्तुत में सखी ने ऐसी प्रीति करना वेश्याओं के लिए अपथ्य (हानिकार) कहा है।

१—२७७ के उत्तरार्ध और २७८ आर्या का कथ्य वैशिक जीवन का शाश्वत मूलाधार है। जैसा कि सखी ने कहा है 'हमारा रूप निर्माण धन-सिद्धि के लिए होता है' ठीक इसी प्रकार की नसीहत 'उमराव जान' ने भी किया है—

'ए बेवकूफ रंडी, कभी इस भुलावे में न आना कि कोई तुझको सच्चे दिल से

तेऽवश्यं स्वयमेव त्वामनुबध्नंति मदनशरभिन्नाः ।
नहि मधुलिहः कृशोदरि मृग्यन्ते चूतमंजर्या ॥२८०॥

वे अवश्य स्वयं कामदेव के बाणों से भिद तक तेरे पीछे पड़ेंगे । हे कृश उदर वाली, आम की मञ्जरी भौरों की खोज नहीं किया करती ॥२८०॥

इति गदितवतीमालीं कामशरासारभिन्नसर्वाङ्गी ।
अव्यक्तस्खलिताक्षरमूचे कृच्छ्रेण हारलता ॥२८१॥

यह कहती हुई सखी से हारलता, जिसके अंग अंग काम-वाणों की वर्षा से भिद गए थे, बड़े कष्ट से, अस्पष्ट एवं टूटती आवाज में बोली ॥२८१॥—

सखि कुरु तावद्यत्नं बहुमनसिजवेदनाप्रतीकारे ।
क्रोडीकृता विपत्त्या न भवत्युपदेशयोग्या हि ॥२८२॥

'हे सखी, असह्य वेदना को रोकने के लिए तब तक शीघ्र यत्न करो, क्योंकि विपत्ति के मारों को उपदेश नहीं दिया करते ॥२८२॥

अस्वायत्तः प्रेयान्मृदुपवनः सुरभिमास उद्यानम् ।
इयती खलु सामग्री भवति हि क्षीणायुषामेव ॥२८३॥

अस्वाधीन प्रिय, हल्की हवा, वसन्त का महीना, बाग इतनी सामग्री क्षीण आयु वालों के ही होती है ॥२८३॥

मत्वा मदनाशीविषविषवेगाकुलितविग्रहामालीम् ।
समुपेत्य शशिप्रभया पौरंदरिरभिदधे कृतप्रणतिः ॥२८४॥

जब शशिप्रभा को यह मालूम हो गया कि सखी हारलता का शरीर काम-रूपी विष के वेग से आकुल हो उठा है, तब आकर प्रणाम करके पुरन्दर के पुत्र सुन्दरसेन से बोली ॥२८४॥

यदि नाम रुणद्धि गिरं गणिकाभावोपजनितवैलक्ष्यम् ।
तदपि कथनीयमेव स्निग्धापदि नहि निरूप्यते युक्तम् ॥२८५॥

'गणिका होने के कारण उत्पन्न जो लज्जा है वह वाणी को रोक रही है

चाहेगा । तेरा आशना जो तुझ पर जान देता है, चार दिन के बाद चलता-फिरता नजर आयेगा । वह तुझसे हरगिज ब्याह नहीं कर सकता और न इस लायक है...' ।

तथापि कहना ही पड़ेगा, क्योंकि स्नेही जन की आपत्ति में युक्तायुक्त का विचार नही करते ॥२८५॥

एतावति संसारे परिगणिता एव ते सुजन्मानः ।
आपन्नपरित्राणे व्याकुलमनसः स्फुरन्ति ये बुद्धौ ॥२८६॥

इतने बड़े संसार में वे सुजन्मा लोग इने-गिने ही याद आ रहे हैं जिनका मन आपत्ति में पड़े हुए रक्षा के लिए व्याकुल हो उठता है ॥२८६॥

यस्मिन्नेव मुहूर्ते यदवधि दृष्टोऽसि मे सख्या ।
तत एवारभ्य गता विधेयतां दग्धमदनस्य ॥२८७॥

जिस क्षण मेरी सखी को तुम दृष्टि-गोचर हुए हो उसी क्षण से वह मुए कामदेव के इशारे पर चलने लगी है ॥२८७॥

रोमोद्गमसंनहनं भित्त्वान्तर्विग्रहं परापतिताः ।
तस्या मानससम्भवकोदण्डविनिर्गता दूषवः ॥२८८॥

कामदेव के धनुष से निकले हुए बाण उसके रोमाञ्च के कवच को भेद कर भीतर शरीर में गड़ गये हैं ॥२८८॥

किंवा वदतु वराकी कुच समाश्वसितु यातु कं शरणम् ।
पीडयति भृशं यस्मान्नित्यं शुचिदक्षिणो मृदुः पवनः ॥२८९॥

वह वेचारी क्या बोले, कहाँ साँस ले, किसकी शरण में जाय ? जिससे कि हरदम मृदु श्रृंगारी पवन उसे पीड़ित कर रहे हैं ॥२८९॥

वचसि गते गद्गदतामुज्झितमौनव्रताश्चिराय पिकाः ।
हृष्टा व्यथयन्ति सखीं जातावसरा निरर्गलं विरुतैः ॥२९०॥

सखी की आवाज़ जब गद्गद् (अव्यक्त-स्खलित) हो गई तब अवसर पाकर प्रसन्न कोकिल मौन व्रत को छोड़, देर से सखी को अधिक कष्ट दे रहे हैं ॥२९०॥

स्खलिताकुलिते गमने तन्वङ्ग्या अगणितश्रमा हंसाः ।
सुचिराल्लब्धावसराः कुर्वंति गतागतानि परितुष्टा ॥२९१॥

तन्वङ्गी के स्खलित और आकुलित गति के होने पर देर के बाद अवसर पाकर हंस अथक चाल से परितुष्ट हो जाना-आना (गमनागमन) करने लगे हैं ॥२९१॥

उष्णोच्छ्वसितसमीरैर्विदह्यमानोऽपि मधुकरस्तस्या।
अलककुसुमं न मुंचति कृच्छ्रेष्वपि दुस्त्यजा विषयाः ॥२६२॥

उसकी गर्म साँस के समीप जलता हुआ भी भौंरा उसके अलक पर के फूल नहीं छोड़ रहा है, दुःख की स्थितियों में भी विषयों का त्याग कठिन होता है ॥२६२॥

नो वारयति तथा मां साम्प्रतमिति कथयतीव मधुलेहः।
निःसहवपुषः कर्णे श्रुतिपूरकपुष्पसंगतो गुंजन् ॥२६३॥

निःसह शरीर वाली उस (हारलता) के कान में कनफूल पर बैठ कर गुंजार करता हुआ भौंरा मानो उससे कहता है कि पहले की भाँति अब तू मुझे वारण नहीं करती ॥२६३॥

प्रशिथिलभुजलतिकायास्तस्याः पतितस्य हेमकटकस्य।
यत्प्रापणं पृथिव्यास्तस्मिन् खलु मुक्तहस्तता हेतुः ॥२६४॥

अधिक शिथिल भुजलता वाली उसके हाथ से गिरे हुए सोने के कंगन का जो जमीन पर पड़ जाना है उसमें हेतु उसका मुक्त अर्थात् शिथिल हस्त वाली होना है (श्लेष से उसकी मुक्तहस्तता अर्थात् उदारता हेतु है) ॥२६४॥

रशनागुणेन विगलितमेकपदे तन्नितम्बतश्चित्रम्।
पतनाय नियतमथवा निषेवणं गुरुकलत्रस्य ॥२६५॥

यह आश्चर्य की बात है कि उसके नितम्ब से रशना-गुण (करधनी) एकाएक गिर पड़ा, अथवा क्यों न हो ? गुरु के कलत्र (पत्नी) का सेवन (गमन) पतन का कारण होता ही है (क्योंकि रशनागुण ने गुरु अर्थात् विशाल नितम्ब के कलत्रभूत श्रोणि का सेवन किया, अर्थात् उसके साथ रहा) ॥२६५॥

अङ्गीकृत्य मनोभवमुरसि तथा लालितोऽपि हतहारः।
तापयति सखीं तत्क्षमन्तर्भिन्नात्कुतः कुशलम् ॥२६६॥

इस प्रकार हृदय के समीप रख कर उसके द्वारा लालित हुआ भी मुआ हार कामदेव के पक्ष को अङ्गीकार कर सखी को सन्तप्त कर रहा है, ठीक है अन्तर्भिन्न (गृह अथवा मन में कलहादि द्वारा विच्छेद प्राप्त, पक्ष में सच्छिद्र; क्योंकि हार बिना छिद्र किए गूथा नहीं जा सकता, अतः वह भी अन्तर्भिन्न है) व्यक्ति से कल्याण कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥२६६॥

वक्षसि तत्स्वेदजलं कज्जलमलिनाश्रुवारिणा मिश्रम्।
कुचतटपतितं तस्याः प्रयागसम्भेदसलिलमनुकुरुते ॥२९७॥

उसके शरीर पर रहने से सफेद और कज्जलयुक्त अश्रु से मिश्रित ; उसके स्तन तट पर टपका हुआ स्वेदजल प्रयाग में गंगा-यमुना के परस्पर मिश्रित जल का अनुकरण कर रहा है ॥२९७॥

पिकरुतमलयसमीरणसुमनःस्मरभृङ्गदहनपरिकलिता।
पंचतपश्चरति भवत्परिरम्भणसौख्यलम्पटा बाला ॥२९८॥

तुम्हारे आलिङ्गन के सुख के प्रति आसक्त यह बाला कोकिल की कुहू, मलयानिल, पुष्प, कामदेव और भृङ्ग इन दाहकों से घिरी हुई पञ्चाग्नि-तप कर रही है ॥२९८॥

न परापतति वराकी दशमीं यावन्मनोभवावस्थाम्।
त्रायस्व सुभग तावच्छरणागतरक्षणं व्रतं महताम् ॥२९९॥

यह बेचारी जब तक अन्तिम दसवीं कामावस्था[1] (मृत्यु) तक नहीं पहुँच जाती है, तब तक हे सुभग, इसे बचा लो क्योंकि शरणागत-रक्षा बड़े लोगों का व्रत है' ॥२९९॥

अथ तद्वचसि कृतादरमुद्भूतमनोभवं समवधार्य।
अवगीतिभीतचेता ऊचे गुणपालितः सुहृदम् ॥३००॥

इतना कह कर शशिप्रभा के चले जाने के बाद गुण-पालित ने देखा कि सुन्दरसेन उसकी बात में आदर कर रहा है और उसका काम-राग उत्पन्न हो गया है तो वेश्या के साथ रहने की निन्दा से डरा हुआ वह मित्र से बोला ॥३००॥

यद्यपि मारप्रसरो दुर्वारः प्राणिनां नवे वयसि।
चिन्त्यं तदपि विवेकिभिरवसानं वारयोषितां प्रेम्णः ॥३०१॥

'यद्यपि प्राणियों को नई अवस्था में काम-वेग को रोक पाना कठिन होता

१—कामजनित दस अवस्थाएं—नयनप्रीति, चितासंग, सङ्कल्प, निद्राच्छेद, तनुता, विषयनिवृत्ति, निद्रानाश, उन्माद, मूर्च्छा, एवं मृत्यु। ये कायिक काम-दशाएं हैं। मानसिक दशाएं हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्मत्तता, व्याधि, जड़ता और मृत्यु।

है तथापि विचारशील जनों को बाजारू औरतों के प्रेम के परिणाम के बारे में सोचना चाहिए ॥३०१॥

वारस्त्रीणां विभ्रमरागप्रेमाभिलाषमदनरुजः ।
सहवृद्धिक्षयभाजः प्रख्याताः सम्पदः सुहृदः ॥३०२॥

वेश्याओं के विभ्रम, राग, प्रेम, अभिलाष और कामव्यथा[1] ये सब धन-सम्पत्ति के मित्र कहे जाते हैं जो उसी के साथ बढ़ते-घटते रहते हैं[2] ॥३०२॥

ताभिरवदातजन्मा कुर्वीत समागमं कथं यासाम् ।
क्षणदृष्टोऽपि प्रणयी रूढ़प्रणयोऽपि जन्मनोऽपूर्वः ॥३०३॥

उनसे कोई कुलीन व्यक्ति कैसे सङ्ग कर सकता है, जिनका तुरंत का दृष्टि-पथ में आया हुआ भी प्रेमी बन जाता है और वर्षों का गाढ़ प्रेमी भी ऐसा हो जाता है जिसे कभी देखा ही नहीं ॥३०३॥

प्रद्युम्नः प्रद्युम्नो विरूपकः खलु विरूपकः सततम् ।
सुस्निग्धः सुस्निग्धो रूक्षो रूक्षस्तु गणिकानाम् ॥३०४॥

ये गणिकाएँ अधिक ऐश्वर्य वाले व्यक्ति को सतत प्रद्युम्न अथवा दूसरा कामदेव कह कर गणना करती हैं, जिसके पास धन-सम्पत्ति नहीं उसे वे विरूपक

१—'रसरत्नाकर' में स्पष्ट रूप से इनका अन्तर समझाया है—

'प्रेमाऽभिलाषो रागश्च स्नेहः प्रेम रतिस्तथा ।
शृङ्गारश्चेति सम्भोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ॥
प्रेमा दिदृक्षा रम्येषु तच्चित्तमभिलाषकः ।
रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात् स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया ॥
तद्वियोगासहं प्रेम, रतिस्तत्सह वर्तनम् ।
शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा, सम्भोगः सप्तधाक्रमः ॥

२—अर्थात् कामुक जनों की सम्पत्ति की वृद्धि होने पर गणिकाओं के अनुराग की भी वृद्धि होती है और उनकी सम्पत्ति ज्यों ज्यों घटती जाती है त्यों त्यों उनका अनुराग भी घटता जाता है । आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

दासी दासी तावद् यावत्पुरुषस्य किञ्चिदस्ति करे ।
क्षीणधनपुण्यराशेर्दुष्प्रापा स्वर्गनगरीव ॥

(समयमातृका ८।११५) ।

अर्थात् विकृत रूप वाला (कुत्सित) कहती हैं, जो बहुत सम्पत्ति-शाली है वह उनके समक्ष स्नेहशील है और जो (धनहीन) स्नेहशील है उसे रूखा कहा करती हैं [1] ॥३०४॥

यासां जघनावरणं परकौतुकवृद्धये न तु त्रपया ।
उज्ज्वलवेषा रचना कामिजनाकृष्टये न तु स्थितये ॥३०५॥

वे अपने जघन देश का आवरण कामुकों के कुतूहल बढ़ाने के निमित्त करती हैं न कि लज्जा से ; शृंगार कामुक जनों के आकर्षण के निमित्त करती हैं, न कि मर्यादा की भावना से ॥३०५॥

मांसरसाभ्यवहारः पुरुषाहतिपीडया न तु स्पृहया ।
आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय ॥३०६॥

मांस और उसका शीरा इसलिए चखती हैं कि पुरुषों के सम्पर्क से उत्पन्न उनके शरीर का दर्द कम हो, न कि इच्छा से ; चित्र आदि कलाओं में शौक अपनी विदग्धता प्रकट करने के निमित्त रखती हैं न कि मन बहलाने के लिये ॥३०६॥

रागोऽधरे न चेतसि सरलत्वं भुजलतासु न प्रकृतौ ।
कुचभारेषुसमुन्नतिराचरणे नाभिनन्दिते सद्भिः ॥३०७॥

राग (लाली, दूसरे पक्ष में अनुराग) उनके अधर में होता है, चित्त में नहीं ; सरलता (सीधापन) उनकी भुजलताओं में होती है, स्वभाव में नहीं ; उनके बोझिल स्तनों में समुन्नति (ऊँचाई) है, आचरण में नहीं, जिसकी सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं ॥३०७॥

जघनस्थलेषु गौरवमाकृष्टधनेषु नो कुलीनेषु ।
अलसत्वं गमनविधौ नो मानववंचनाभियोगेषु ॥३०८॥

उनके जघनों में गौरव (अर्थात् भारीपन) होता है, न कि खान्दानी लोगों के प्रति, जिनका धन वे खींच चुकती हैं, वे गौरव (अर्थात् समादर का भाव)

१—आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है—

वित्तेन वेत्ति वेश्या स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ।
वित्तं विनाऽपि वेत्ति स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ॥

नहीं रखतीं ; आलस्य उनके चलने में है, लोगों के ठगने के कार्यों में वे आलस्य नहीं करतीं ॥३०८॥

वर्णविशेषापेक्षा प्रसाधने नो रतिप्रबन्धेषु ।
ओष्ठे मदनासङ्गो नो पुरुषविशेषसम्भोगे ॥३०९॥

उन्हें सिंगार-पटार में लाल-पीले आदि वर्णों की अपेक्षा होती है न कि सुरत के प्रसंगों में वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण-विशेष की अपेक्षा रखती हैं ; मदन का उदय सिर्फ उनके ओंठ में रहता है, न कि पुरुष विशेष के साथ सम्भोग के कार्य में मदनोदय होता है[1] ॥३०९॥

या बालेऽपि सरागा वृद्धेष्वपि विहितमन्मथावेगा ।
क्लीवेष्वपि कान्तदृशः साकांक्षा दीर्घरोगेऽपि ॥३१०॥

जो वेश्याएँ बालक के प्रति भी अनुरागवती होती हैं, बूढ़ों में मदनावेग का प्रदर्शन करती हैं, नपुंसकों पर भी काम-पूर्ण दृष्टि रखती हैं और पुराने बीमार पर भी इच्छुक रहती हैं ॥३१०॥

स्वेदाम्बुकणोपचिता न चार्द्रता निजनिवासमनसश्च ।
आविष्कृतवेपथवो वज्रोपलसारकठिनाश्च ॥३११॥

(रतिश्रम के कारण) वे स्वेदजल के कणों से आर्द्र रहती हैं पर उनमें रहने वाला उनका मन (या हृदय) आर्द्र नहीं होता ; पुरुषों को ठगने के लिये बाहर से कँपकँपी प्रकट करती हैं लेकिन खुद वे हीरे की भाँति कठोर होती हैं ॥३११॥

जघनचपला अनार्या परभृतयः कृतकनेत्ररागाश्च ।
सर्वांगार्पणदक्षा असमर्पितहृदयदेशाश्च ॥३१२।

वे जघनचपला और अनार्या होती हैं (विरोध यह कि जघनचपला नाम का छन्द आर्या छन्द के अन्तर्गत होता है फिर वह अनार्या कैसे हो सकता है ? परिहार यह कि वेश्याएँ जघनचपला अर्थात् बहुत पुरुषों को समर्पण करती हैं एवं अनार्या अर्थात् हीन स्वभाव वाली होती हैं), परभृता और कृत्रिम-नयन-

---

१—मदनासंग—काम सम्बन्ध, पक्ष में मोम प्रयोग। इस आर्या का अर्थ दो प्रकार से है, जैसे (१) दंश अथवा शीत के कारण उत्पन्न अधर क्षत की व्यथा को शान्त करने के लिने 'मदन' अर्थात् मोम का प्रयोग ; अथवा (२) उनका 'मदनोदय' अर्थात् प्रेम उनके मुख में ही रहता है, हृदय में नहीं ।

रागा होती हैं (विरोध यह कि परभृता अर्थात् कोकिला स्वरूप होती हैं, फिर उनके नेत्र का राग कृत्रिम कैसे होता है ? कोयल की आँखें स्वाभाविक लाल होती हैं। परिहार यह कि वेश्याएँ परभृता अर्थात् दूसरों के निमित्त जीवन वाली और नेत्र में बनावटी प्रेम धारण करने वाली होती हैं), समस्त अङ्ग अर्पित करने में चतुर और हृदय को न समर्पित करने वाली होती हैं (विरोध यह कि जब सभी अंग समर्पित कर देती हैं तब हृदय भी कैसे नहीं समर्पित करतीं ? परिहार यह कि सभी अङ्ग समर्पित करके भी दिल नहीं देतीं, अनासक्त रहती हैं)।।३१२।।

न कुलसमुत्पन्ना अपि भुजंगदशनक्षतवेदनाभिज्ञाः ।
कंदर्पदीपिका अपि रहिताः स्नेहप्रसङ्गेन ।।३१३।।

नकुलों में समुत्पन्न होकर भी भुजंगों के दाँतों की पीड़ा से परिचित होती हैं (विरोध यह है कि नकुलों अर्थात् नेवलों के वंश में उत्पन्न होकर भी भुजंगों अर्थात् सर्पों के दाँतों के आघातों की पीड़ा से अपरिचित कैसे हो सकता है ? नेवले और साँप लड़ते समय एक-दूसरे पर दन्ताघात करते हैं, परिहार यह कि वेश्याएँ कुलों में उत्पन्न नहीं होती उनकी जाति हीन होती है और भुजङ्गों अर्थात् विटों के दाँतों के द्वारा क्षत होने पर उनकी वेदना से परिचित होती हैं), कामदेव की दीपिता और स्नेह के सम्बन्ध से रहित होती हैं (जब कि दीपिका हैं तो स्नेह अर्थात् तेल के सम्बन्ध से रहित कैसे होती हैं ? परिहार यह कि कामदेव को उद्दीपित करने वाली और स्नेह अर्थात् अनुराग से रहित होती हैं) ।।३१३।।

उज्झितवृषयोगा अपि रतिसमये नरविशेषनिरपेक्षाः ।
कृष्णैकाभिरता अपि हिरण्यकशिपुप्रियाः सततम् ।।३१४।।

वृष-योग को छोड़ बैठी हैं और पुरुष-विशेष की उन्हे अपेक्षा नहीं होती (विरोध यह कि जब कामशास्त्रोक्त वृष-लक्षण युक्त पुरुष को त्याग देती हैं, फिर विशेष पुरुष की अपेक्षा से रहित कैसे होती हैं ? परिहार यह कि वृष अर्थात् धर्म के योग से रहित होती हैं और उन्हें इस बात की अपेक्षा नहीं होती कि पुरुष किसी विशेष प्रकार का हो बल्कि सब प्रकार के पुरुषों के साथ संगम करती हैं), कृष्ण में एकान्त अनुरक्ता और निरन्तर हिरण्य-कशिपुप्रिया होती हैं (विरोध यह कि जो कृष्ण में अनुराग करती हैं उन्हें कृष्ण का शत्रु हिरण्य-कशिपु कैसे प्रिय हो सकता है ? परिहार यह कि कृष्ण अर्थात् कालिमा रूप

पाप में एकमात्र अनुरक्त रहती हैं और हिरण्य अर्थात् सुवर्ण और कशिपु अर्थात् अन्न-वस्त्र इनके प्रिय पदार्थ हैं) ॥३१४॥

मेरुमहीधरभुव इव किंपुरुषसहस्रसेवितनितम्बाः ।
नीतय इव भूभिभृतां सुपरिहृतानर्थसंयोगाः ॥३१५॥

मेरुपर्वत के नितम्ब के समान उनके नितम्ब हजारों किम्पुरुषों (एक प्रकार की देवयोनि, पक्ष में कुत्सित पुरुषों) द्वारा सेवित हैं, राजनीति में जिस प्रकार अनर्थ का संयोग (अर्थात् नाश अथवा भयोत्पत्ति की उपलब्धि) का परिहार होता है उसी प्रकार वेश्याएँ भी अनर्थ संयोग (अर्थात् अर्थ या धन के संयोग से रहित (=धनहीन) का परिहार कर देती हैं ॥३१५॥

बहुमित्रकरजदारणलब्धाभ्युदयाः सरोरुहिण्य इव ।
डाकिन्य इव च रक्तव्याकर्षणकौशलोपेताः ॥३१६॥

कमलिनियों के समान वे बहुमित्र कर द्वारा विदारण से अभ्युदय लाभ करती हैं (कमलिनियाँ मित्र अर्थात् सूर्य के बहुत से करों, किरणों द्वारा विदारण अर्थात् स्फुटन जनित अभ्युदय लाभ करती हैं, विकसित होती हैं और वेश्याएँ बहुत से मित्र बने लोगों के करों, हाथों द्वारा विदारण से अभ्युदय अर्थात् धन-सम्पत्ति लाभ करती हैं। डाकिनियों के समान रक्त (खून, पक्ष में अनुरक्त जनों) को खींच लेने का कौशल उन्हें मालूम होता है ॥३१६॥

प्रतिपुरुषं संनिहिताः कृत्यपरा विविधविकरणोपेताः ।
बहुलार्थग्राहिण्यः प्रकृतय इव दुर्ग्रहा गणिकाः ॥३१७॥

गणिकाएँ प्रत्येक पुरुष का सन्निधान प्राप्त करके कृत्यपरा विविध विकारयुक्ता और बहुल अर्थग्राहिणी होकर प्रकृति के समान दुर्ग्रहा होती हैं[1] ॥३१७॥

१—इस श्लोक में पुरुष, कृत्य, विकरण, अर्थ, प्रकृति और दुर्ग्रह इतने शब्द प्रायः चार अर्थ रखते हैं, फलतः मूल में यह आर्या अर्थचतुष्टयवाचिनी कही गई है। पहले प्रत्येक के चार चार अर्थों को समझ लेना आवश्यक है—

पुरुष—(१) व्याकरण का प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष; (२) इस शरीर में रहने वाला अर्थात् आत्मा; (३) जीवात्मा; (४) प्रजा में रहने वाला पुरुष।

कृत्य—(१) तव्यादि प्रत्यय; (२) सुख दुःखमोहात्मक महदादि कार्य; (३) निज-निज करणीय कार्य; (४) सात राज्यांगों का कर्त्तव्य।

सादरमाकृष्य चिरं कुसुमस्तवकं च नरविशेषं च ।
रिक्तीकर्तुं निपुणाः क्षुद्राः क्षुद्राश्च चुम्बन्ति ॥३१८॥

क्षुद्राएँ (अर्थात् मधुमक्खियाँ) जिस प्रकार फूल के गुच्छे का देर तक मधु-पान करते हुए उसी में सटी (चुम्बनासक्त) रहती हैं, उसी प्रकार क्षुद्राएँ

विकरण या विकार—(१) शप् श्यन् आदि के योग में जो वृद्धि आदि विकार होते हैं; (२) सांख्य दर्शनोक्त सोलह प्रकार के विकार; (३) क्रोध, लोभादि; (४) विविध उपकरण ।

अर्थ—(१) शब्द का वाच्य; (२) दृश्यत्व और परिणामित्व विशिष्ट पदार्थ; (३) धन, ऐहिक सौभाग्य; (४) अपने राज्य की रक्षा और परराज्य की टोह आदि राजनीति अथवा राजकर ।

प्रकृति—(१) व्याकरण की प्रकृति, शब्द और धातु; (२) सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था, जगत् का मूल कारण, (३) जीवात्मा का स्वभाव; (४) स्वामी, मन्त्री, सहाय, धन, देश, दुर्ग और सैन्य ये सात प्रकार के राज्यांग ।

दुर्ग्रह—(१) 'दुर' इस उपसर्ग को जो ग्रहण करता है; (२) शास्त्राभ्यास के द्वारा जो कष्ट से मालूम किया जाता है; (३) कष्ट से जो नियमित किया जाय, (४) अपराजेय ।

इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक के चार गूढ़ार्थ निकलते हैं—

(१) व्याकरण की प्रकृतियाँ प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुषों के साथ रह, कृत्य आदि प्रत्यय के लगने पर नाना प्रकार के वृद्धि आदि विकारों से उपचित हो विविध अर्थों में व्यवहृत हैं और 'दुर' इस उपसर्ग को भी ग्रहण करती हैं ।

(२) त्रिगुणात्मक प्रकृति पुरुष अथवा आत्मा का सन्निधान प्राप्त करके सुख, दुःख, मोह रूप महदादि कार्यों का निर्माण करती हुई विविध विकारों को प्राप्त होती है, दृश्यत्व और परिणामित्व-विशिष्ट बहुत से पदार्थ ग्रहण करती है, शास्त्रज्ञान के बिना उनका स्वरूप ज्ञान नहीं होता ।

(३) प्रकृतियां अर्थात् स्वभाव प्रत्येक पुरुष के अलग-अलग होते हैं, सब अपना-अपना करणीय कार्य करते हैं, काम, क्रोध, लोभ आदि विविध विकार उनमें होते हैं, नाना प्रकार के सौभाग्य-लाभ की आकांक्षा करते हैं, उन्हें निय-मित करना अत्यन्त कठिन है ।

(४) राजनीति के स्वामी, मन्त्री, सहाय, प्रभृति प्रकृति प्रजा व्यक्तियों (पुरुषों) के साथ सन्निधान प्राप्त कर, निज-निज कार्य करके विविध प्रकार से वृद्धि प्राप्त हो अपने राज्य की रक्षा आदि रूप अर्थ सम्यक् आयत करके, अथवा बहुत राजकर (टैक्स) द्वारा शक्तिशाली हो अपराजेय हो जाते हैं ।

(वेश्याएँ) कामुक जनों को आदरपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करके, जब तक वह बिलकुल रिक्त नहीं हो जाता तब तक चुम्बनादि करती रहती हैं ॥३१८॥

परमार्थंकठोरा अपि विषयगतं लोहकं मनुष्यं च ।
चुम्बकपाषाणशिला रूपाजीवाश्चकर्षन्ति ॥३१९॥

लोहचुम्बक पत्थर की शिलाएँ जिस प्रकार वस्तुतः कठोर होकर भी अपने सामने के लोहे को खींच लेती हैं उसी प्रकार वस्तुतः कठोर स्वभाव वाली रूपाजीवाएँ (रूप का पेशा करने वाली वेश्याएँ) अपने गोचर हुए पुरुष को अपनी ओर खींच लिया करती हैं ॥३१९॥

पुरुषाक्रांताः सततं कृत्रिमश्रृंगाररागरमणीयाः ।
आहन्यमानजघनाः करेणवो वारयोषाश्च॥३२०॥

जिस प्रकार हथिनियों पर हमेशा पुरुष आरूढ़ रहते हैं, बनावटी सिंगार-पटार और लाली से वे खूबसूरत दिखाई देती हैं और उनके जघन देश पर महावत प्रहार करता है उसी प्रकार वेश्याएँ भी हमेशा पुरुषों से आक्रान्त रहती हैं, निरन्तर बनावटी सिंगार-पटार और प्रेम के कारण रमणीय प्रतीत होती हैं तथा सदा उनके जघन पर (कामुक जन) प्रहार करते रहते हैं ॥३२०॥

उचितगुणोत्क्षिप्ता अपि पुरतोऽपि निवेशिते सुवर्णलवे ।
झगिति पतंति मुखेन प्रकटप्रमदा यथा च तुलाः ॥३२१॥

जिस प्रकार तुलाएँ (तराजू) बटी हुई सूत (गुण) के जरिये उठाई जाने पर भी रत्ती भर सोना आगे डाल देने पर झट से आगे की ओर गिर जाती हैं—झुक जाती हैं उसी प्रकार प्रकट प्रमदाएँ (बेपर्दा औरतें अर्थात् वेश्याएँ) योग्य गुणों के द्वारा प्रवृत्त काम होकर भी थोड़ा सोना उनके आगे रख देने पर झट मुँह की ओर से झुक जाती हैं ॥३२१॥

बहिरुपपादितशोभा अन्तस्तुच्छाः स्वभावतः कठिनाः ।
वेश्याः समुद्गिका इव क्वणन्ति यंत्रप्रयोगेण ॥३२२॥

जिस प्रकार खिलौने बाहर से रङ्ग-बिरङ्ग के चित्रित होते हैं और भीतर से खोखले होते हैं तथा स्वभावतः कठोर होते हैं और जब कल ऐंठते हैं तब बजने लगते हैं उसी प्रकार वेश्याएँ बाहरी तड़क-भड़क रखती हैं, भीतर उनके कुछ नहीं रहता, स्वभावतः कड़ा मिजाज रखती हैं और तरीकों से व्यवहार करने पर अनुकूल बोलने लगती हैं ॥३२२॥

बध्नंति येऽनुरागं दैवहतात्मासु वारवनितासु।
ते निस्सरंति नियतं पाणिद्वयमग्रतः कृत्वा ॥३२३॥

जो अभागे उन बाजारू औरतों में प्रेम रचाते हैं वे निश्चय ही दोनों हाथ आगे की ओर पसारे (अर्थात् भिखमंगे बन कर) निकलते हैं ॥३२३॥

इदमुपदिशति वयस्ये सुन्दरसेने च मन्मथव्यथिते।
प्रस्तावादुपयातं गीतित्रयमभ्यधायि केनापि ॥३२४॥

इस प्रकार मित्र गुणपालित सुन्दरसेन के काम पीड़ित होने की हालत में जब उपदेश दे रहा था तभी किसी ने प्रसंग से तीन गीति नामक छन्दों का गान किया ॥३२४॥

तरुणीं रमणीयाकृतिमुपनीतां स्मृतिभुवा वशीकृत्य।
परिहरति यो जडात्मा प्रथमोऽसौ नालिको विना भ्रांतिम् ॥३२५॥

'कामदेव द्वारा अधीन करके लाई हुई, रमणीय आकृति वाली युवती को जो जड़ आदमी छोड़ देता है वह बिना सन्देह पहला अभागा है ॥३२५॥

इदमेव हि जन्मफलं जीवितफलमेतदेव यत्पुंसाम्।
लटहनितम्बवतीजनसम्भोगसुखेन याति तारुण्यम् ॥३२६॥

यही तो जन्म लेने का फल है और यही तो जीवित रहने का लाभ है जो पुरुषों का यौवन सुन्दर नितम्बिनियों के साथ सम्भोग के आनन्द में व्यतीत होता है ॥३२६॥

सुमनोमार्गणदहनज्वालावलिदह्यमानसर्वांग्यः।
प्रबलप्रेमप्रवणाः प्रमदाः स्पृहयन्ति नाल्पपुण्येभ्यः ॥३२७॥

कामाग्नि की ज्वाला से जिनका अंग-अंग जल रहा है ऐसी प्रेमावेग से भरी हुई नवेलियाँ जिनका पुण्य थोड़ा होता है उन्हें नहीं चाहती[1]' ॥३२७॥

१—'पुरुष-परीक्षा' का यह श्लोक प्रासंगिक है—

सौंदर्यवल्लीव विलासविज्ञा तारुण्यसम्पन्नमनोहरश्रीः।
सभागतेयं विजनेऽभिलाषादुपेक्ष्यते केन विचक्षणेन ॥४३॥६

एवमुपश्रुत्य वचः समुवाच पुरंदरात्मजः सुहृदम् ।
मम हृदयादिव कृष्ट्वा गीतमिदं साधुनाऽनेन ॥३२८॥

यह सुनकर सुन्दरसेन मित्र से बोला—'मेरे दिल से निकाल कर ही इस भले मानुस ने यह गीत गाया है ॥३२८॥

तदतनुसायकविकलां हारलतां हरिणशावतरलाक्षीम् ।
आश्वासयितुं यामो गुणपालित किं विकल्पितैर्बहुभिः ३२९॥

तो गुणपालित, काम से पीड़ित, मृगशिशु की भाँति तरल आँखों वाली हारलता को दिलासा देने के लिये हम चलें, इन बहुत प्रकार के ऊहापोहों से क्या लाभ ?[1] ॥३२९॥

अथ तत्र कापि गणिका गणयंती परिचितं हृतद्रविणम् ।
प्रविशन्तमेव मन्दिरमीर्ष्याव्याजेन निरुरोध ॥३३०॥

तत्पश्चात् वहाँ (जाकर देखा कि) किसी वेश्या ने किसी लुटे धन वाले परिचित पुरुष को, जब कि वह घर में प्रवेश कर ही रहा था, ईर्ष्या का बहाना करके (कि तुमसे पहले आया हुआ आदमी तुम्हें देखकर डाह करेगा) रोक दिया ॥३३०॥

काचिद्वंचकदत्तं पुंजीकृतजीर्णवसनमवलोक्य ।
वेश्या विषीदति स्म क्षपाक्षये वृत्तकर्तव्या ॥३३१॥

कोई वेश्या किसी ठग के द्वारा (पोटली जैसे) लपेट कर दिए हुए फटे-पुराने कपड़े को देख कर रात बीत जाने पर अपना सारा किया-कराया व्यर्थ जान विषाद करने लगी ॥३३१॥

दैवस्मृत्या पतितं दृष्टिपथे भग्नमूल्यविटमेका ।
ज्वलिता रुषा भुजिष्या जग्राह जवेन धावित्वा ॥३३२॥

खुश-किस्मती से कमाई का पैसा उड़ा कर भागा हुआ विट ज्यों ही दिखाई पड़ा, क्रोध से तमतमाई वेश्या ने वेग से दौड़ कर उसे पकड़ लिया ॥३३२॥

१—'मुकुन्दानन्दभाण' का यह श्लोक संगत है—
परिरम्भकेलिपरिहासभाषणैर्भृशमाहतोऽपि न वशं समेति यः ।
स वधूजनोऽपि यतते यदि स्वयंग्रहणाय तत्पुरुषपुण्यगौरवम् ॥१९४॥

अन्तःस्थितकामिगृहद्वारगतं लुप्तवित्तनरमन्या ।
समुवाच कुट्टनी व्रज कल्लोलाकल्पदेहेति ॥३३३॥

दूसरी कोई कुटनी समाप्त धन वाले पुरुष को द्वार पर पहुँचा देख कर, जब कि उसके घर में कोई कामुक पहले से आ ठहरा था, कह रही थी—"तेरे शरीर पर सिर्फ लहरियादार सफेद कपड़ा[1] भर है, चलता बन।" ॥३३३॥

प्रकटितदशननखक्षतिरभिदधती राजपुत्ररतियुद्धम्।
अपरा पुरः सखीनां वारवधूराततान सौभाग्यम् ॥३३४॥

दूसरी कोई वेश्या अपने शरीर के दन्तक्षतों और नखक्षतों को दिखा-दिखा कर अपने साथ हुए राजपुत्र के रतियुद्ध को कहती हुई साथ वालियों के सामने अपना सौभाग्य प्रकट कर रही थी ॥३३४॥

अन्या कामिस्पर्धार्तावर्धितभाटी समत्सुका चण्डी ।
सौभाग्यगर्वदर्पं समुवाह विलासिनीमध्ये ॥३३५॥

दूसरी कोपना वेश्या, जब कामुकों की परस्पर स्पर्धा कर पड़ने से उसकी कीमत[2] बढ़ गई तब औरों के सामने सौभाग्य की अँकड़ जताने लगी ॥३३५॥

एकगणिकानुबन्धे क्रोधोद्यतशस्त्रकामिनोः कापि ।
सम्भ्रमतो धावित्वा निवारयामास कुट्टनी कलहम ॥३३६॥

एक ही गणिका के लाभ के लिए क्रोध से शस्त्र उठा कर प्रहार करने के लिए तैयार दो कामुकों के कलह को कुटनी ने वेग से दौड़ कर रोका ॥३३६॥

धनमाहृत्य बहुभ्यो भुज्यत एकेन केनचित्सार्धम ।
इति धनवन्तं कामिनमावर्जयति स्म वारवधूः ॥३३७॥

'बहुतों से धन इकट्ठा करके किसी एक नागरिक के साथ उसको भोग किया जाता है' यह कह कर किसी वेश्या ने धनवान् कामुक को वशीभूत किया ॥३३७॥

१—कल्लोलाकल्पदेह—अर्थात् तेरे शरीर पर कुछ भी वेष-भूषा है नहीं, सिर्फ एक सफेद कपड़ा मात्र है, ऐसी स्थिति में वेश्या के घर क्या करेगा? यदि 'कल्लोल' और 'अकल्पदेह' को सम्बोधन मानते हैं तब 'कल्लोल' का अर्थ होगा शत्रु और 'अकल्पदेह' का अर्थ होगा असमर्थ शरीर वाला अर्थात् नपुंसक।

२—भाटी अर्थात् कीमत, मूल्य, पण। इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र आदि के वैशिक काव्यों में भी प्रचलित है।

गायन् गाथामात्रं द्विपदकमथ सौष्ठवेन विट एकः ।
बभ्राम पुरो दास्या विदधद्विकृतीरनेकविधाः ॥३३८॥

एक विट द्विपदिका[1] के लय में मात्रिक गाथा को सुन्दर ढग से गाता और विविध प्रकार की चेष्टाएँ करता हुआ वेश्या के सामने कतराने लगा[2] ॥३३८॥

कश्चित्पण्यस्त्रीणां विभवोपचितान्यपुरुषयोजनया ।
विदधाति स्माराधनमधनत्वमुपागतः कामी ॥३३९॥

दरिद्रता को प्राप्त कोई कामी विभव शाली किसी दूसरे पुरुष को बाजारू औरतों के फेर में डाल कर मज़ा मारने लगा ॥३३९॥

त्वयि सक्तेन मया गृहमुज्झितमधुना परेव जातासि ।
इति ढौकमलभमानः कश्चिद्गणिकामुपालेभे ॥३४०॥

'तेरे प्रेम में पड़ कर मैंने घर छोड़ा और तू आज दूसरी-सी हो गई है' इस प्रकार किसी ने गणिका से कुछ न पाते हुए उसे उलहना दिया ॥३४०॥

उषितामापरेण समं वृद्धविटानां पुरः पराजित्य ।
पूजयति स्म भुजंगः कश्चिद्गणिकां द्विगुणभाट्या ॥३४१॥

किसी कामी ने पैसा लेकर दूसरे के साथ सोई हुई किसी गणिका को बूढ़े विटों के सामने पराजित करके उससे दुगुना पैसा वसूल किया[3] ॥३४१॥

१—द्विपदिका—

'शुद्धा खण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा ।
द्विपदीकरणाख्येन तालेन परिगीयते ॥'

२—लुटे धन वाले विट-जन गणिका को आकृष्ट करने के लिए ऐसे ही प्रयत्न करते हैं । जैसा कि आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

भक्षितनिजबहुविभवाः परविभवक्षपणदीक्षिताः पश्चात् ।
अनिशं वेश्यावेशस्तुतिमुखरमुखा विटाश्चिन्त्याः ॥

३—यहाँ प्राचीन वंश जीवन की एक खास पद्धति की ओर संकेत है । अपने प्रति अन्याय देखकर कोई भी 'विटमण्डप' में पहुँच कर 'विटमहत्तरों' (बूढ़े विटों) की बटोर करता था और उनकी सभा में अपने प्रति हुये अन्याय का फैसला करवाता था । 'पादताडितक' में उस 'बटोर' को 'विटसन्निपात कर्म' कहा है । वहां भी एक ऐसी ही घटना का उल्लेख है ।

दृष्टा त्वया विशेषक वलयकलापीं शशिप्रभाभुजयोः ।
बाढं भण भण कीदृक् चारुतरा सा मया दत्ता ॥३४२॥

[उन्होंने इस प्रकार विटजनों की बातें सुनीं]

विशेषक, तूने शशिप्रभा के हाथों में वलयकलापी[1] देखी, बता, बता, कैसी है ? उसे मैंने दिया है ॥३४२॥

अद्य चतुर्थो दिवसश्चीनाम्बरयुगलकस्य दत्तस्य ।
तदपि परुषा विलासा वद मदनक किं करोम्यत्र ॥३४३॥

मदनक, आज चार दिन हुए कि मैंने (उसे) दो चीन के रेशमी कपड़े दिए थे, फिर भी यह कड़ी बातें किए जा रही है, तू ही बता, अब मैं क्या करूँ ? ॥३४३॥

स्नेहपरा मयि केली कलहंसक किंतु राक्षसी तस्याः ।
माता नात्मीकर्तुं वर्षशतेनापि शक्यते पापा ॥३४४॥

कलहंसक, केली मुझे प्यार करती है, किन्तु राक्षसी पापिन उसकी माँ सौ वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी अनुकूल नहीं कही जा सकती[2] ॥३४४॥

सुमनः कुंकुमवासः सज्जीकुरु किमिति तिष्ठसि विचिंतः ।
अद्य तव दयितिकायाः किंजल्कक नर्तनावसरः ॥३४५॥

किंजल्कक, आज तेरी चहेती (दयितिका) के नाचने का दिन है, फूल और कुँकुम से कपड़े को सजा, क्यों लापरवाह बैठा है ? ॥३४५॥

१—एक प्रकार का बाजूबन्द जातीय अलंकार। मयूराकार भूषण, (जिसका मुख मयूर का बना हुआ और शेषभाग चन्द्रकांकित पुच्छ की चित्रकारी से युक्त)। इस प्रकार के बाहुभूषण के सम्बन्ध में भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखा है—

शङ्खकलापी कटकं तथा स्यात् पद्मपूरकम् ।
खर्जूरकांसोपितिकं बाहुनानाविभूषणम् ॥

तनसुखराम का कहना है कि निश्चय ही 'वलयकलापी' 'शङ्खकलापी' है, क्योंकि 'वलय' शङ्ख से बनाये जाते थे ।

२—यहां विट हमेशा पैसे का तगादा करने वाली गणिका की माता पर बहुत कुपित है, जो वेशजीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है । अगर गणिकाओं की मां न हो तो ये विट उन्हें परेशान कर डालें । क्षेमेन्द्र का कहना है कि वेश्या के मातृ हीन गृह में ये विट घुसकर उस प्रकार बाहर नहीं निकलते जिस प्रकार जाड़े के दिनों में चूल्हे में सोया बिलार जल्दी बाहर नहीं निकलता ।

यदि नाम पंच दिवसांस्त्वयि कुरुते प्रेम धनलवं दृष्ट्वा ।
तदपि न रागवती सा कन्दर्पक किं वृथा गर्वः ॥३४६॥

कन्दर्पक, यदि किसी तरह थोड़ा सा धन देख कर वह पाँच दिनों तक तुझे प्यार कर ले, तब भी वह तुझे प्यार नहीं करती, व्यर्थ क्यों गर्व कर रहा है[1] ॥३४६॥

जीवन्नेव विलासक परिहर दूरेण मूढ़ हरिसेनाम् ।
बद्धावेशस्तस्यां व्यापृतपुत्रो महाविषमः ॥३४७॥

अरे विलासक, मूढ़ कहीं का ! जीते जी दूर ही से हरिसेना को छोड़, क्योंकि व्यापृत का लड़का उससे फँस गया है, जिसे तू किसी प्रकार मात नहीं दे सकता ॥३४७॥

केसरया क्षणदत्तं कृत्वांशुकमुपरि कामिजालस्य ।
स्तब्धग्रीवं भ्रमतश्चन्द्रोदय पश्य माहात्म्यम् ॥३४८॥

चन्द्रोदय, केसरा ने उत्सव के अवसर पर उपहार में जो अंशुक दिया था उसे कन्धे पर रख कर गर्दन उठा कर घूमते हुए कामिजाल का माहात्म्य देख ॥३४८॥ ।

कौमारकं विहन्तुं रतिसमये मदनसेनायाः ।
इच्छामि किंतु तस्या मात्रातीव प्रसारितं वदनम् ॥३४९॥

मैं चाहता हूँ कि रतिसमागम के अवसर पर मदनसेना का कौमारक हरण करूँ, किन्तु उसकी माँ ने ही ज्यादा मुँह फैला रखा है[2] ॥३४९॥ ।

१—क्षेमेन्द्र का यह पद्य उद्धरणीय हैं—

वेश्यालताः सरागं पूर्वं तदनु प्रलीनतनुरागम् ।
पश्चादपगतरागं पल्लवमिव दर्शयंति निजचरितम् ॥

२—यहाँ वेश्या जीवन में प्राचीन काल से चले आ रहे एक खास रस्म की ओर संकेत है। रतिसमागम के अवसर पर मदन सेना के कौमारक अर्थात् कौमार्य का हरण करना (उसे छूती करना) और उसकी माँ का मुँह फैलाना (अर्थात् पैसा ज्यादा मांगना) दोनों स्थितियाँ बहुत पहले भी थीं। उस खास रस्म को उन दिनों 'यौवनोत्सव' कहते थे। आज के लखनवी वेश्या जीवन में 'मिस्सी' या नथ उतारने की रस्म' कहते हैं। वेश्या का रोजगार आरम्भ होने के पूर्व की अवस्था

विभ्रम कियतस्तपसः फलमेतद्यदुपभुज्यते मदिरा।
स्वकरेण पीतशेषा मदघूर्णितमदनसेनया दत्ता ॥३५०॥

विभ्रम, तूने कितना तप किया है जो यह फल भोग रहा है कि पीकर मस्त मदनसेना ने पीने से बची मदिरा को अपने हाथ से मुझे अर्पित किया[1]॥३५०॥ ।

कुवलयमालानिलयो लीलोदय किमिति सम्प्रति त्यक्तः ।
किं विदधामस्तस्मिन्भ्रातर्दास्या विना मूल्यम् ॥३५१॥

'लीलोदय, अब तूने कुवलयमाला का घर क्यों छोड़ दिया' ?—'क्या करें भाई ! पैसे के बिना दासी रख के क्या होगा' ? ॥३५१॥

मुषिताशेषविभूतेरिन्दीवरकस्य यामिनी याति ।
संवाहयतः सम्प्रति मंजीरक तिलकमंजरीचरणौ ॥३५२॥

मञ्जरीक, इन्दीवरक का सारा ऐश्वर्य छिन गया, उसकी रात इन दिनों तिलक मञ्जरी के चरण दाबते गुजरती है ॥३५२॥

'दारिका' या 'गणिका दारिका' की होती है। इस अवस्था में उससे कोई हँसी मजाक नहीं कर सकता था।' 'उमराव जान' ने 'दारिका' को लखनवी जबान में 'नौची' कहा है। यौवनोत्सव या मिस्सी किसी चाहने वाले के हजारों रुपये नकद देने पर सम्पन्न की जाती थी। इस प्रकार उस व्यक्ति को कौमार्य के हरणार्थ नौची सौंप दी जाती थी। प्रस्तुत में जब विट ने मदनसेना के कौमार्य के हरणकी इच्छा प्रकट की तब उसकी मां ने मुँह ज्यादा फैला दिया अर्थात् बहुत पैसे की मांग की जिसे वह देने में असमर्थ हो गया।

१—प्राचीन काल में सपीति या सहपान की प्रथा थी, जिसमें नायक और नायिका दोनों मिलकर मधुपान करते थे। वैशिक जीवन में मधुपान एक अनिवार्य प्रसंग था। वेश्या के हाथ से प्रतिशेष मधु के पान की सूचना द्वारा विट ने उसके प्रति उत्कर्ष-प्राप्त अनुराग व्यक्त किया है। फारसी या उर्दू के साहित्यों में प्रियतमा या साक़ी के हाथों से शराब पीने के लिए प्रेमी विकल रहता है। ग़ालिब कहते हैं—

पिला दे ओक से साक़ी, जो हमसे नफ़रत है।
पियाला भर नहीं देता, न दे, शराब तो दे॥

अद्यापि बालभावं निखिलं न जहाति बालिका तदपि ।
प्रौढिम्ना मकरन्दक सकला ललना अधःकुरुते ॥३५३॥

[उन्होंने कुटनी, विट, दासी और गणिका प्रभृति की बातें चलते-चलते सुनीं]

(किसी बूढ़ी वेश्या ने अपनी लड़की के सम्बन्ध में कामुक से कहा—) 'मन्दरक' आज भी बालिका का पूरा बचपना नहीं गया, फिर भी अपनी पोढ़ाई से समस्त ललनाओं को नीचे करती है' ॥३५३॥

कुब्जे गत्वा वक्ष्यसि तं निर्दयचित्तनर्तनाचार्यम् ।
हारा सुकुमारतनुः किमिति श्रममद्य कारिता भवता ॥३५४॥

(किसी वेश्यामाता का दासी के प्रति वचन) 'कुब्जे, जाकर निर्दय उस नृत्याचार्य (रक्स के उस्ताद) से कहना कि हारा अभी सुकुमार शरीर है, आज आपने इतनी मेहनत क्यों कराई' ॥३५४॥

निःसारोऽभिनिवेशः शुकशावकपाठने सुरतदेवि ।
तिष्ठति बहिरुपविष्टः प्रतीक्षमाणस्तव प्रेयान् ॥३५५॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'सुरतदेवि, सुग्गे के बच्चे को पढ़ाने में यह लगन बेकार है, तेरा चहेता बाहर बैठा इन्तज़ार कर रहा है' ॥३५५॥ ।

वीणावादनखिन्ना पतितास्ते वासभवनपर्यंके ।
उत्थापय तां त्वरितं स्मरलीलां मत्त आयातः ॥३५६॥

(चेरी के प्रति माता का वचन) 'वीणा बजा के थकी स्मरलीला वास-भवन के पलंग पर पड़ी है, उसे शीघ्र उठा, मत्त आया है' ॥३५६॥

किमिदं यथास्थितत्वं तव माधवि यन्मुहुर्वदन्त्या मे ।
परिधत्से नाभरणं श्रीविग्रहराजसूनुना दत्तम् ॥३५७॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'माधवि, यह क्या तेरा ढीठपना कि मैं बार-बार कहती हूँ और तू विग्रहराज के लड़के का दिया गहना नहीं पहनती !' ॥३५७॥

ईदृक्शून्यमनस्त्वं किं कुर्मो मातरिन्दुलेखायाः ।
पानक्रीडासक्तया पतितापि न चेतिता कनकनाडी ॥३५८॥

(कामुक को सुनाते हुए चेटी का वेश्यामाता के प्रति वचन) 'अम्मा हम क्या करें ! इन्दुलेखा इस तरह लापरवाह हो गई है कि उसने पानक्रीड़ा में गिरी कान की तरनी को भी नहीं जाना' ॥३५८॥

नकुलः पयो न पायित इति रोषवशादियं हि दुःशीला ।
नाश्नाति कामसेना पुनः पुनर्याच्यमानाऽपि ॥३५९॥

(वेश्या माता के प्रति कामुक को सुनाते हुए चेटी का वचन) नेवले को दूध नहीं पिलाया, बस इतने से ही रुष्ट हो जाने के कारण यह ढीठ काम सेना बार-बार मनावन करने पर भी नहीं खाती' ॥३५९॥

श्रीबलसुतपरिपालित ऊर्णायुः किल मया विजेतव्यः ।
मुकुला मुक्तसुखस्थितिरहर्निशं मेषपोषणे लग्ना ॥३६०॥

(कामुक नायक को सुनाते हुए वेश्यामाता की उक्ति)
'क्या करूं ! श्रीबल के पुत्र के पाले हुए भेड़े को पछाड़ने के लिए मुकुला सुख भोग परित्याग करके दिनरात भेड़े को तैयार करने में लगी रहती है' ॥३६०॥

आताम्रतां समुपगतमुच्छूनं च करतल तव ललिते ।
मा पुनरतिचिरमेवं प्रविधास्यसि कन्दुकक्रीडाम् ॥३६१॥

(वेश्यामाता की नोची के प्रति उक्ति) 'ललिता, तेरा हाथ लाल हो गया और सूज गया है, तू फिर देर तक इस तरह गेंद न खेलना' ॥३६१॥

अभिराम कनकभाटी प्रथममियं गृह्यते समुत्पन्ने ।
स्नेहे तु कुसुमदेव्यास्त्वं प्रभवसि जीवितस्यापि ॥३६२॥

(प्रथमागत कामुक के प्रति वेश्यामाता की उक्ति) 'अभिराम, पहले-पहले सोने की गिन्नी (हम) लिया करते हैं, बाद में जब कुसुमदेवी का प्यार हो जायगा, तब तो उसके जीवन पर भी तुम्हारा अधिकार होगा' ॥३६२॥

वेश्यामाता बहाना करती है कि तत्काल उसकी पत्री के पास किसी से मुलाकात का समय नहीं है। आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार यह आवश्यक है कि वेश्या को तत्काल अपनी व्यस्तता व्यक्त कर देनी चाहिए क्योंकि लोग स्वभावतः सुलभ वस्तु के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं—

'प्रथम प्रार्थिता वेश्या न क्षणाऽस्तीत्युदाहरेत् ।
जनस्यायंस्वभावः हिं सुलभामवमन्यते ॥ समयमातृका ५।६८ ।

ग्रहणकमर्पय तावद्यदि कौतुकमुपरि चन्द्रलेखायाः।
निर्वर्तितकर्तव्यो दास्यसि किंचिद्यथाभिमतम् ॥३६३॥

(वेश्या माता की नवागत कामुक के प्रति उक्ति) 'यदि तुम्हें चन्द्रलेखा के ऊपर कुतूहल है तो बख्शीश (ग्रहणक) निकालो, जब काम हो जायगा तब जो चाहे दे देना' ॥३४३॥

न परमदाता मातः सूनुरसौ वासुदेवभट्टस्य।
निर्लज्जः शठवृत्तिः पुनः पुनर्वार्यमाणोऽपि ॥३६४॥
क्षपयति वसनानि सदा हठेन सकलानि सुरतसेनायाः।
न ददात्येकामूर्णासुरणः परमत्ति कर्पासम् ॥३६५॥

(माता के प्रति चेटी द्वारा कामुक की शठता का प्रकाशन) 'माता जी, यह वासुदेव का लड़का ज्यादा देने वाला नहीं है और बार-बार मना करने पर भी शठता करके बेहया सुरत-सेना के सारे कपड़ों को हठ-पूर्वक हमेशा हटा देता है; भेड़ा एक तो ऊन का एक भी सूत नहीं देता दूसरे कपास के बीज को चबा डालता है' ॥३६४-३६५॥

भगिनि न मुंचति वेश्म क्षणमपि मेक्षपटराजपुत्रोऽसौ।
भग्नान्यतरावसरो नग्नेनाधिष्ठितं यथा तीर्थम् ॥३६६॥

(गणिका द्वारा दूसरी से कामुक के शाठ्य का निरूपण) 'बहिन, वह अक्ष पटराज का लड़का क्षण भर भी घर नहीं छोड़ता इससे दूसरों को मौका नहीं मिलता, नंगे को जैसे तीरथ मिल गया है' ॥३६६॥

इत्थंप्राया वाचः शृण्वन्विटकुट्टनीसमुद्गीर्णाः।
तं वेशसंनिवेशं पश्यन् प्रविवेश दारिकावेश्म ॥३६७॥

प्रायः इसी तरह विटों और कुट्टनियों की बातें सुनता और वेश्याओं के मुहल्ले की बनावट देखता हुआ वह नौची (हारलता) के घर में प्रविष्ट हुआ ॥३६७॥

१—नग्नेनाधिष्ठितं तीर्थम्—यह लोकोक्ति है। नंगे को तीरथ मिल गया है। नग्न अर्थात् नंगे रहने वाले साधु, जो तीर्थ के किसी स्थान पर टिक जाने पर अड़ जाते हैं, फिर उस स्थान को नहीं छोड़ते। उसी प्रकार शठ कामुक भी घर में बैठा रहता है।

आकृष्टमिवोत्कतया स्नपितमिव स्निग्धचक्षुषः प्रसरैः ।
तमुपागतमभ्यर्णं हारलता पूजयामास ॥३६८॥

उत्कण्ठा से खिंचे हुए की भाँति, स्नेह-भरे दृष्टिपातों से नहाये हुए की भांति, पहुँचे उस सुन्दरसेन का हारलता ने सत्कार किया ॥३६८॥

सुविहितसमुचितसंस्थितिरवनतशिरसा प्रणम्य तत्सख्या ।
इदमभिदधेऽतिनम्रं सुन्दरसेनः शुभावसरे ॥३३६॥

सुन्दर सेन समुचित आसन पर बैठा, तब हारलता की सखी शुभ अवसर देख उसे प्रणाम करके विनय पूर्वक उससे बोली ॥३६६॥

प्रियदर्शन किं बहुभिः स्मरपीडितदीनवचनसन्दर्भैः ।
इयमास्ते हारलता जीवनमस्यास्त्वदायत्तम् ॥३७०॥

'प्रियदर्शन, कामपीड़ित (हारलता की) दीनता भरी बहुत बातों से क्या लाभ ? यह हारलता है और इसका जीवन तुम्हारे अधीन है ॥३७०॥

निर्यंत्रकेलिविशदं सहजप्रेमानुबन्धरमणीयम् ।
कार्यान्तरान्तरायैरपरिहृतं यातु यौवनं युवयोः ॥३७१॥

तुम दोनों का जीवन प्रतिबन्ध-रहित क्रीड़ा बिहारों द्वारा विशद, सहज प्रेम[1] के निगूढ बन्धन द्वारा रमणीय और अन्य कार्यों के विघ्नों से रहित बीते ॥३७१॥ ।

निर्दयमविरतवांछं ध्वस्तत्रपमव्यवस्थितावरणम् ।
उपचीयमानरागं सततं भूयाद्भवत्सुरतम् ॥३७२॥

निर्दय भाव से (जिसमें मृदुता न बरती जाय), इच्छा को विराम न दे, लज्जा को दूर कर, आवरण को हटा, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अनुराग[2] के

१—सहज प्रेम, अर्थात् नैसर्गिकी प्रीति ।

"दम्पत्योः सहजा तु या ।
सान्द्रा निगडभूता च प्रीतिर्नैसर्गिकी मता"

(अनङ्गरङ्ग ४।२६)

२—अनुराग का विरुद्ध-अविरुद्ध प्रत्येक अवस्था में उत्तरोत्तर बढ़ते रहना उसकी खास विशेषता है। 'रसार्णवसुधाकर' के अनुसार जब दुःख भी सुख रूप से ही जिस स्नेह प्रकर्ष के कारण अनुभूत होता है तब 'राग' की स्थिति आती है—

साहिब, निरन्तर[1] तुम्हारा सुरत होता रहे' ॥३७२॥ ।

इति दत्त्वाशिषमन्तर्निर्याते परिजने तदङ्गेषु ।
विस्रम्भविविक्तरसो ववृधे कुसुमायुधः सुतराम् ॥३७३॥

यह आशीर्वाद दे, परिजन के भीतर चले जाने पर उसके अंग-अंग में प्रणय द्वारा परिशुद्ध मदनरसावेग बढ़ गया ॥३७३॥ ।

यदमन्दमन्मथोचितमनुरूपं यन्नवानुरागस्य ।
यद्यौवनाभिरामं यच्च फलं जीवितव्यस्य ॥३७४॥

अविनय एव विभूषणमश्लीलाचरणमेव बहुमानः ।
निःशंकतैवसौष्ठवमनवस्थितिरेव गौरवाधानम् ॥३७५॥

केशग्रहणमनुग्रह उपकारस्ताडनं मुदे दंशः ।
नखविलिखनमभ्युदयो दृढ़देहनिपीड़नं समुत्कर्षः ॥३७६॥

निगरणलोलं चुम्बनमवयवनिष्पेषणस्पृहो मर्दः ।
अंतःप्रवेशनेच्छं निर्भरपरिरम्भणं यस्मिन् ॥३७७॥

जो[2] सुरत चण्डवेग काम के उपयुक्त, साथ ही अनुराग के अनुरूप, यौवन के

'दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव राज्यते ।
येन स्नेहप्रकर्षेण स राग इति कथ्यते ॥'

प्रत्येक अवस्था में उपचीयमान होने वाले राग को 'मांजिष्ठ राग' कहा है—

"अचिरेणैव संसक्तश्चिरादपि न नश्यति ।
अतीव शोभते योऽसौ माञ्जिष्ठो राग उच्यते ॥"

१—सुरत की निरन्तरता—अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से द्विविध सुरत का हमेशा जारी रहना । बाह्य सुरत के प्रेक्षण, भाषण, आश्लेषण, चुम्बन आदि अनेक भेद हैं और आभ्यन्तर सुरत उत्तानक आदि भेद से षड्विध है ।

२—यहां से कवि ने गणिका हारलता और सुन्दरसेन का सुरत-वर्णन आरम्भ किया है । इसे उस अंश में अस्वाभाविक या विरुद्ध नहीं कहा जा सकता कि गणिका होने के कारण मुग्धा होकर भी हारलता बाल्यकाल में कामतन्त्र के सिद्धांतों से पूर्ण परिचित हो चुकी है और सुन्दरसेन भी कामशास्त्र में निपुण है ।

कारण अभिराम[1] और जीवित रहने का फल है, जिसमें अविनय[2] ही विभूषण है अश्लील व्यवहार ही गौरव है, निर्भीक हो जाना ही भद्रता है और एक जगह न टिकना (अस्थिर हो जाना) ही गौरव देने वाला है, बाल पकड़ना[3] अनुग्रह है, ताड़न[4] उपकार है, दांत से काट लेना प्रसन्नता के लिए होता है, नखों से खरोचना अभ्युदय है, कस कर शरीर को दबाना बड़प्पन है, और जिसमें अतिप्रसक्त और सतृष्ण चुम्बन[5] है, अङ्गों को कस कर दबाते हुए निरपेक्ष भाव से मसलना[6] है और अन्तः प्रवेश इच्छा[7] से कस कर आलिङ्गन है ।।३७४-३७७।।

१—यह स्थिति उद्दाम यौवन के अवसर के सर्वथा अनुकूल ही है, जैसा कि कहा है—

सौन्दर्यं प्रीति सम्पात्तिश्चण्डवेगोऽथ यौवनम् ।
एकैकमनुरागाय किमु यत्र चतुष्टयम् ।।

२—३७६ और ३७७ श्लोकों की छाया बहुत अंश में भट्टभूरित के इस श्लोक में मिल गई है—

यद्दूर मुक्तविनय यदनुष्ठितेच्छं यन्निर्दयं यदसमाधि यदस्तलज्जम् ।
यद्रागपोढहृदयं यदमुक्तलज्जं तत्तद्बभूव सुरतेषु गुणो न दोषः ।।

३—केशग्रहण—नायिका को द्रवीभूत करने के लिए नायक उसके बालों को पकड़ता है, आकर्षण करता है। 'अनङ्गरङ्ग' के अनुसार तरुणीजनों के प्रशस्त केशों को चुम्बन के अवसर में मन्द एवं विधिपूर्वक पकड़ना चाहिये। यदि नायक प्रियतमा के बालों को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर चुम्बन करता है ऐसी स्थिति में वह केश-ग्रहण 'समहस्तक' कहलाता है। यदि एक ही हाथ से पकड़ता है तब 'तरङ्गरङ्गक' कहलाता है। जब कामार्त प्रिय बालों को हाथों में लभेड़ कर पकड़ता है तब वह 'भुजंगवल्लिक' कहलाता है। कानों के पास वाले बालों को पकड़ कर जब परस्पर चुम्बन होता है तब वह कचग्रह 'कामावतंस' इस नाम से अभिहित होता है।

४—ताडन—कराघात, हस्त प्रयोग विशेष। नायिका की पीठ पर का ताडन 'मुष्टि' मस्तक पर फणाकार हाथ द्वारा ताड़न 'प्रसृतक', स्तनान्तर में अथवा स्तन पर ताडन 'अपहस्तक' एवं पार्श्व या जघन में ताड़न 'समतल' कहलाता है।

५—'विगलल्लोलं चुम्बनम्' अर्थात् जिस चुम्बन में जिह्वा अधिक अंश ग्रहण करती है। जिह्वायुद्ध नामक चुम्बनयुद्ध में अन्तमुंख चुम्बन, दशनचुम्बन, जिह्वाचुम्बन और तालुचुम्बन ये चार प्रकार के चुम्बन यहां किए गए।

६—नायिका के ऊरु, बाहु, कुच, नितम्ब, पार्श्व, निम्नोदर और जघन प्रभृति को नायक निर्दय भाव से मर्दन करता है।

७—इस प्रकार का आलिंगन 'नीरक्षीरक' कहलाता है। जिसमें रागान्धतावश

यदनङ्गैरिव विहितं रागैरिव दीप्तिमत्त्वमुपनीतम् ।
प्रेमभिरिव निश्चलितं शृंगारैरिव विकासमानीतम् ॥३७८॥

जो मानों कई अनङ्गों द्वारा सम्पादित है, अनेक रागों द्वारा उद्दीपित है, बहुत प्रेमों से निश्चल बनाया गया है और नाना विधि शृङ्गारों द्वारा विकसित है[1] ॥३७८॥

अप्रागल्भ्यं व्यसनं धैर्यमकार्यं विवेक उपघातः ।
ह्रेपणमगुणो यस्मिन् तत्सुरतं प्रस्तुतं ताभ्याम् ॥३७९॥

जिसमें प्रगल्भ न होना नाशक है, धैर्य अकार्य है, विवेक अयोग्यता सम्पादक है और लजाना अगुण है, उसे दोनोंने आरम्भ किया ॥३७९॥

प्रारंभ एव तावत्प्रज्वलितो धगिति मनसिजो यस्मिन् ।
तस्य विशेषावस्था वक्तुमशक्याः प्रवृद्धस्य ॥३८०॥

जिस सुरत में प्रारम्भ ही में कामाग्नि धक् धक् करके प्रज्वलित हो उठा फिर उसके बहुत बढ़ जाने पर उसकी विशेष अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३८१॥

सहजरसेन जडीकृतमिति यूनः कामशास्त्रनिर्णीतौ ।
नानाकरणग्रामे लालित्यमवाप पाण्डित्यम् ॥३८१॥

इस प्रकार सहज शृङ्गार रस के द्वारा कुंठित कर दिया गया उन तरुण-तरुणी का पाण्डित्य कामशास्त्र में वर्णित नाना प्रकार के करण-समूह में[2] लालित्य को प्राप्त हुआ ॥३८१॥ ।

आलिंगन के अवसर में यह बिलकुल भान नहीं होता कि दूसरे का अंग-भङ्ग होगा या नहीं, बल्कि दोनों तत्काल एक दूसरे में प्रवेश कर जाना, दूध और पानी की भांति मिल जाना चाहते हैं ।

१—तात्पर्य यह कि एक अनंग उस प्रकार के सुरत के सम्पादन में क्षम नहीं हो सकता । इसी प्रकार राग, प्रेम और शृंगार आदि में बहुवचन-प्रयोग को संगतार्थ समझना चाहिये । उपर्युक्त कथन से कवि ने अनंग को सुरत का उत्पादक, राग, को वर्धक, प्रेमा को स्थैर्यकारक एवं शृंगार को सुरत के गुणों का सम्पादक माना है ।

२-नानाकरणग्राम-अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर रत । आलिंगन, चुम्बन, नखच्छेद्य, दन्तच्छेद्य, संवेशन सीत्कृत, पुरुषायित और उपरिष्टक इन प्रत्येक में आठ भेद से ६४ अंग; अथवा रतिबन्ध के ८४ भेदों की ओर संकेत है । प्रधानतः

अविधेयमनाख्येयं प्रविचर्यं छादनीयमविषह्यम् ।
न बभूव तयोस्तस्मिन्नारब्धे सुरतपरिमर्दे ॥३८२॥

जब उन दोनों का वह सुरत का सम्मर्दन आरम्भ हुआ कि तत्काल कुछ भी अकरणीय, अकथनीय, अविचारणीय, गोपनीय और असहनीय नहीं रहा ॥३८२॥

अभ्यस्ता या तन्व्या सुरतविधौ विविधचाटुपरिपाटी ।
तामालूनविशीर्णां चकार सहजः स्मरावेगः ॥३८३॥

जो पहले नाना प्रकार की चाटूक्तियों की परम्परा उन्हें अभ्यस्त थी उसे सुरत के आरम्भमें कामसंरम्भ ने छिन्न-भिन्न कर डाला ॥३८३॥

सद्भावरागदीपितमदनाचार्योपदिष्टचेष्टानाम् ।
कः परिगणनं कर्तुं रतिचक्राविष्टरमणयोः शक्तः ॥३८४॥

सद्भाव और प्रेम के कारण उद्दीपित मदनाचार्य द्वारा उपदिष्ट चेष्टाओं को, कौन है जो रमण और रमणी के रति-चक्र में आविष्ट[1] हो जाने पर गणना कर सकता है ? ॥३८४॥

बाला मृदुगात्रलता दृढपुरुषाक्रान्तविग्रहा न परम् ।
न व्यथिता मुदमाप प्रभवति खलु चित्तजन्मनः शक्तिः ॥३८५॥

सुकुमार अंग लतिका वाली बाला दृढ़ पुरुष से आक्रान्त होने पर केवल व्यथित ही न हुई अपितु प्रसन्न भी हुई, यह कामदेव की शक्ति का प्रभाव है ॥३८५॥ ।

किं रमणीं रमणोऽविशदुत रमणी रमणमिति न जानीमः ।
स्वावयवावगमस्त्व प्रकाशमगमत्तयोस्तदा निपुणम् ॥३८६॥

क्या रमणी ने रमण में प्रवेश किया या रमण में उसने, हम नहीं जानते,

---

रतिबन्ध ६ भागों में विभक्त है—उत्तान, पार्श्व, आसित, व्यानत, स्थित और पुरुषादित । इनमें प्रत्येक के विभाग करके ८४ बन्ध कामशास्त्र में प्रसिद्ध हैं ।

१—रतिचक्राविष्ट—रतिचक्र अर्थात् सुरतप्रवन्ध, उसमें पिल पड़े । वात्स्यायन कहते हैं ।

शास्त्राणां विषयस्तावद् यावन्मन्दरसा नराः ।
रतिचक्रप्रवृत्तस्य नास्ति शास्त्रं न च क्रमः ॥

का० सू० २।२

पर उससमय तो बिलकुल उन्हें अपने अंगों का ज्ञान लुप्त हो गया ।।३८६।।

तस्या निमीलितदृशो निःस्पन्दतनोर्बभूव सुरतान्ते ।
लिङ्गमनङ्गच्छाया जीवितसत्तानुमानस्य ।।३८७।।

सुरत के समाप्त होने पर उसकी आँखें मुँद गई और शरीर अचल हो गया (ऐसालगा कि वह मर गई, पर) उसके शरीर में एक प्रकार की काम-कान्ति व्याप्त थी, जिसके कारण उसके जीवित रहने का अनुमान हुआ ।।३८७।।

श्रमजलबिन्दूपचिता वृत्तस्मरणेन जातवैलक्ष्या ।
सा शुशुभे रतिविरतौ पर्याकुलकेशभूषणा नितराम् ।।३८८।।

विपरीत रति के परिश्रम के कारण उसके शरीर में पसीने के जल की बूँदें भर आईं, उसके बाल और गहने अस्त-व्यस्त हो गये हैं एवं निज कार्य स्मरण करके नितान्त लज्जित वह सुन्दर दिखने लगी ।।३८८।।

निर्व्याजार्पितवपुषोर्निर्वृतिमयमेव गणयतोर्विश्वम् ।
क्षणदा विरराम तयोरक्षीणाकांक्षयोरेवम् ।।३८९।।

निश्छल भाव से परस्पर शरीर समर्पित करने वाले उन दोनों को प्रतीत हुआ कि संसार सुखमय ही है, इस प्रकार उनकी आकांक्षा अभी पूरी ही न हुई कि रात बीत गई ।।३८९।।

मोहनविमर्दखिन्ना विजृम्भमाणा स्खलद्गतिर्मंदम् ।
निद्राकषायिताक्षी हारलता वासवेश्मनो निरगात् ।।३९०।।

तब सुरत के मर्दन से खिन्न, नींद (के अभाव में) लाल आँखों वाली जंभाई लेती और गिरती-पड़ती धीरे-धीरे वास भवन से निकल गई (३९०)।

"परिचितपार्श्वंगताहं तेन समं पानभोजनं कृत्वा ।
नीता निशा कथाभिर्मोहनकार्यं च यत्किंचित् ।।३९१।।

[प्रभात में सुन्दरसेन ने वेश में घूमते हुए गणिकाओं की परस्पर इस प्रकार की बातें सुनी]

(मन्दवेग नायक के साथ नीचरत में असन्तुष्ट गणिका की उक्ति) 'मैं उस परिचित के पास गई, उसके साथ खान-पान करके कहानी-किस्से से रात गुज़ारी, सुरत कार्य तो नाम मात्र हुआ' ।।३९१।।

अविदग्धः श्रमकठिनो दुर्लभयोषिद्युवा जडो विप्रः ।
अपमृत्युरुपक्रान्तः कामिव्याजेन मे रात्रौ ॥३९२॥

(चण्डवेग और चिरकाल कामुक के कारण उच्च रत से असन्तुष्ट गणिका की उक्ति) 'बिलकुल बुद्धू, श्रम करने से कर्कश, जिसे स्त्री दुर्लभ थी, जवान और मूर्ख एक विप्र आज रात कामुक के व्याज से मेरी मृत्यु के रूप में आ पहुँचा' ॥३९२॥) ।

नेच्छाविरतिः क्षणमपि न च शक्तिर्वस्तुशून्यरतियत्नैः ।
केवलमलद्याहं कदर्थिता वृद्धपुरुषेण ॥३९३॥

(रत शक्ति शून्य वृद्ध पुरुष के समागम से खिन्न गणिका की उक्ति) 'आज मुझे एक बूढ़े ने बिना वस्तु के रति कार्यों के कारण केवल बहुत पीड़ित किया क्योंकि क्षण भर भी उसकी इच्छा तो कम न होती थी और वह शक्ति सम्पन्न भी न था ॥३९३॥ ।

मद्यवशादभियोक्तरि मृतकल्पे तल्पभागमग्नायाः ।
अनिरोधितनिद्रायाः सुखेन मे यामिनी याता ॥३९४॥

(रतान्त में ~~मद्यपान करके~~ निःसंज्ञ हो कामुक के पड़ जाने से अनायासित एवं सुख से सोई गणिका की उक्ति) 'मेरी रात सुख से गुज़री, क्योंकि रताभियोग करने वाला वह पीकर मरा जैसा हो गया, इसलिए पलंग पर पड़ी मुझे नींद बिना बाधा के आई' ॥३९४॥ ।

सुकुमारसम्प्रयोगः पेशलवचनः सवक्रपरिहासः ।
शकुनवशेन समेतो मम सखि रमणो मनोहराकारः ॥३९५॥

(उत्तम नायक को पाकर हर्षित गणिका की उक्ति) 'सखी, मेरा रमण सुकुमारता से काम लेता था, मधुर बातें करता था, हँसी-मजाक भी पेंच से करता था, साथ ही सुभग और देखने में सुन्दर था, ॥३९५॥ ।

पर्यंकान्तनिलीनः परांमुखो मुक्तमन्दनिःश्वासः ।
मच्चोदनया नितरां निःस्पन्दः स्वेदसलिलसंसिक्तः ॥३९६॥

(किसी बोदे ग्रामीण कामुक के साथ रात बिताने वाली परिहासवर्ती गणिका की उक्ति) 'सखि, आज एक बिना किसी काम का गंवार आदमी आया, जो मेरे पलंग के बीच पड़ गया, मुंह फेर लिया, धीरे-धीरे सांस छोड़ने लगा, जब मैंने सम्भोग के लिए प्रेरित किया तो वह निश्चेष्ट ही रहा' ॥३९६॥'

पर्यस्तमितानंगोऽप्यपगतनिद्रः क्षपाक्षयाकांक्षी ।
यामोषितः प्रहीणो निष्प्रतिपत्तिः स्थितोऽद्य सखि मनुजः ॥३९७॥

उसका अनंग बिलकुल अस्त मित ही रहा, उसे नींद हराम हो गई, किसी तरह वह रात खत्म करना चाहता था, मैंने उसे छोड़ दिया ॥३९७॥

शृणु सखि कौतुकमेकं ग्रामीणककामिना यदद्य कृतम् ।
सुरतरसमीलिताक्षी मृतेति भीतेन मुक्तास्मि ॥३९८॥

(किसी ग्रामीण कामुक की मूढ़ता से कुतूहल अनुभव करके गणिका की उक्ति) 'सखी, एक कौतुक सुन, गंवार कामुक ने आज जो किया, मेरी आँखें जब सुरत के आनन्द से मुंद गईं तब उसने समझा कि मर गई और डर के मारे मुझे छोड़ दिया, ॥३९८॥

अविदितदेशप्रकृतेः शठात्मकाद्दुर्विदग्धतोऽस्माभिः ।
अनुभूतो राजसुतादधिभाण्डविडम्बनाक्लेशः ॥३९९॥

(विप्रपण गणिका की उक्ति) 'हमने तो राजा के लड़के से विटों के तिरस्कार का कष्ट अनुभव किया, क्योंकि वह इस देश की चाल बिलकुल नहीं जानता था, धूर्त एवं गर्वीला था' ॥३९९॥ ।

प्रियसखि लोकसमक्षं नगरप्रभुणा हठेन नीतास्मि ।
एवं वंचकदातुर्द्विगुणार्थंप्रार्थने कुतोऽन्यायः ॥४००॥

(लोकापवाद से अवमानित गणिका की उक्ति) 'प्रिय-सखी, नगर-प्रमुख मुझे बल-पूर्वक लोगों के सामने ले गया । इस तरह तो कभी ज्यादा धन के पाने से न्याय नहीं किया जाता' ॥४००॥ ।

आकर्षन्ती जघनं व्रजसि यथा विलिखिता नखैस्तिलशः ।
मन्ये तथोपभुक्ता केरलि केनापि दाक्षिणात्येन ॥४०१॥

'केरली, जो तू चारों ओर (कामुक के) नखों की खरोंच पाई हुई, अपने जघन को जैसे खींचे लिए जा रही है तो मुझे लगता है कि किसी दक्षिण देश-वासी ने तेरा उपभोग किया है' ॥४०१॥ ।

अधरे बिन्दुः कंठे मणिमाला स्तनयुगे शशप्लुतकम् ।
तव सूचयन्ति केतकि कुसुमायुधशास्त्रपंडितं रमणम् ॥"४०२॥

'केतकी, तेरे अधर में बिन्दु,[1] कण्ठ में मणिमाला,[2] और स्तनों में शशप्लुतक[3] नाम के क्षत यह सूचना दे रहे हैं कि तेरा रमण कामशास्त्र का पण्डित रहा होगा' ॥४०२॥

इति शृण्वन्नुषसि गिरो निर्वृत्तनिशाभियोगगणिकानाम् ।
सोऽपि यथाक्रियमाणं प्रविधातुं निर्जगाम कर्तव्यम् ॥४०३॥

प्रभात काल में निशाभियोग[4] से छुटकारा प्राप्त गणिकाओं की बातें सुनता हुआ वह (सुन्दरसेन) भी प्रातः कालीन कार्य के लिए बाहर निकल गया ॥४०३॥

सुरचितरागोपचितिस्वीकृतमनसस्तया समं तस्य ।
यौवनसुखमनुभवतो जगाम संवत्सरः सार्धः ॥४०४॥

इस प्रकार अपने सुन्दर प्रेम की वृद्धि के कारण तथा उसके (हारलता के) द्वारा मन अंगीकृत हो जाने के कारण सुन्दरसेन ने यौवन सुख का अनुभव करते हुए डेढ़ साल व्यतीत किया ॥४०४॥

विस्रम्भकथाः शृण्वन्विचरन्नुद्यानवेदिकापृष्ठे ।
सहचरकरसक्तकरः सुन्दरसेनः किल कदाचित् ॥४०५॥

कभी जब सुन्दरसेन रहस्य की बात करता, साथी (गुणपालित) के हाथ से हाथ मिला कर घूमता, उपवन की वेदी पर बैठ गया ॥४०५॥

१—बिन्द्-अधर को पकड़ कर उसके बीच अगले बड़े चार दांतों से किया गया क्षत 'बिन्द' कहलाता है।

२—मणिमाला-कंठ में माला पहनी जाती है, अतः वहां बहुत से दांतों द्वारा पीड़न करने पर एक प्रकार का मालाकार दन्तचिह्न उखड़ जाता है, इसी की कामशास्त्रीय संज्ञा 'मणिमाला' है।

३—शशप्लुतक-पांचों नखों की नायिका के स्तनों पर जगह-जगह पड़ी खरोच की संज्ञा।

४—निशाभियोग-यह प्राचीन वेश-जीवन का रात्रिकालीन रणरणक या सुरत के अर्थ में प्रचलित पारिभाषिक शब्द है।

स्थूलघनतन्तुसंततितानितनानाम्बरावरणम् ।
यष्टिप्रान्तनियंत्रितदलवृन्तककुतुपतुम्बिककटित्रम् ॥४०६॥
त्रुटितचरणत्रसंगतसंस्फुटिताभ्यक्तपादमलिनतनुम् ।
त्वरितगतिलेखवाहकमारादायान्तमद्राक्षीत् ॥४०७॥

तभी उसने देखा कि लेखवाहक (चिट्ठी पहुँचाने वाला) शीघ्र गति से चल कर दूर से आ रहा है। उसने मोटे और घने डोरे से बुनी रुईदार ओढ़नी ओढ रखी थी, उसने लाठी के अग्रभाग में ताड़ का पंखा, तेल रखने की कुप्पी, तुम्बी और फेटा (या पेटी) बांध रखा था, उसके पैरों में, टूटे जूते पड़े हुए थे इसलिए ठोकर लगने से उसके पैरों पर धूल भर गई थी और उसका शरीर भी गन्दा हो गया था ॥४०६-४०७॥ ।

प्रत्यासन्नीभूतं क्रमेण पौरन्दरिः परिज्ञाय ।
साकूतमना ऊचे वयस्य हनुमानयं प्राप्तः ॥४०८॥

जब वह क्रम से नजदीक आ गया तब उसे पहचान कर पुरन्दर के लड़के सुन्दरसेन से उसके आने का अभिप्राय जान लिया और कहा—'मित्र, यह हनुमान आ गया' ॥४०८॥

अवनितललीनशिरसा कृतनतिना तेन विनिहितं भूमौ ।
उत्क्षिप्य झटिति लेखं सुन्दरसेनस्तु वाचयामास ॥४०९॥

जमीन पर माथा टेक कर उसने प्रणाम किया और लेख को रख दिया, तब झट-से उठा कर सुन्दरसेन ने पढ़ा ॥४०९॥

"स्वस्तिश्रीकुसुमपुरात्पुरंदरः सुन्दरं समभिधत्ते ।
अन्तर्जृम्भितशोकग्रस्तोऽपि स्पष्टवर्णपदम् ॥४१०॥

'स्वस्ति, कुसुमपुर से पुरन्दर (अपने बेटे) सुन्दर से भीतर-भीतर बढ़े शोक से ग्रस्त और स्पष्ट भाषा में कहता है ॥४१०॥

कुलमकलंकं न गणितमवधीरितमग्रजन्मनां चरितम् ।
नापेक्षितमवगीतं शठसेवितवर्त्मनि त्वया पतता ॥४११॥

शठों से सेवित मार्ग में गिरते हुए तुमने अपने कलङ्क-रहित कुल की परवाह न की, ब्राह्मणों के चरित्र की अवज्ञा की और निन्दा को नहीं देखा ॥४११॥

वंशेऽकुटिलगतीनां द्विजिह्वतादोषरहितचरितानाम् ।
अपरविनाशरतानामुत्पन्नः कथमसि भुजङ्गः ॥४१२॥

सीधी चाल चलने वालों, दुर्जभा होने (दो मुँह वाली बात करने) के दोष से मुक्त चरित्र वालों और दूसरों का विनाश न करने वालों के वंश में तू भुजङ्ग (लम्पट, पक्ष में सर्प) कैसे जन्मा ? (क्योंकि सर्प तो कुटिल चाल चलते हैं, उसकी दो जीभें होती हैं और दूसरों के विनाश में लगे होते हैं) ॥४१२॥

क्व पुरोडाशपवित्रितवेदपदोद्गारगर्भवदनं ते ।
क्व च मदिरासववासितवारवधूमुखरसास्वादः ॥४१३॥

कहाँ यज्ञ के अन्न 'पुरोडाश' के भोजन से पवित्र हुआ और वेद में मंत्रों के उच्चारण करने वाला तेरा मुख और कहाँ मदिरा-रस कीकगन्ध से युक्त बाजारू औरत के मुख का रसास्वाद ॥४१३॥

क्व कुशविपाटनजन्मा सहसोदितवेदनाचमत्कारः ।
क्व च दासीरतसंगरनिर्दयनखरक्षतिः प्रीत्यै ॥४१४॥

कहाँ कुश उखाड़ने से हुई सहसा वेदना से चौंकना और कहाँ दासी के साथ रतियुद्ध में जोर से नखों की खरोंच के मजे ॥४१४॥

क्व त्रेतानलधूमक्षोभितनयनाम्बुधौतवदनस्त्वम् ।
क्व च गणिकानिर्भर्त्सनशोकभरायातवाष्पसलिलौघः ॥४१५॥

कहाँ तीनों (गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण) अग्नियों के धुएं से खलबलाई आँखों के आँसू से मुँह का धुल जाना और कहाँ वेश्या की दुत्कार के शोक से उत्पन्न आँसू ॥४१५॥

क्व वषट्कारध्वानः षट्कर्मविभूषणं श्रवणपूरः ।
क्व च साधारणवनितारतिमणिताकर्णनौत्सुक्यम् ॥४१६॥

कहाँ ब्राह्मणों के अध्ययनादि षट्कर्मों का भूषण श्रवणपूर (कानों को आप्यायित करने वाला) वषट्कार का घोष और कहाँ वेश्या की रात्रि की आवाज सुनने की उत्सुकता ॥४१६॥

क्वाचार्यप्रतनुलताताडनसंक्षोभसम्भवः कम्पः ।
क्व च कुपितवारललनानिष्ठुरपादप्रहारविषहित्वम् ॥४१७॥

कहाँ आचार्य द्वारा पतली छड़ी से पीटने से उत्पन्न कम्प और कहाँ खिसियानी वेश्या की निठुर पाद प्रहार का सहना ॥४१७॥

क्व हरिणचर्मावरणं स्मृतिशास्त्रनिवेदितं व्रतं चरतः ।
क्व च पण्यस्त्रीगात्रस्पृष्टाम्बरधारणेषु बहुमानः ॥४१८॥

कहां स्मृतिशास्त्र के बताए नियम का आचरण करते हुए मृगचर्म ओढ़ना और कहाँ खरीद की औरत के अंग के छुए कपड़े पहनने में गौरव ॥४१८॥

समिधामेवच्छेदनमभ्यस्तं शैशवात्समारभ्य ।
शठवनिताधरखण्डन उत्पन्नं कौशलं कुतो भवतः ॥४१९॥

तुमने तो बचपने से लेकर समिधाओं के काटने का अभ्यास किया था, यह बदमाश औरत के अधर काटने की कला तुम्हें कैसे मालूम हुई । ॥४१९॥

शुश्रूषणमेव गुरोः परिशीलितमचलचेतसा सततम् ।
कुटिलमतयो भुजिष्याः कथं त्वयाराधिताः निपुणम् ॥४२०॥

तुमने हमेशा शुद्ध चित्त से गुरु की सेवा की, फिर कैसे तुमने टेढ़ी बुद्धि वाली दासियों की अधिक आराधना की । ॥४२०॥

आम्नायपाठ एव स्फुटतरपदसौष्ठवं तव ख्यातम् ।
प्रकुपितवेश्यानुनये क्व शिक्षितं वचनचातुर्यम् ॥४२१॥

वेद पाठ में ही तुम्हारे स्पष्ट पदोच्चारण का सौष्ठव प्रसिद्ध हुआ, फिर खिसियानी वेश्या के मनावन में तुमने वचन आतुर्य कहाँ सीखा ॥४२१॥

अथवा किं क्रियतेऽस्मिन्नवदातकुलेऽपि लब्धजन्मानः ।
सदसंस्तुता भवंति प्रागुपचितकर्मदोषेण ॥४२२॥

अथवा करें क्या ? पूर्वजन्म के बढ़े कर्म के दोष से ही इस निर्मल कुल में जन्मे अच्छे लोगों द्वारा निन्दित हो रहे हैं ॥४२२॥

त्वयि विनिवेश्य कुटुम्बं परलोकहिताजंनैकविहितात्मा ।
स्थास्यामीति समीहितमनुदिवसं तद्विसंवदितम्" ॥४२३॥

जो कि प्रतिदिन मैं चाहा करता था कि तुम पर परिवार को सौंप कर परलोक के कल्याण का अर्जन करता रहूंगा' सो उल्टा हो गया' ॥४२३॥

इत्यवगतलेखार्थे सुन्दरसेने विधेयपरिमूढे ।
आर्यामगायदन्यः स्वावसरे नीतिपरिकरिताम् ॥४२४॥

लेख का अभिप्राय बूझ कर सुन्दरसेन जब किंकर्तव्यमूढ़ हो गया तब किसी दूसरे ने गीति छन्द में अपने प्रसंग से आर्या को गाकर पढ़ा । ॥४२४॥

'विषयतिमिरावृताक्षणामवटे पततामदृष्टमार्गाणाम् ।
पुंसां गुरुजनवचनद्रव्शलाकांजमं शरणम्' ॥४२५॥

'विषयों के अंधकार से घिरी आँखों वाले गड्ढे में गिरते और अमार्ग में पहुँचे लोगों की शरण बड़ों के वचन की शलाका का अंजन है ॥४२५॥

उद्वेजयति तदात्वे सुखसंवित्ति करोति परिणामे ।
कटुकौषधप्रयोगो गुरुनिगदितकार्यंनिष्ठुरं च वचः ॥४२६॥

बड़े की कही हुई निष्ठुर कार्य की बात वह कड़वी दवा का प्रयोग है जो आरम्भ में उद्विग्न कर डालता है और परिणाम में सुख पहुँचाता है' ॥४२६॥

लब्ध्वा वचसोऽवसरं मित्रमवादीत्पुरंदरापत्यम् ।
पुनरपि नहि खिद्यन्ते प्रियजनहितभाषणे सन्तः ॥४२७॥

बात करने का अवसर देख कर साथी गुणपालित सुन्दरसेन से बोला, क्योंकि अच्छे लोग अपने प्रिय जनों के हित की बात बार-बार करने में भी क्लेश का अनुभव नहीं करते ॥४२७॥

अगणितसहचरवचसो दुर्व्यसनमहाब्धिमग्नवपुषस्ते ।
मन्युव्यथितस्य पितुर्यदि परमवलम्बनं वचनम् ॥४२८॥

'साथी की बात न मान कर तुम (वेश्यानुराग रूप) महासमुद्र में डूब रहे हो इस समय तुम्हारा कोई आलम्बन है तो वह है शोक से पीड़ित पिता का उपदेश ॥४२८॥

निजवंशदीपभूतः कृतचरितालंकृतो महासत्त्वः ।
सुन्दर सम्प्रति तातः स्पृष्टो दुष्पुत्रदोषेण ॥४२९॥

सुन्दर, अपने वंश का दीप होकर, धर्माचरण से अलंकृत और महाप्राण तुम्हारे पिता को इस समय दुष्ट पुत्र वाला' होने का दोष लग गया है ॥४२९॥

पुत्राभावः श्रेयान्दुःसुतता पुत्रिणः कुलीनस्य ।
अंतस्तापयति भृशं सच्चरितकथाप्रसंगेषु ॥४३०॥

पुत्र का न होना अच्छा, न कि कुपुत्रवान् होना, क्योंकि कुलीन पुत्रवान के मन को कुपुत्रता सत्पुरुषों के चरित्र के कथा-प्रसंग में अधिक सन्तप्त करती है ॥४३०॥

सांव्यवहारिक एव प्रायो लोके गुणोन्नता नियताः ।
येन तु सुतेन जननी वन्ध्यात्वं श्लाघते स पापीयान् ॥४३१॥

दुनिया में गुण व्यवहार से ही माना जाता है । यह आवश्यक नहीं कि वह (गुण) सुख का भी कारण हो । जिस पुत्र से माता अपने बाँझ रहने की प्रशंसा करे वह पुत्र पापी है ॥४३१॥

विफलं शास्त्रज्ञानं गुरुगृहसेवापि नोपकाराय ।
विषयवशीकृतमनसो न्याय्यं पन्थानमुत्सृजतः ॥४३२॥

जिसने मन को विषयों के अधीन कर दिया और न्याय मार्ग को छोड़ डाला उसका शास्त्र ज्ञान विफल है और उसकी गुरुसेवा से कोई उपकार नहीं ॥४३२॥

जीवन्नेव मृतोऽसौ यस्य जनो वीक्ष्य वदनमन्योन्यम् ।
कृतमुखभङ्गो दूरात्करोति निर्देशमंगुल्या ॥४३३॥

वह तो जीता हुआ ही मर गया जिसका मुँह देख कर लोग आपस में मुँह मटकाते दूर ही से उंगली से इशारा करते हैं ॥४३३॥

नोपनिहन्तुं विषयाः शक्याः सत्यं तथापि निपुणधियः ।
अभिधेयतां न गच्छन्त्यपवादविशेषिताभिधानस्य ॥४३४॥

यह ठीक है कि विषयों को समाप्त नहीं किया जा सकता, तथापि कुशल बुद्धि वाले लोग कभी कभी अपवादमिश्रित अभिधान से अभिहित नहीं होते ॥४३४॥

गुरुपरिचर्या जाया गुणोन्नता स्निग्धबन्धुसंपर्कः ।
ब्राह्मे कर्मणि सक्तिर्लोकद्वयसाधनं सुधियाम् ॥४३५॥

सुधी पुरुषों के लिए गुरु की सेवा, कुलीन पत्नी, स्नेह करने वाले बन्धुजनों का सम्पर्क, यज्ञकर्म में लगाव इह लोक और परलोक का साधन है ॥४३५॥

सुलभा तस्य विभूतिस्तस्य गुणा यान्ति जगति विस्तारम् ।
बहु मनुते तं सुजनस्तस्यै स्पृहयंति बान्धवाः सततम् ॥४३६॥

उसे सारा ऐश्वर्य सुलभ है, उसके गुण संसार में फैल जाते हैं, अच्छे लोग उसे आदर करते हैं और हमेशा बान्धव जन उसे चाहते हैं ॥४३६॥

नासादयति स एकः सत्सेवितमार्गतः परिस्खलनम् ।
मण्डयति सोऽन्ववायं स निवासः शर्मणामशेषाणाम् ॥४३७॥

वह सज्जन-सेवित मार्ग से परिस्खलन प्राप्त नहीं करता, वह वंश को भूषित करता है, वह सारे सुखों का निवास है, ॥४३७॥

स भवति विनयाधारो युक्तायुक्ते विवेकिता तस्य ।
वृद्धोपदेशवाचः श्रवणोदर तर्पणं सदा यस्य ॥४३८॥

वह विनयी होता है उसे उचित-अनुचित का विवेक होता है, जिसके कानों में हमेशा वृद्ध जनों के उपदेश की बातें भरती रहती हैं ॥४३८॥

प्राक्तनकर्मविपाकः क्षुद्रासु शरीरिणां यदासक्तिः ।
आयतनं तु सुखानां संसारभुवां कुलोद्गता दाराः ॥४३९॥

जो कि नीच स्त्रियों में आसक्ति होती है वह पहले किए कर्मों का विपाक है और संसारी के लिए कुलीन स्त्रियाँ तो सुखों का आयतन हैं ॥४३९॥

निर्विण्णे निर्विणा मुदिते मुदिता समाकुलाकुलिते ।
प्रतिबिम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ॥४४०॥

पति के खिन्न होने पर वह भी खिन्न हो जाती है, मुदित होने पर मुदित, आकुल होने पर आकुल हो जाती है केवल कुपित हो जाने पर डर जाती है ॥४४०॥

यावद्वाञ्छितसुरतव्यायामसहाऽविरुद्धसंपर्का ।
चित्तानुवृत्तिकुशला पुण्यवतामेव जायते जाया ॥४४१॥

इच्छा भर सुरत के व्यायाम सहन करने वाली किसी प्रकार विरोध की बातचीत न करने वाली और पति के चित्त के अनुसरण में कुशल जाया पुण्यवानों को ही मिलती है ॥४४१॥

सद्भावप्रेमरसं वलयावलिशब्दशंकिता निभृतम् ।
विदधानाङ्गसमर्पणमुन्मीलितकुसुमसायकाकूता ॥४४२॥

कङ्कणों की झंकार से शङ्कित हो चुपके से सद्भाव और प्रेम के रसीले और उन्मीलित कामदेव के अभिप्राय रूप अङ्ग समर्पण करती हुई ॥४४२॥

हा हा किमुद्धतत्वं श्रोष्यति कश्चिद्गतत्रप स्वैरम् ।
निकटे परिवारजनो विस्मृत एव स्मरातुरस्य तव ॥४४३॥

हा हा, यह क्या बरजोरी, कोई सुन लेगा, निर्लज्ज धीरे धीरे, कामातुर हो तुम भूल गए कि पास ही परिवार के लोग हैं।' ॥४४३॥

इति हुँकृतिसंवलितैरायासनिवेदितार्थंपदवाक्यैः ।
द्विगुणीकरोति कुलजा नायककर्माणि मोहनप्रसरे ॥४४४॥

इस प्रकार हुंकारों से मिश्रित और आयास के द्वारा निवेदन करने वाले अर्थ पद और वाक्यों द्वारा कुलवन्ती नारी सुरतावेग में नायक के कार्यों को दुगुना कर देती है ॥४४४॥

इत्थमुदीरितवाचं सुहृदमवोचत्पुरंदरस्य सुतः ।
समुपस्थितजीवसमावियोगभयकंपितो वचनम् ॥४४५॥

इस प्रकार उसने जब ये बातें कहीं, तब प्राणप्रिया के प्रत्यासन्न वियोग के कारण कांपता हुआ सुन्दरसेन मित्र से बोला ॥४४५॥

तातादेशोऽलंघ्ये हारलताविरहपावके तीव्रे ।
विधिवशवर्तिनि मरणे नो विद्मः कार्यंपरिणामम् ॥४४६॥

'जब कि पिताजी की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, हारलता की विरहाग्नि तीव्र है, तथा मर जाना भाग्य के अधीन है ऐसी स्थिति में किए का परिणाम क्या होगा, हम नहीं जानते ॥४४६॥

अनपेक्षितधनलाभां स्नेहैकनिबद्धमानसां दयिताम् ।
दैवाकृष्टो मुंचति घटितो वा लोहवज्रकणिकाभिः ॥४४७॥

धनलाभ की अपेक्षा न रखने वाली, एक मात्र स्नेह से बंधे मानस वाली प्रिया को आदमी या तो दैव के द्वारा प्रेरित हो छोड़ता है या लोहे और हीरे की कनियों से गढ़ा हुआ होने के कारण छोड़ता है' ॥४४७॥

अथ कृतगमनविनिश्चितिरभिमतरामां चकार विदितार्थम् ।
सापि तमनुवव्राज प्रस्तुतयात्रं शुचाकुलिता ॥४४८॥

अनन्तर कुसुमपुर जाने का निश्चय करके उसने प्रियतमा को सूचित कर

दिया। वह भी यात्रा पर जाते अपने प्रेमी के पीछे-पीछे शोकाकुल हो चलने लगी ॥४४८॥

आसाद्य वटस्य तलं वाष्पपयःकणचिताक्षिपक्ष्माग्राम्।
विघ्नितचरणविहारो हारलतामभिदधाति स्म ॥४४६॥

बरगद के पेड़ की छाया में आकर अश्रुकणों से सिक्त पक्ष्माग्र वाली हारलता से स्खलित रूप से चलता हुआ (सुन्दरसेन) बोला ॥४४६॥

आ क्षीरवतो वृक्षादा सलिलाद्वा प्रिये प्रियं यान्तम्।
अनुयायादिति वचनं तेन त्वमितो निवर्तस्व ॥४५०॥

'प्रिये, क्षीरवान् वृक्ष तक अथवा जलाशय तक जाते हुए प्रिय का अनुगमन करे, यह शास्त्र वचन है; अतः यहां से तू लौट जा ॥४५०॥

किं कुर्मो दैवहताः प्रभवति यस्मिन्कृशोदरि प्रसभम्।
प्रेमग्रन्थिच्छेत्ता गुरुशासनसायको निरावरणः ॥४५१॥

हे कृशोदरि, जहां प्रेम की ग्रन्थि को काट देने वाला, आवरणरहित, गुरुजन के शासन का बाण बलपूर्वक प्रवृत्त है वहां भाग्य के मारे हुए हम क्या करें? ॥४५१॥

न द्रविणचयप्राप्तिर्नैकाश्रयपरिचयो न च द्विगुणः।
न स्वामिसमादेशो नाकारविलोभनं न वा ख्यातिः ॥४५२॥

हममें तेरी प्रवृत्ति का कारण न कुछ धन का लाभ है, न एक जगह रहने का परिचय है, न प्रिय वचन है, न मालिक की आज्ञा है, न सुन्दरता की लुभान है और न कोई प्रसिद्धि है ॥४५२॥

हेतुस्तव प्रवृत्तेरस्मासु तथापि दैववशात्।
ईदृक् कोऽप्यनुबन्धो यस्य विपाकोऽप्रतीकारः ॥४५३॥

तथापि यद्यपि दैवयोगवश यह कोई विपत्ति आ पड़ी है, जिसके परिणाम का कोई प्रतीकार (चिकित्सा) नहीं ॥४५३॥

परुषं यदभिहितासि प्रणयरुषा शंकिते न नर्मणि वा।
सुदति न तत्स्मरणीयं दुर्भाषणकीर्तनोद्धाते ॥४५४॥

हे सुन्दर दांतों वाली, प्रणयकोप के कारण अथवा शंकित होकर मैंने हँसी

मजाक में अथवा क्रोध भरी बात चीत में कुछ कड़ी बात कह दी हो तो उसे भूल जाना ॥४५४॥

तव हृदये हृदयमिदं विन्यस्तं न्यासपालनं कष्टम् ।
यत्नात्तथा विधेयं स्थानभ्रंशो यथा न स्यात् ॥४५५॥

यह मेरा हृदय तेरे हृदय में पड़ा है, न्यास (थाती) की रक्षा कष्ट से होती है। यत्नपूर्वक वैसा करना जिससे यह इधर से उधर (स्थान भ्रष्ट) न हो' ॥४५५॥

अथ विरतवचोदयितं वाष्पभराक्लिष्टवर्णपदयोगात् ।
इति कथमपि हारलता संमूर्छितवर्णभारतीमूचे ॥४५६॥

अनन्तर प्रिय वचन बोलने वाले अश्रु गद्गद सुन्दरसेन से हारलता किसी प्रकार मूर्च्छित आवाज में बोली ॥४५६॥—

अविशुद्धकुलोत्पन्ना देहार्पणजीविका शठाचरणा ।
क्वाहं रूपाजीवा क्व भवन्तः श्लाघनीयजन्मगुणाः ॥४५७॥

'कहाँ अपवित्र कुल में पैदा हुई, शरीर अर्पित करके रोजी कमाने वाली, कपट चारिणी (वेश्या) मै और कहाँ प्रशंसा के योग्य जन्म और गुणों वाले तुम ॥४५७॥

यत्तु विषयविलोकनकुतूहलाभ्यागतेन विश्रान्तम् ।
इयतो दिवसानस्मिंस्तन्मम परजन्म सुकृतफलम् ॥४५८॥

जो तुम देश-दर्शन के कुतूहल से आए और यहाँ इतने दिनों तक विश्राम किया वह मेरे पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का फल रहा ॥४५८॥

गुरुसेवां बन्धुजनं स्वदेशवसतिं कलत्रमनुकूलम् ।
अनुषङ्गदृष्टिपरिचित आस्थां प्रविधाय कः परित्यजति ॥४५९॥

वह कौन होगा जो राह-चलते दिखे आदमी पर विश्वास करके गुरु-जनों की सेवा को, बन्धुजन को और अनुकूल पत्नी को छोड़ देगा ? ॥४५९॥

यौवनचापलमेतद्यन्मादृशि भवति कौतुकं भवताम् ।
यत्तु सुखमनवगीतं तस्य स्थानं निजा दाराः ॥४६०॥

यह तो यौवन की चपलता है जो मुझ-जैसी में आप लोग रिझ जाते हैं[1] । जो सुख अनिन्दित हैं उसका स्थान तो अपनी पत्नी होती है ।।४६०।।

ते मधुराः परिहासास्ता वक्रगिरः स वामतासमयः ।
नो हृदये कर्तव्यो रहसि क्षेमार्थिना भवता ॥४६१॥

यदि आप अपना कल्याण चाहें तो उन मधुर हँसी-मजाकों को, उन काँटे भरी बातों को और उस उलटी चाल चलने के समय को कभी अकेले में भी याद न करेंगे ।।४६१।।

लाघवतो यन्मनसः प्रणयाद्वा यत्तवाचरितम् ।
प्रतिकूलं तत्र मया नाथांजलिरेष विरचितो मूर्ध्नि ॥४६२॥

नाथ, अपनी लघुता से अथवा अधिक प्रणय के कारण तुम्हारा जो अप्रिय या प्रतिकूल मैं कर बैठी हूँ उसके लिए हाथ जोड़ती हूँ ।।४६२।।

दुःसंचारा मार्गा दूरे वसतिर्विसंष्ठुलं हृदयम् ।
गुणपालित तव सुहृदा भवितव्यमतोऽप्रमत्तेन ॥४६३॥

गुणपालित, मार्ग बड़े दुर्गम हैं, घर बहुत दूर है और हृदय अव्यवस्थित है । अतः तुम्हारे मित्र को सावधान रहना चाहिए' ।।४६३।।

हृदयद्वय एकत्वं याते यूनोर्वियोगजं क्लेशम् ।
अनुभवतोरपरेण प्रसंगतः पठ्यते पथ्या ॥४६४॥

जब युवक और युवती के दो हृदय एक हो जाते हैं तब अपने वियोग जनित क्लेश का उन्हें अनुभव होने लगता है, ऐसे प्रसंग में किसी ने इस पथ्या छन्द का पाठ किया ।।४६४।।

१—'मृच्छकटिक' में चारुदत्त ने भी कहा है—
'गणिका मम मित्रमिति ।
अथवा यौवनमपराध्यति न चारित्र्यम् ।।

'अन्योन्यगूढचेष्टितसद्भावस्नेहपाशबद्धस्य ।
विच्छेदकरो मृत्युर्धीराणां वा परिच्छेदः' ॥४६५॥

'परस्पर सुदृढ़ कार्यों के कारण सद्भाव और स्नेह के फन्दे में बंधे हुए लोगों के लिए मरण हमेशा के लिए विच्छेद करने वाला होता है, परन्तु धीर जनों के लिए वही समागम होता है' ॥४६५॥

अथ तच्छ्रवणानन्तरमास्व सुखं दयितिके व्रजामीति ।
अभिधाय याति मन्दं सुन्दरसेने विवर्तितग्रीवम् ॥४६६॥

तब उसे सुनकर सुन्दरसेन 'प्रिये, सुख से रहना, मैं जाता हूँ' यह कर धीरे से गर्दन मोड़ लिया और चलने लगा ॥४६६॥

वटशाखालम्बिभुजां श्वसितोष्णसमीरशुष्यदधरदलाम् ।
पर्यस्तां बिभ्राणां तन्मार्गविलोकनानिमेषदृशम ॥४६७॥

कि (हारलता,) जो बरगद की शाखा थामे थी, श्वास की गर्म हवा से जिसका अधर-पुट सूखता जा रहा था, जो उसका मार्ग देखने के निमित्त अपलक और फैली दृष्टि धारण किए थी ! ॥४६७॥

दोलायमानवेणीं तिर्यग्गतकण्ठभूषणविशेषाम ।
गलदश्रुवारिपूर्णां पतितांशुकभागनिःसहांगलताम् ॥४६८॥

अपने चंचल केशपाश को और कण्ठ भूषण को जिसने टेढ़ा कर दिया, जो झरते आंसू के जल से भरी, गिरी हुई थी, जिसकी अँगलता सूखी और अपना बोझ ढोने में असमर्थ हो गई थी ।४६८॥

रुन्धानामिव हृदयं स्फुटदितरकरेण कुचयुगाश्रयिणा
परिशोषितां विलासैरुत्सृष्टां जीवलोककर्तव्यैः ॥४६९॥

मानों जो दोनों स्तनों पर टिके हाथ से फूटते हुये हृदय को रोक रही थी, विलासों ने जिसे छोड़ डाला था और जो जीव लोक के कर्तव्यों से मुक्त थी ॥४६९॥

अंगीकृतां विपत्त्या वशीकृतां मर्मघट्टनैर्विषमैः ।
हारलतामपरिस्फुटमंतःपरिकृष्यमाणभारत्या ॥४७०॥

जिसे विपत्ति ने अपना लिया था, विषम आभ्यन्तर संघर्षों ने जिसे अधीन

कर लिया था, जो अस्पष्ट रूप से भीतर से वाणी को खींचकर यह कह रही थी ॥४७०॥

मा मा तावद्यात क्षणमेकं यावदेष निष्करुणः ।
वनगुल्मैर्न तिरोहित इत्यभिदधतीं जहुः प्राणाः ॥४७१॥

'प्राणो, तब तक एक क्षण के लिए मत जाओ, जब तक यह निष्करुण जंगल के झाड़ों में ओझल नही हो जाता' ऐसी स्थित में प्राणों ने उस हारलता को छोड़ दिया ॥४७१॥

अथ पश्चात्समुपेतं पप्रच्छ पुरंदरात्मजः पथिकम् ।
दृष्टा शोकव्यथिता विवर्तमाना वराङ्गना भवता ॥४७२॥

तब पीछे से आए हुए पथिक से सुन्दरसेन ने पूछा—'क्या आपने लौटती हुई, शोक से व्यथित स्त्री को देखा है' ? ॥४७२॥

स उवाच वटतरोरध उर्व्यां पतिता विनिश्चलावयवा ।
तिष्ठति वनिता नान्या नयनावसरं गतास्माकम् ॥४७३॥

वह बोला 'बरगद के पेड़ के नीचे जमीन पर गिरी निश्चल अंगों वाली एक महिला पड़ी है और कोई दूसरी को तो हमने नही देखा' ॥४७३॥

इति तद्वचनाश्महतो विह्वलमूर्तिः पपात भूपृष्ठे ।
उत्थापितश्च सुहृदा सोऽभिदधे तेन शोकविकलेन ॥४७४॥

उसकी इस बात के पत्थर से घबाहिल हो छटपटाते हुए सुन्दरसेन जमीन पर गिर पड़ा, तब मि ने उसे उठाया, फिर शोक से व्याकुल वह कहने लगा ॥४७४॥

भवतु कृतार्थस्तातस्त्वमपि सुमित्रास्व संप्रति प्रीतः ।
समकालमेव मुक्ता पापेन मयासुभिश्च हारलता ॥४७५॥

'पिता जी कृतार्थ हों और प्यारे मित्र, तुम भी इस समय प्रसन्न हो, हारलता को पापी मैंने और प्राणों ने एक ही समय में छोड़ा है ॥४७५॥

हा हा हाव हतोसि ध्वस्ता लीला विलास किं कुरुषे ।
उच्छिन्ना विच्छित्तिर्भ्रम विभ्रम दश दिशो निराधारः ॥४७६॥

हाय, हाय, हाव,[1] तुम तो मारे गए, लीला[2] ध्वस्त हो गई, विलास[3] तुम क्या करोगे ? विच्छित्ति[4] उजड़ गई, विभ्रम[5] निराधार होकर दस दिशाओं में घूमा करो ॥४७६॥

१—आलङ्कारिक आचार्यों ने स्त्रियों के यौवनकाल में उनके बीस सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुणोद्भूत अलङ्कारों की चर्चा की है। पहले उनके तीन भेद किए हैं—शरीरज, अयत्नज और स्वभावज। सत्व वह गुण है जिसके कारण विकार के हेतु के उपस्थित रहने पर भी कोई विकार नहीं होता, अर्थात् विकार का विरोधी तत्त्व। उस अविकार रूप सत्व से कुछ खास परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले तत्त्व 'सात्त्विक' कहलाते हैं। 'अलङ्कार से अलङ्करण होता है, अर्थात् शोभा होती है। यौवनमात्र से स्त्री में कोई सौन्दर्य या शोभा नहीं आती, बल्कि वह भी एक शरीर का प्रधान अलङ्करण है और वक्ष्यमाण बीस सात्त्विक अलङ्कार उसमें और भी शोभा का आवान करते हैं। उक्त सात्त्विक शरीरज अङ्कुकार तीन हैं—भाव, हाव और हेला। अत्यन्तज सात हैं—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। स्वाभावज दस हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, योट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विहृत। इस प्रसंग में सुन्दरसेत ने हारलता के वियोघ में प्रायः सात्त्विक अलङ्कारों को संबोधित किया है। आंखें, भौं आदि प्र नियमें अंगों में 'विकार' उत्पन्न करनेवाला श्रृंगार 'हाव' कहलाता है। है। यह 'भाव' जो नायिका के हृद्देश में उद्गत सम्भोगेच्छा का प्रकाशक चित्त-विकार है उसी भ्रू नेत्रादि अल्पसंक्ष्य विकार का ईषद् अभिव्यक्त श्रृंगारचेष्टा है।

२—लीला—जब नायिका प्रिय के सम्मुख न रहने पर सखी के समक्ष प्रिय की वाणी, वेष आदि श्रृंगार-चेष्टाओं का अनुकरण करती है तब उसके अनुकरण को 'लीला' कहते हैं।

३—विलास—प्रिय को देखने के अवसर पर जब नायिका अपने अंगों, क्रियाओं और वचनों में विशेष प्रवर्तन ला देती है वह स्थिति 'विलास' कहलाती है।

४—विच्छित्ति—थोड़ी भी वेषरचना जब अधिकतर कमनीयता ला देती है तब वह 'विच्छित्ति' कहलाती है।

५—विभ्रम—प्रिय के आगमनकाल में शीघ्रता के कारण गहनों को गलत जगह में पहन लेना 'विभ्रम' है। जैसे केयूर को पैर में, नूपुर को बाहु में, काञ्ची को कंठ में, पुष्पमालाओं को जघन में आदि।

किलकिंचित गच्छ वनं मोट्टायितमशरणत्वमुपयातम् ।
कुट्टमित प्रव्रज्यां गृहाण बिब्बोक विश भुवो विवरम् ॥४७७॥

किलकिञ्चित[1], जंगल में चले जाओ, मोट्टायित[2] तुम्हारा कोई शरण न रहा, कुट्टमित[3], सन्यास ले लो, बिब्बोक[4], धरती के विवर में चला जा ॥४७७॥

ललितमनाथीभूतं विहृतस्य गतिर्न विद्यते क्वापि ।
शशधरबिम्बद्युतिमुषि यातायामन्तकांतिकं तस्याम् ॥४७८॥

ललित[5] अनाथ हो गया, विहृत[6] की कहीं भी गति नहीं, जबकि वह चन्द्रबिम्ब की कान्ति हरण करने वाली (हारलता) मृत्यु (यम) के समीप चली गई ॥४७८॥

विनिवृत्य यामि दग्धुं मद्विरहात्त्यक्तवल्लभप्राणाम् ।
भवतु वराक्यास्तस्याः सप्तार्चिर्दानमात्रमुपकारः ॥४७९॥

मेरे विरह में जिसने अपने प्रिय प्राणों को छोड़ दिया है उसे लौट कर दाह करने जाता हूँ, उस बेचारी के अग्निसंस्कारमात्र तो उपकार हो ॥४७९॥

गत्वाथ तमुद्देशं यस्मिन्सा पंचभावमापन्ना ।
विललाप मुक्तकण्ठं विलुठन्भुवि सहचरेण धृतमूर्तिः ॥४८०॥

अनन्तर जहाँ हारलता मरी पड़ी थी, उस स्थान पर जाकर सुन्दरसेन जमीन पर लोट-पोट करने लगा, साथी ने सम्हाला, फिर वह मुक्त कंठ से विलाप करने लगा ॥४८०॥

१—किलकिञ्चित—यह क्रोध, अश्रु, हर्ष, भीति आदि का मिश्रित रूप है ।

२—मोट्टायित—प्रिय के विषय में आलोचना के समय तद्भावभावित नायिका अंगभङ्ग के सहित जंभाई और कर्णकंडूयन आदि करती है, इस क्रिया को 'मोट्टायित' कहते हैं ।

३—कुट्टमित—नायिका नायक द्वारा केश, अधर आदि ग्रहण करने पर मन में आनन्दित हो कोप का प्रदर्शन करती है, उस स्थिति को 'कुट्टमित' कहते हैं ।

४—बिब्बोक—गर्व और अभिमान के कारण इष्ट अर्थात् अभिप्रेत वस्तु के प्रति भी अनादर का कार्य बिम्बोक कहलाता है ।

५—ललित—भ्रू और नेत्र आदि की क्रिया द्वारा सौकुमार्य विधान करके हस्त, पद आदि अंगविन्यास को 'ललित' कहते हैं ।

६—विहृत—जिसे कहने का अवसर प्राप्त हो उसे लज्जा, मान अथवा ईर्ष्या के कारण न कहना 'विहृत' है ।

एते वयं निवृत्ता मुंच रुषं देहि कोपने वाचम् ।
उत्तिष्ट किमिति तिष्ठसि भूमितले रेणुरूषितशरीरा ॥४८१॥

'हम लौट आए, रोष छोड़, हे कोपशीले, बात कर, उठ, क्यों जमीन पर धूल धूसरित पड़ी है ? ॥४८१॥

विनिमील्य दृशौ कस्मादप्रतिपत्त्या स्थितासि शुभवदने ।
त्वदवारितगमनविधेरपराधितया न मेऽस्ति संयोगः ॥४८२॥

हे शुभवदने, तू आँखें बंद करके किस कारण निश्चल भाव से पड़ी है ? तेरे द्वारा जिसका जाना निवारित नहीं किया गया ऐसे मुझसे संयोग होने का नहीं ॥४८२॥

नाकाधिपतिपुरस्त्रीरभिभवितुं त्वयि दिवं प्रयातायाम् ।
सत्स्वपि शरेषु पंचसु निरायुधः साम्प्रतं मदनः ॥४८३॥

इन्द्रपुरी की रमणियों को पराजित करने के लिए तेरे स्वर्ग चले जाने पर इस समय पांचो बाणों के विद्यमान होने पर भी कामदेव आयुधहीन हो गया है ॥४८३॥

वंचकवृत्ता वेश्या इत्यपवादो जनेषु यो रूढः ।
अपनीतोऽसौ निपुणं त्वया प्रिये जीवमोक्षेण ॥४८४॥

जो यह अपवाद कि वेश्याएं ठगवृत्ति किया करती है, लोगों में फैल गया है, प्रिये तुमने प्राणों की कुर्बानी करके ही उसे दूर कर दिया ॥४८४॥

वर्ण्यः सद्व्रत एकस्त्रिपुरान्तकनन्दनो महासेनः ।
हृदयं यस्य स्पृष्टं न मनागपि वामलोचनाप्रेम्णा ॥४८५॥

भगवान् शङ्कर के पुत्र संयमी कार्तिकेय प्रशंसा के योग्य हैं जिनके हृदय को सुन्दर नयनों वाली नारी के प्रेम ने जरा भी स्पर्श नहीं किया ॥४८५॥

मन्येऽभीष्टवियोगं निमेषमपि दुःसहं समवधार्यं ।
हरिणा वक्षसि लक्ष्मीर्विधृता गौरी हरेण देहार्धे ॥४८६॥

मानता हूँ कि पल भर भी प्रिय वियोग को दुःसह समझ कर विष्णु ने लक्ष्मी को वक्ष पर और शिवजी ने पार्वती को अर्धांग में धारण किया है ॥४८६॥

अयि लोकपाल सा भुवि ललामभूता तया विना शून्यम् ।
विश्वमिति किं न चिंतितमात्मस्थानं प्रियां नयता ॥४८७॥

हे लोकपाल, अपने स्थान पर मेरी प्रिया को ले जाते हुए तुमने 'वह पृथ्वी पर भूषण है, उसके बिना संसार सूना है' यह क्यों नहीं सोचा ? ॥४८७॥

भगवन्हुतवह मा मा लावण्यसमुद्रसारमुद्धृत्य ।
कथमपि विहितां धात्रा धक्ष्यस्येनां जगद्भूषाम् ॥४८८॥

भगवान् अग्नि, विधाता ने सौन्दर्य के समुद्र से सार वस्तु को निकाल कर किसी प्रकार इसे रचा है अतः संसार के इस अलङ्कार को मत जलाना, ॥४८८॥

इति विलपन्तं बहुविधमवधीर्यं सुहृत्पुरंदरस्य सुतम् ।
काष्ठैर्विरचय्य चितां तामकरोदग्निसाद्गणिकाम् ॥४८९॥

इस प्रकार बहुविध विलाप करते हुए सुन्दरसेन को साथी गुणपालित ने हटा कर काष्ठों से चिता बनाई और उस गणिका को अग्नि के अर्पित कर दिया ॥४८९॥

तस्मिन्निद्धहुताशनविनिपतने कृतमतौ शुचा कलिते ।
मनसि स्फुरितामार्यां पपाठ कश्चित्प्रसंगेन ॥४९०॥

जिस समय कि शोक से आकुल सुन्दरसेन दहकते हुए अग्नि में कूद पड़ने के लिए निश्चय कर बैठा तभी किसी ने प्रसंग वश मन में स्फुरित आर्या का पाठ किया ॥४९०॥

'अनुमरणे व्यवसायं स्त्रीधर्मे कः करोति सविवेकः ।
संसारमुक्त्युपायं दण्डग्रहणं व्रतं हित्वा' ॥४९१॥

'संसार से मुक्ति (छुटकारा) प्राप्त करने के उपाय दण्डग्रहण करने (सन्यास लेने) के नियम को छोड़कर कौन विचारशील होगा जो स्त्रियों के धर्म अनुमरण में प्रयत्न करेगा ?' ॥४९१॥

श्रुत्वा सुन्दरसेन सुहृदमवोचदव्यपेतवैक्लव्यः ।
प्रतिबोधितं मनो मे धीरेणानेन युक्तमुपदिशता ॥४९२॥

सुनने के बाद सुन्दरसेन की व्याकुलता न रही, वह मित्र से बोला—

'इस भलेमानुस ने उपदेश देते हुए अच्छा मेरे मन को प्रति बोध दिया है ।।४६२।।

क्षणदृष्टनष्टवल्लभजन्मजराव्याधिमरणपरिभूते ।
परिवर्तिनि संसारे कः कुर्यादाग्रहं महिमान् ।।४६३।।

जहाँ प्रिय जन क्षणभर के लिए दिखते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण आदि से परिभूत रहता है ऐसे बदलते रहने वाले संसार के सम्बन्ध में कौन बुद्धिमान आग्रह करेगा ? ।।४६३।।

यातु भवान्कुसुमपुरं वयमप्यन्त्याश्रमे समाश्रयणम् ।
अंगीकुर्मोऽविद्याप्रहाणसंसिद्धये विहितम् ।।४६४।।

तुम कुसुमपुर चले जाओ, अविद्या के विनाश की सिद्धि के लिए हम भी अन्तिम आश्रम (सन्यास) में नियत रूप से रहना अङ्गीकार करते हैं ।।४६४।।

सोऽवददभिजातजनो बाल्यात्प्रभृति त्वया च न विमुक्तः ।
संन्यसनबुद्धिमधुना कथमुज्झति विषयनिस्पृहं सुहृदम ।।४६५।।

वह कुलीन गुणपालित बोला—'बचपन से लेकर तुमने मुझे नहीं छोड़ा, अब सन्यास लेने की बुद्धि हुई तो विषय की स्पृहा से रहित साथी को कैसे छोड़ रहे हो ? ।।४६५।।

एवमिति सोऽभिधाय स्थिरधृतिनियमैस्तपोधनैर्जुष्टम ।
गुणपालितेन सहितः सुन्दरसेनो जगाम वनम् ।।४६६।।

तब सुन्दरसेन 'अच्छा' कह कर स्थिरमति और नियमों के आचरण वाले तपस्विजनों से अधिष्ठित वन में गुणपालित के साथ चला गया" ।।४६६।।

एवं भवन्तु वेश्याः स्वार्थैकरता व्यपेतसद्भावाः ।
अभिलषितविषयसिद्धेः का हानिस्तदपि युष्माकम ।।४६७।।

इस प्रकार, वेश्याएं एकमात्र स्वार्थरत राग-रहित होती हैं, तथापि इच्छित विषय की सिद्धि हो जाने से तुम पुरुषों को कौन-सी हानि है ? ।।४६७।।

रमण हृदयानुवर्तनचतुरचतुःषष्टिकर्मकुशलानाम् ।
न स्पृशति तत्त्वचर्चा पण्यवधूनां विदग्धचेतांसि ॥४९८॥

अपने रमण के दिल बहलाने में निपुण और चौंसठ कलाओं[1] में चालाक बाजारू औरतों के विषय में तत्त्व की चर्चा (कि वह रागवती है अथवा नहीं आदि) विदग्धजनों के चित्त का स्पर्श नहीं करती ॥४९८॥

वलितप्लुतचित्रगतिस्थितिवेगैश्चोदनानुवृत्त्या च ।
रागस्पर्शेन विना विशति मनः सादिनां तुरगः ॥४९९॥

घोड़ा वलित[2] प्लुत, चित्र आदि गतियों और स्थिति (ठहराव) के परिज्ञान से तथा प्रेरणा का अनुसरण करने से राग (प्रेम) के स्पर्श तक के न होने पर भी घुड़सवारों के मन में स्थान पा लेता है ॥४९९॥

गन्धोऽपि कुतः प्रेम्णः परभृतहारीतगृहकपोतानाम् ।
उज्ज्वलयंत्यसमेषुं विरुतविशेषैस्तथापि ते यूनाम् ॥५००॥

कोयल, हारिल, घरेलू कबूतर आदि के प्रेम की गन्ध भी कहाँ ? तथापि वे अपनी विशेष प्रकार की आवाजों से युवकों के मन्मथ को भड़काते हैं॥५००॥

आहितयुक्ताहार्यः सम्यक्सकलप्रयोगसम्पत्त्या ।
भावविहीनोऽपि नटः सामाजिकचित्तरंजनं कुरुते ॥५०१॥

वेशभूषा धारण करके फिर उतार देने वाला[3] किसी प्रकार के भीतरी राग से रहित भी नट पूर्ण रूप से सारे अभिनयों की सिद्धि के द्वारा सामाजिकों (दर्शकों) के चित्त का अनुरंजन करता है ॥५०१॥

१—आचार्य क्षेमेन्द्र ने अलग से अपने एक वैशिक ग्रन्थ में गणिकाओं की निजी ६४ कलाओं का उल्लेख किया है।

२—वलिगत, प्लुत और चित्र ये घोड़ों की खास चाल हैं। पैरों को ऊपर की ओर फेंक कर चलना वलिगत है, कूद-कूद कर या छलांग मारकर चलना प्लुत है और मनोहर चाल से चलना चित्र है। सम्भवतः आज कल इन्हीं के लिए क्रमशः सरपट, दुलकी और कदम प्रभृति शब्द प्रचलित हैं।

३—आहितमुक्ताहार्य—आहार्य अर्थात् नेपथ्यज विधि उसे जिसने धारण करके छोड़ दिया है। यह नेपथ्यज विधान एक प्रकार की कला है।

'जयमङ्गला' के अनुसार *'देशकालापेक्षया वस्त्रमाल्याभरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य मण्डनाकाराः।'*

जोकि अभिनय के अनुकूल साज-सामान या पोशाक धारण करते हैं उसे ही 'नेपथ्य विधि' कहते हैं, जिसे आजकल 'मेकअप' कहते हैं।

येऽपि धनक्षयदोषं पश्यंति जडा विलासिनीश्लेषे ।
प्रष्टव्यास्ते भवता किमकृतकशिपुव्यया दाराः ॥५०२॥

जो मूर्ख व्यक्ति वेश्या के आलिङ्गन में धन का सत्यानाश रूप दोष देखते हैं उनसे आप पूछिए कि क्या पत्नी बिना अन्न-वस्त्र खरचे होती है ? ॥५०२॥

न च लाभ एक एव प्रवर्तने कारणं मनुष्येषु ।
रागादयोऽपि संति वैशिकशास्त्रप्रणेतृभिः कथिताः ॥५०३॥

मनुष्यों में प्रवृत्त होने का कारण सिर्फ लाभ ही नहीं है बल्कि जैसा कि वैशिक शास्त्र के रचयिताओं [1] ने कहा है, राग आदि भी कारण हैं ॥५०३॥

का वा विभूतिराप्ता सुन्दरसेनात्तया तपस्विन्या ।
यद्विरहकुलिशभिन्ना मुमोच सा जीवितं क्षणार्धेन ॥५०४॥

उस बेचारी (हारलता) ने सुन्दरसेन से कौन-सा ऐश्वर्य पा लिया था कि जिसके विरह के वज्र से भिन्न वह आधे क्षण में प्राण छोड़ बैठी ? ॥५०४॥

उत्तमतरुणप्रकृतिः पुलकादिकसूचितान्यतनुसक्तिः ।
स्फुटसंनिहितविभावो निवार्यते केन शृंगारः ॥५०५॥

जिसके कारण उत्तम तरुण और तरुणी हैं, रोमाञ्च आदि से जिसकी इतर विशेष शक्तियाँ भी सूचित होती हैं और जिसके विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) स्पष्ट और सन्निहित होते हैं ऐसे शृङ्गार रस को कौन निवारण करता है ? ॥५०५॥

अन्तःकरणविकारं गुरुपरिजनसंकटेऽपि कुलटानाम् ।
जानंति तदभियुक्ता भ्रूभंगापांगमधुरदृष्टेन ॥५०६॥

गुरुओं और परिजनों की भीड़-भाड़ में भी कुलटाओं के मन के विकार उसके जानकार लोग भौंहें चढ़ाकर तिरछी नजरों से देखने से जान जाते हैं ॥५०६॥

१—दत्तक, विशाखिल, वात्स्यायन प्रभृति आचार्य वैशिकशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वैशिक पुरुष (वेश्यागामी) जो वेश्या के उपचार में कुशल होते हैं, उन पुरुषों के कर्त्तव्य-अकर्तव्य के विचार वाला शास्त्र 'वैशिकशास्त्र' कहलाता है।

अन्या विहाय पतिगृहमविचिंतितकुलकलङ्कजनगर्हाः ।
रागोपरक्तहृदया यान्ति दिगन्तं मनुष्य आसज्य ॥५०७॥

राग से रंजित हृदय वाली कुछ स्त्रियाँ कुल के कलंक और लोगों में निन्दा की परवाह न करके पति का घर छोड़ कर आदमी पाकर सुदूर चली जाती हैं ॥५०७॥

अपमानः पतिविहितो गुरुपरिकरतीव्रता गृहे दौःस्थ्यम् ।
शीलक्षतये यासां तासामतिरागतोऽन्यनरसक्तिः ॥३०८॥

पति के द्वारा किया हुआ अपमान, परिवार के बड़ों की कड़ाई और घर में दुःख से रहना ये सब जिन स्त्रियों के शील (सदाचार) के नाश के कारण होते हैं, उनकी आसक्ति दूसरे पुरुष में हो जाती है ॥५०८॥

या अप्यचलितवृत्ता भर्तुश्चरणाब्जतत्पराः प्रमदाः ।
ता अपि रागविमुक्तास्तिष्ठन्त्यौचित्यमात्रेण ॥५०९॥

जिन अनुरागहीन भी प्रमदाओं का आचरण विचलित नहीं हुआ है और पति की सेवा में तत्पर रहती हैं वे सिर्फ औचित्य के सहारे रहती हैं ॥५०९॥

तस्मात्तास्वभिगमनं विविधनिमित्तं निवार्यते केन ।
निजपरपण्यस्त्रीणां रागाधीनं तु हृदयनिर्वहणम् ॥५१०॥

अस्तु, इसलिए नाना प्रकार के निमित्तों से होने वाले व्यभिचार का निवारण कौन कर सकता है ? स्वीया, परकीया और सामान्या इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के हृदय का सम्मान राग के अधीन होता है ॥५१०॥

एवंविधदृष्टान्तैरुपपत्तियुतैस्तथेदृशैर्वाक्यैः ।
अन्यैरपि चाटुपदैरावर्जितमानसो गम्यः ॥५११॥

इस प्रकार के युक्तियुक्त दृष्टान्तों तथा इस प्रकार के वाक्यों एवं अन्य प्रिय वचनों से गम्य (कामुक) का मन जब आवर्जित हो जाय ॥५११॥

विहितस्वापविबोधं किंचित्प्रकटीकृतश्रमग्लान्या ।
उत्पादितजृम्भिकया परिरभ्य घनं निशापगमे ॥५१२॥

तब नींद से जगे हुए उसको कुछ थकान और खिन्नता जम्भाई लेकर प्रकट करके कस कर आलिंगन करना और रात बीत जाने पर ॥५१२॥

विघटितपुटमुद्रदृशा विलोक्य ककुभः सदीर्घनिःश्वासम् ।
वक्तव्यमिति भवत्या रजनि खले किं प्रभातासि ॥५१३॥

उन्मीलित आँखों से दिशाओं को देखकर लम्बी साँस के साथ यह कहना 'दुष्टे रजनि, क्या प्रभात शेष हो गई ?' ॥५१३॥

अबला विषहेत कथं दृढशक्तिममुष्य रतिरसप्रसरम् ।
मदनजनितानुरागो न विदध्याद्यदि बलाधानम् ॥५१४॥

अगर कामजनित अनुराग ने उसमें शक्ति न भर दी होती तो जबरदस्त पुरुषों के रतावेग को अबला कैसे सहन कर सकती ? ॥५१४॥

धन्या चक्राह्ववधूः प्रियतमसंघट्टनसमयसम्प्राप्त्या ।
शशिना वियुज्यमाना कुमुदवति क्षीणपुण्यासि ॥५१५॥

प्रियतम से मिलन का समय जिसे प्राप्त है वह चकई धन्य है और चन्द्र से वियुक्त होती हुई हे कुमुदिनी, तू क्या क्षीण पुण्यों वाली है ? ॥५१५॥

विकसितसुरभिमनोहरसंस्थानं सरसकुसुममप्राप्तम् ।
न करोति तथा पीडामास्वादितविच्युतं यथा भृंग्याः ॥५१६॥

खिले, परागभरे, मनोहर एवं व्यवस्थित सरस पुष्प को भृङ्गी ने नहीं पाया यह कष्ट नहीं देता, बल्कि उसके द्वारा आस्वादित होने पर उस फूल का टूट जाना (कष्टप्रद) हो जाता है ॥५१६॥

विज्ञापयाम्यतस्त्वां रचितांजलिमौलिना विधाय नतिम् ।
परिचारकजनमध्ये गणनीयाहं प्रसादेन ॥५१७॥

इसलिए अञ्जलिबन्ध के साथ सिर झुका कर तुमसे निवेदन करती हूँ कि कृपा करके सेवक जनों के बीच मेरी गणना करना' ॥५१७॥

अथ दीपितरागांगैरपहस्तितला भविभ्रमोपचितैः ।
मृदुभिश्चित्तानुगतैरुपचारैः पातितस्य विश्वासे ॥५१८॥

अनन्तर हे कृशोदरी, राग के उपकारक तत्त्वों को उद्दीपित करने वाले, लाभ के भ्रम के हटा देने से प्रवर्धित, [1] मृदु एवं चित्तानुकूल उपचारों द्वारा जब वह विश्वास में पड़ जाय तब उससे कहना ॥५१८॥—

१—लाभविभ्रमोपचितैः—कामुक के हृदयावर्जन में प्रवृत्त वेश्या की सबसे बड़ी कुशलता तब सिद्ध होती है जब वह अपने व्यवहारों से यह प्रकट नहीं होने देती कि वह किसी प्रकार धनलाभ के लिए स्वार्थ वश प्रेम जता रही है। ऐसी स्थिति में कामुक का उसके प्रति आकर्षण और भी बढ़ता है।

अवलोकितोऽसि लम्पट किमिति वदन्कर्णसंनिधौ निभृतम् ।
संकटसेनाधात्र्या अद्य मया जालमार्गेण ॥५१९॥

'चालबाज', शङ्करसेना की धाय के कान के समीप चुपके से कुछ कहते तुझे मैंने आज खिड़की से देख लिया ॥५१९॥

मालत्या सह केलिं विदधासि सखी ममेति न विरोधः ।
यत्तु चिरं स्निग्धदृशा पश्यसि तां तत्र मे शंका ॥५२०॥

मुझे इसका विरोध नहीं कि तुम मालती के साथ कुछ बातचीत करते हो, क्योंकि वह मेरी सहेली है, जो कि उसे स्नेहभरी दृष्टि से देर तक देखते हो इसमें मुझे शक होने लगा है ॥५२०॥

त्वामागता न वीक्षितुमनुबध्य न याचितः प्रयत्नेन ।
आहूय वद किमर्थं ताम्बूलं ग्राहिता कमलदेवी ॥५२१॥

वह न तो तुम्हें देखने आई और न तो उसने प्रयत्नपूर्वक जोर देकर माँगा ही तब भी तुमने कमल देवी को बुला कर बोलो, किसलिये ताम्बूल पकड़ाया ? ॥५२१॥

कंचुकमपकर्षन्त्याः प्रकटीभव दंसकक्षकुचपार्श्वम् ।
साभिनिवेशं दृष्टं भवता किं कुन्दमालायाः ॥५२२॥

जब कुन्दमाला अपना कञ्चुक उतार रही थी तब क्या तुमने उसके स्पष्ट होते हुए कक्ष और स्तनों के पार्श्वभागों को इच्छा भरी दृष्टि से देखा ? ॥५२२॥

परिहासेन गृहीता यद्यंशुकपल्लवे त्वया रामा ।
आच्छाद्यापक्रान्ता किं मामवलोक्य पृष्ठतः सहसा ॥५२३॥

अगर हँसी-मजाक में तुमने रामा का आँचल पकड़ लिया तो पीछे से मुझे देख कर वह सहसा छुड़ा कर क्यों भाग गई ? ॥५२३॥

विज्ञानेन ख्यातां कुसुमलतां त्वं तु वर्णयस्यनिशम् ।
नुत्यंतीं मृगदेवीं विस्फारितलोचनः पश्यन् ॥५२४॥

वशीकरण आदि कार्यों में मशहूर कुसुमलता की हमेशा तुम तारीफ करते रहते हो और नाच करती हुई मृगदेवी को आँखें फाड़-फाड़ कर देखते हो ॥५२४॥

कारणमत्र न वेद्मयहमृजुपन्थानं प्रसिद्धमुत्सृज्य ।
वक्रेण यदेषि पथा माधवसेनागृहाग्रेण ॥५२५॥

जो कि तुम हमेशा मशहूर और आसान रास्ते को छोड़ कर माधवसेना के घर के आगे वाले टेढ़े रास्ते से आते हो इसका कारण मेरी समझ में नहीं आता !॥५२५॥

इति सेर्ष्योपन्यासैरन्यैश्चामर्मवेधिलघुकोपैः ।
प्रणयप्रभवैर्विदिते शातोदरि गूढरागत्वे ॥५२६॥

इस प्रकार ईर्ष्यायुक्त दूसरे भी मर्म को बेध न देने वाले प्रणयजनित लघु कोपों द्वारा कामुक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर ॥५२६॥

श्रुतिविशयेऽन्तरिततनुर्जनितस्थितिरायताक्षि सह मात्रा ।
परुषगिरा त्वं कुर्या इत्थं मिथ्यावचःकलहम् ॥५२७॥

हे दीर्घ नेत्रों वाली, उससे ओझल होकर जिससे वह सुन सके इससे समीप ही खड़ी होकर माता के साथ तू इस प्रकार झुठमूठ का परुष वाणी से वाक्कलह करना ॥५२७॥

अक्लेशोपनतधनः प्रेमप्रह्वो निरर्गलत्यागः ।
भट्टमहानन्दसुतो निधिभूतोऽभव्यया त्वया त्यक्तः ॥५२८॥

(वेश्यामाता की उक्ति—)

'भट्ट आनन्द के लड़का, जिसे बिना प्रयास धन मिलता है, प्रेम से झुका हुआ, निर्बन्ध पैसा लुटाने वाला स्वयं खजाना बने उसे अभागिन तू ने छोड़ दिया ॥५२८॥

व्यसनोपहतविवेको दैवैकगतिः स्वदारविद्वेषी ।
मामविगणय्य मूढ़े निर्भर्त्सित एव केशवस्वामी ॥५२९॥

मूढ़े, शौक के मारे जिसका विवेक जाता रहा है, देने में ही जिसे प्रेम है और जो अपनी पत्नी से द्वेष रखता है ऐसे केशवस्वामी को, मेरी एक न सुनी और ठुकरा दिया ॥५२९॥

अगणितराजापायोऽविच्छिन्नायः स्वभावतस्त्यागी ।
किमुपेक्षितोऽनुरक्तो वामधिया शौल्किकाध्यक्षः ॥५३०॥

जो राजा के दण्ड की परवाह नहीं करता, जिसे बराबर आमदनी होती

रहती है और जो स्वभाव ही से त्यागी है ऐसे अनुराग करने वाले शौल्किकाध्यक्ष[1] को टेढ़ी बुद्धि वाली तू ने क्या उपेक्षा कर दी ? ॥५३०॥

पितुरेक एव पुत्रश्चतुर्थवयसो गदाभिभूतस्य ।
द्रविणवतः प्रभुरातो निराकृतो भूरिकामया सोऽपि ॥५३१॥

अति बूढ़े, रोग से पीड़ित, धनी बाप के इकलौते बेटे उस प्रभुरात को भी ज्यादा इच्छा रखने वाली तूने तिरस्कार कर दिया ॥५३१॥

स्वकरेण परित्यक्ता त्वया विभूतिः करोमि किं पापा ।
सर्वंभरेणोपनतं वसुदेवमनादरेण पश्यन्त्या ॥५३२॥

सब प्रकार के अतिशय अन्नवस्त्र वाले वसुदेव को अनादर की दृष्टि से देखती हुई तू ने अपने हाथ से ऐश्वर्य छोड़ दिया, मैं पापिन क्या करूँ ? ॥५३२॥

पुरुषान्तरसंघर्षात्प्रोत्साहितचित्तवृत्ति निरपेक्षम् ।
वसु विसृजति यो रभसात्तस्य न वार्ता त्वया पृष्टा ॥५३३॥

दूसरे कामुक के साथ संघर्ष करके जिसकी चित्तवृत्ति प्रोत्साहित हो गई और जो विना किसी अपेक्षा के धन फेंकता है उससे सहसा तूने समाचार भी नहीं पूछा ॥५३३॥

चित्रादिकलाकुशलः स्मरशास्त्रविचक्षणो वृषप्रकृतिः ।
उपकुर्वन्नपि सर्वो विद्वेषिगणे त्वया क्षिप्तः ॥५३४॥

चित्र आदि कलाओं में कुशल, कामशास्त्र का पण्डित, वृष जातीय नायक की प्रकृति वाले[2] और उपकारी भी सर्व को तूने शत्रु की गणना में डाल दिया ॥५३४॥

१—चुंगी तहसील करने वालों का सरदार ।

२—वृषप्रकृति—वृषजातीय नायक विशेष । वात्स्यायन के अनुसार नवांगुलगुह्य, सुतरां अलघुदीर्घगुह्य होने के कारण कामिनियों का प्रिय । रतिरहस्य के अनुसार वृषजातीय पुरुष शूर, समुचितभाषी, रतितन्त्रज्ञ, प्रियकार्यकारी, आख्यानशिल्पकुशल, परिचरणशील, स्मरणशील और प्रेक्षण रसिक होता है ।

चन्द्रवतीमाभरणं दत्तं मधुसूदनस्य पुत्रेण ।
पश्यन्ती विभ्राणामयि रागिणि किं न जिह्रेषि ॥५३५॥

री रागिणी,[1] मधुसूदन के लड़के के दिए आभरण को धारण किए चन्द्रावती को देखती हुई तू क्यों नहीं लज्जित हुई ? ॥५३५॥

ग्रामोत्पत्तिरशेषा प्रविशंती सिंहराज विनियोगात् ।
मन्मथसेनावासे लघयति ते रूपसौभाग्यम् ॥५३६॥

गाँव में पैदा हुई और सिंहराज के धन से मन्मथसेना के घर में प्रवेश पाती हुई अशेषा तेरे रूप के सौभाग्य को तुच्छ कर रही है ॥५३६॥

आस्तामपरो लाभो नृपवल्लभनन्दिसेनतनयेन ।
शिवदेव्या उपचारः क्रियते यस्तेन पर्याप्तम् ॥५३७॥

दूसरा लाभ रहने दो, तब भी भट्टाधिप नन्दिसेन का पुत्र शिवदेवी की वह खातिर करता है जो उतनी काफी है ॥५३७॥

पश्येदं धवलगृहं पाशुपताचार्यभावशुद्धेन ।
कारितमनंग देव्या विभूषणं पत्तनस्य सकलस्य ॥५३८॥

सारे नगर के विभूषण इस धवलगृह [2] को देखो, जिसे पाशुपताचार्य भावशुद्ध ने अनङ्गदेवी के लिये बनवाया है ॥५३८॥

आपणिकार्थस्य कुतो राजा लभते चतुर्थमपि भागम् ।
हट्टपतिरामसेनप्रसादतो नर्मदा यमुपभुंक्ते ॥५३९॥

बाजार की बिक्री के धन[3] के चौथे हिस्से को भी राजा कहाँ पाता है, जिसे नर्मदा बाजार के ठेकेदार रामसेन के अनुग्रह से उपभोग करती है ॥५३९॥

पुंस्त्वाख्यापनकामो न स्त्री न पुमान्किल प्रभुस्वामी ।
अनुबध्नन्नुपहसितस्त्वया जडः स्वार्थमनपेक्ष्य ॥५४०॥

अरी मूर्ख, अपने में पुंस्त्व जाहिर करने की इच्छा वाला, न पुरुष न स्त्री, ऐसा

१—अर्थात् नायक के प्रति स्वाभाविक अनुराग करने वाली, जब कि स्वाभाविक अनुराग गणिका के लिए सर्वथा निषिद्ध है ।

२—धवलगृह—हिन्दी धौराहर या धरहरा, अर्थात् खास महल ।

३—आपणिकार्य—वह धन जो बाजार की खरीद-बेच के शुल्क या चुंगी के रूप में इकट्ठा होता है जिसे ठेकेदार (हट्टपति) राजा को अर्पित कर देता है ।

प्रभुस्वामी आग्रह करता हुआ स्वार्थ की अपेक्षा न करके तेरे द्वारा उपहासित हुआ ॥५४०॥

वाजीकरणैकमतिर्नरनाथानुग्रहेण विख्यातः।
प्रत्याख्यातः स तथा रविदेवः किंकरत्वमाकांक्षन् ॥५४१॥

वाजीकरण[1] के प्रयोग का जानकार और राजा के अनुग्रह के कारण विख्यात, दास बनना चाहते हुए उस रविदेव को भी उस प्रकार तूने तिरस्कार कर दिया ॥५४१॥

किं कन्दर्पकुटुम्बे जातोऽसावुत वशीकरणयोगम्।
कमप्यवैति सिद्धं येनाकृष्टासि सर्वभावेन ॥५४२॥

क्या यह कामदेव के खान्दान में जन्मा है अथवा कोई सिद्ध वशीकरण का उपाय जानता है जिससे सब प्रकार से तू आकृष्ट है? ॥५४२॥

बाल्ये तावदयोग्या पश्चादपि वृद्धभावपरिभृता।
तारुण्ये रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद्भिक्षाम् ॥५४३॥

बचपन में तो अयोग्य रहती है, बुढ़ापे से परिभूत हो जाने से भी अयोग्य ही हो जाती है और यदि तरुणाई में किसी के अनुराग में फँस गई तब तो गणिका भीख के लिए घूमा करे[2] ॥५४३॥

१—बाजीकरण-वह अवलेह जो सेवन करने पर घोड़े की तरह सुरत कार्य में अधिक स्फूर्ति पैदा करता है। जैसा कि चरक ने कहा है—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
येन चाभ्यधिकं बीजं वाजीकरणमेव तत् ॥

२—यहां गणिका 'उमराव जान' की ये पंक्तियां उद्धरणीय हैं—"यों तो बुढ़ापा हर एक के लिये बुरा है; खास कर औरत के लिये। रंडी के लिये तो खास कर बुढ़ापा दोज़ख़ (नरक) का नमूना है। बुढ़िया फ़क़ीरनियां, जो लखनऊ के गलीकूचों में पड़ी फिरती हैं, अगर गौर कीजियेगा तो उनमें अकसर रंडियां मिलेंगी। रंडियां भी कौन-सी जो कभी जमीन पर पैर न रखती थीं, कयामत बरपा कर रखी थी. हजारों भरे-पुरे घर तबाह कर दिए, सैकड़ो जवानों को बेगुनाह कत्ल किया, जहां जाती थीं लोग आंखें बिछाते थे, अब कोई उनकी तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखता। पहले जहां बैठ जाती थीं, लोग बाग़-बाग़ हो जाते ते। अब कोई खड़े होंने का भी रवादार नहीं। पहले बिन मांगे मोती मिलते थे, अब मांगे भीख नहीं मिलती।"

उपनय भाण्डकमेतद्यदर्जितं मामकेन देहेन ।
विदधामि तीर्थयात्रामास्स्व सुखं प्रेयसा सार्धम् ॥५४४॥

जिसे मैंने अपने शरीर से उपार्जन किया है वह अर्थभाण्ड मुझे ला दे, तीर्थयात्रा करूँगी, तू प्रियतम के साथ सुख से रह ॥५४४॥

(यहाँ तक वेश्यामाता की उक्ति हुई, विकराला बताती है कि फिर वेश्या को उससे क्या कहना चाहिए,)

आर्यजननिन्दितानां पापैकरसप्रकाशनारीणाम् ।
एतावानेन गुणो यदभीष्टसमागमो निरावरणः ॥५४५॥

बिना किसी आवरण (पर्दा-लज्जा) के प्रिय का समागम यही आर्यजनों से निन्दित, पापरस प्रधान, नारियों का गुण है ॥५४५॥

नो धनलाभो लाभो लाभः खलु वल्लभेन संयोगः ।
अक्षिगतादर्थाप्तिर्नभवति मनसः प्रमोदाय ॥५४६॥

धन का लाभ कोई लाभ नहीं, लाभ तो प्रिय के साथ समागम है । जिसके प्रति मन में द्वेष हो (अथवा जो आँखों के सामने हो) उससे धन का लाभ मन को प्रसन्न नहीं करता ॥५४६॥

गाढ़ानुरागभिन्नं तारुण्यरसामृतेन संसिक्तम् ।
न भजति सहृदयहृदयं विभवार्जनसम्भवा चिन्ता ॥५४७॥

जिसमें गाढ़ अनुराग मिला हुआ है, जो तारुण्य के रस से सम्यक् प्रकार से सींचा गया है ऐसे सहृदय के हृदय पर धन कमाने की चिन्ता नहीं सवार होती ॥५४७॥

लाभः स एव परमः पर्याप्तं तेन तेन तृप्तास्मि ।
विनिवेश्य यदुत्सङ्गे निक्षिपति मुखे मुखेन ताम्बूलम् ॥५४८॥

वही परम लाभ पर्याप्त है जिससे मैं तृप्त हो चुकी हूँ । जो कि गोद में बैठा कर मुख से मुख में ताम्बूल अर्पित करता है ॥५४८॥

सुरतश्रमवारिकणान्परिमार्ष्टि निजांशुकेन गात्रेषु ।
यदुरसि निधाय 'विहसंस्तस्य न मूल्यं वसुन्धरा सकला ॥५४९॥

जो कि गोद में रख कर हंसता हुआ अपने वस्त्र से अङ्गों में सुरत के पसीने को पोंछता है उसका मूल्य सारी पृथ्वी नहीं है ॥५४९॥

शिथिलितनिजदाररतिर्मयि सक्तमना अनन्यकर्तव्यः ।
यदसौ जितनलरूपस्तिरस्कृतं तेन गणिक्याम् ॥५५०॥

जो कि नल के रूप को जीतने वाला वह अपनी भार्या में अनुराग शिथिल करके सब काम छोड़ कर मुझमें मन लगा चुका है उससे मेरे आगे सारा गणिका-समुदाय तिरस्कृत है ॥५५०॥

बहुकुसुमरसास्वादं कुर्वाणा मधुकरी विधिनियोगात् ।
ईदृक्प्रसवविशेषं लभते खलु येन भवति कृतकृत्या ॥५५१॥

बहुत से फूलों का रसा-स्वाद करती हुई भौंरी विधि की प्रेरणा से कभी ऐसा भी फूल पा जाती है जिससे उसका जीवन सफल हो जाता है॥५५१॥

अयि सरले तावदिमा उपदेशगिरो विशंति कर्णोंतः ।
यावन्नान्तर्भूतं तच्चेतसि मामकं चेतः ॥५५२॥

अरी सीधी-साधी, तेरी ये उपदेश की बातें तब तक मेरे कानों में पैठतीं जब तक मेरा मन उसके मन में अन्तर्भूत हुआ न होता ॥५५२॥

श्रीरस्तु दुर्गतिर्वा वेश्मनि वासो महत्यरण्ये वा ।
स्वर्लोके नरके वा किं बहुना तेन मे सार्धम् ॥५५३॥

बहुत कहने से क्या ? उसके साथ मुझे धन हो अथवा दरिद्रता, घर में रहना पड़े अथवा जंगल में स्वर्ग जाना हो अथवा नरक में ॥५५३॥

इदमास्तेऽलंकरणं दुर्जननि गृहाण किं ममैतेन ।
तेनैव भूषिताहं गुणनिधिना भट्टपुत्रेण ॥५५४॥

दुष्ट माता, यह है गहना, ले ले, मुझे इसकी क्या जरूरत ? मैं तो गुणों के निधि उसी भट्टपुत्र से भूषित हूँ' ॥५५४॥

उचितस्थाननियुक्तान्यपनीय विभूषणानि सावेगम ।
एवमभिधाय यास्यसि मातुः पुरतः समुत्सृज्य ॥५५५॥

यह कह कर शरीर के उचित स्थानों में लगे गहनों को झटके से निकाल माता के सामने रख कर चली जाना ॥५५५॥

इति रागात्स श्रुत्वा चेतसि कुरुते कदाचिदेवमिदम् ।
स्नेहाधिष्ठितमनसामविधेयं नास्ति नारीणाम् ॥५५६॥

यह सुनकर प्रेमान्ध वह कदाचित् अपने मन में यह करे कि अनुराग से

व्याप्त मन वाली स्त्रियों के लिए कुछ भी अकार्य नहीं ।।५५६।।

जननीं जन्मस्थानं बान्धवलोकं वसूनि जीवं च ।
पुरुषविशेषासक्ताः सीमन्तिन्यस्तृणाय मन्यन्ते ।।५५७।।

किसी खास आदमी में आसक्त स्त्रियाँ जननी, जन्मस्थान, बन्धु-बान्धव, धन, प्राण सब कुछ तृण-समान समझने लगती हैं ।।५५७।।

रणशिरसि हते वज्रे वज्रोपमयंत्रनिर्गतग्राव्णा ।
प्राणान्मुमोच दयिता न मंत्रविधिना हृता रामा ।।५५८।।

युद्धक्षेत्र में वज्र के समान यंत्र से निकले पत्थर के द्वारा वज्र[1] के मारे जाने पर गणिका ने (शोक में) अपना प्राण त्याग दिया, वह किसी मंत्र के प्रयोग से आकृष्ट न थी ।।५५८।।

कालवशेनायासीत्पंचत्वं दाक्षिणात्यमणिकंठः ।
प्रेमोपगता वेश्या तेनैव समं जगाम भस्मत्वम् ।।५५९।।

दक्षिण देश का वासी मणिकण्ठ कालवश पञ्चत्व को प्राप्त हुआ और उसके प्रेम के वशीभूत वेश्या उसी के साथ चिता में जल कर राख हुई ।।५५९।।

भास्करवर्मणि याते सुरवसतिं वारितापि भूपतिना ।
तद्दुःखमसहमाना प्रविवेश विलासिनी दहनम् ।।५६०।।

भास्कर-वर्मा के स्वर्ग सिधारने पर राजा से रोके जाने पर भी उसका विरहदुःख न सह पाती हुई वेश्या ने अग्नि में प्रवेश कर लिया ।।५६०।।

ज्वालाकरालहुतभुजि नग्नाचार्यः पपात नरसिंहः ।
तस्मिन्नेव शरीरं निजमजुहोच्छोकपीडिता वेश्या ।।५६१।।

नग्नाचार्य[2] नरसिंह अग्नि की कराल ज्वाला में गिर गया और शोक-पीड़ित वेश्या ने उसी अग्नि में अपना शरीर स्वाहा कर दिया ।।५६१।।

१—बंग टीकाकार श्री त्रिदिवनाथ राय के अनुसार यह 'वज्र' सम्भवतः जयापीड़ के श्यालक 'जज्ज' की कल्पना करके उल्लिखित है (राजतरंगिणी) ।

२—निर्ग्रन्थ या दिगम्बर जैनाचार्य । दिगम्बर जैनों के अनुसार नग्न (वस्त्र-रहित) रहना लोक में सहज है, वस्त्रधारण कृत्रिम है ।

प्रीतिभराक्रान्तमतिस्त्रिदशालयजीविकां क्रमोपगताम् ।
अङ्गीचकार मुक्त्वा जीहल्ला मिश्रपुत्रमा मृत्योः ।।५६२।।

प्रीति के भार से आक्रान्त बुद्धि वाली कदम्बका ने स्वर्गतुल्य, वंश परम्परागत जीविका छोड़ कर भट्ट विष्णु (एक अल्प-धन) ब्राह्मण जीहल्ला मिश्र के पुत्र) को मृत्यु-पर्यन्त अङ्गीकार कर लिया ।।५६२।।

देशान्तरादुपेता प्रसादमात्रेण वीक्षिता वनिता ।
तत्याज न पादयुगं समरे निहतस्य वामदेवस्य ।।५६३।।

दूसरे देश से आई और सिर्फ अनुग्रह की दृष्टि से देखी गई वनिता ने युद्ध में मारे गए वामदेव के पैरों को न छोड़ा ।।५६३।।

भट्टकदम्बकतनये याते वसतिं परेतनाथस्य ।
चक्रे देहत्यागं रणदेवी वारयोषितां मुख्या ।।५६४।।

भट्ट कदम्बक का लड़का जब यमपुरी को सिधारा तब वेश्याओं में प्रमुख रणदेवी ने प्राण त्याग दिया ।।५६४।।

अस्यामेव नगर्यां द्रविणमदात्कालसंचितमशेषम ।
प्रेम्णाकृष्टा गणिका मिश्रात्मजनीलकंठाय ।।५६५।।

इसी (वाराणसी) नगरी में प्रेम से आकृष्ट गणिका ने बहुत समय से सञ्चित अपना सारा धन मिश्र के लड़के नीलकंठ के लिए अर्पित कर दिया !।५६५।।

इयमपि मयि विहितास्था मातृवचःश्रवणकलुषिता क्व गता ।
त्यक्त्वाभरणं सर्वं प्रविजृम्भितमन्युसंवेगा ।।५६६।।

मुझमें विश्वास करने वाली यह भी माता की बात से बिगड़ कर सारे गहने उतार कर क्रोध के संवेग के बढ़ जाने से कहीं चली गई ।।५६६।।

उत्सृष्टालंकरणां परिशेषितमातृमुक्तपरिवाराम् ।
संतर्पयामि संप्रति सर्वस्वेनापि हरिणाक्षीम ।।५६७।।

जिस मालती ने मेरे लिए अपने गहने छोड़ दिए, माता भी जिसका परिवार छोड़ कर चली गई, अब मैं उस हरिण के समान नयनों वाली को सर्वस्व देकर सन्तृप्त करूँगा ।।५६७।।

गेहेन किं प्रयोजनमन्यैरपि बन्धुदारपरिवारैः ।
संसारग्रहकारणमेका खलु मालती मम हि ॥५६८॥

घर से और दूसरे बन्धु-बान्धव, स्त्री तथा परिवार से क्या मतलब ? क्योंकि एक मालती ही मेरे संसार में रहने का कारण है ॥५६८॥

अमृतकरावयवैरिव घटिता सा दृढतरं परिष्वज्य ।
चेतो नयति समत्वं ब्रह्मण आनन्दरूपस्य ॥५६९॥

मानों चन्द्र के खण्डों से गढ़ी हुई जो (मालती) कस कर आलिङ्गन करने पर चित्त को आनन्दमय ब्रह्म की समता में पहुँचा देती है ॥४६९॥

आविर्भवदात्मभवक्षोभक्षतधीरता घनं रभसात् ।
विगलितकुचयुगलावृतिरालिंगति मालती धन्यम् ॥५७०॥

प्रकट होते हुए कामदेव के द्वारा किए गए क्षोभ से धैर्य के नष्ट हो जाने पर की स्थिति में जिसके दोनों स्तनों का आवरण ढल पड़ता है ऐसी मालती धन्य पुरुष को आलिङ्गन करती है ॥५७०॥

निर्दयतरौष्ठखण्डनसव्यथहुंकारमूर्च्छितं सुरते ।
अहहेति वचस्तस्या अपुण्यभाजो न शृण्वंति ॥५७१॥

जिन्होंने पुण्य नहीं कमाया है वे सुरत के समय दया-रहित होकर ओठ के कटने की व्यथा से युक्त, हुङ्कार के कारण मूर्च्छित उसकी 'अहह' इस आवाज को नहीं सुनते ॥५७१॥

स्मृतिजन्मजनितविकृतिव्रततिच्छन्नं करोति संसारम ।
आबद्धसुरतसंगरविमर्दसंक्षोभिता दयिता ॥५७२॥

हमेशा चलते रहने वाले रतियुद्ध के विमर्द के कारण व्याकुल प्रिया (मालती) संसार को कामजनित विकृतियों की लताओं से ढंक लेती है ॥५७२॥

गाढतराश्लिष्टवपुर्भजते कान्ता प्रमोदसंमोहम् ।
शिथिलीकृता तु किंचिद्विविधविकारं समुच्छ्वसिति ॥५७३॥

प्रिया जब गाढ़ आलिङ्गन से जकड़ दी जाती है तब आनन्द में विभोर हो जाती है और थोड़ा भी शिथिल कर देने पर नाना प्रकार के विकार प्रकट करने लगती है ॥५७३॥

सन्त्यन्या अपि सत्यं पुरुषोचितकर्मपण्डिताः प्रमदाः ।
सृष्टा तया तु नियतं विपरीतरतक्रियागोष्ठी ॥५७४॥

सत्य है कि पुरुषादित के कार्य में बहुत-सी और भी प्रमदाएँ हैं तथापि इस मालती ने निश्चय ही विपरीत सुरत के कार्यों का निर्माण किया है ॥५७४॥

तंत्रीवाद्यविशेषानुद्दामानन्यजन्मनस्तस्याः ।
कुहरितरेचितकम्पितसम्पादननैपुणं करोति जडान् ॥५७५॥

उद्याम कामवेग वाली उस मालती के रति-कालोचित कुहरित (रतिकाल का कूजन, वीणा पक्ष में 'चिकारी'), रेचित (रतिकालीन निःश्वसित, पक्ष में मींड़), कम्पित (रतिकालीन सिहरन, पक्ष में झङ्कार) प्रभृति के सम्पादन का कौशल तंत्रीवाद्य प्रभृति वाद्य यंत्रों को जड़ या बेसुरा बना डालता है ॥५७५॥

ललितांगहारजृम्भितवलितस्मितवेपनानि मालत्याः ।
पश्यञ्जहाति कामो रतिमोहनचेष्टितेषु बहुमानम् ॥५७६॥

मालती के शोभन अङ्गविक्षेप, जँभाई, चाल, मुस्कान और कम्पन को देखता हुआ काम अपनी भार्या रति की मोह उत्पन्न करने वाली चेष्टाओं में श्राद्ध छोड़ देता है ॥५७६॥

न ग्राम्यं परिहसितं नाविभ्रमतरलितोऽक्षिविक्षेपः ।
सुरतोद्योगनिरोधो दोहददानं न पुष्पबाणस्य ॥५७७॥

वैदग्ध्य की जन्मभूमि और भारी जघन के भार से मन्द चाल से चलने वाली उस मालती के परिहास (हंसी-मजाक) में कोई गंवारपन नहीं है, चंचल आँखों का विक्षेप विलासहीन नहीं है, उसके सुरत में प्रवृत्त होने पर कामदेव को दोहददान [1] (अर्थात् पूर्ण तृप्ति) नहीं होता ॥५७७॥

नार्थपरो लपनरसो न पराशयवेदने विचक्षणता ।
नासौष्ठवं प्रसंगे नोल्वणगुणकीर्तनेषु भारत्याः ॥५७८॥

उसके नेत्रों का अनुराग धनपरक नहीं है, दूसरों के अभिप्राय वह जान

१—गर्भिणी स्त्री की खाने, पीने या देने की स्वाभाविक अभिरुचि को 'दोहद' कहते हैं। उस रुचि के पूर्त्यर्थ उसके अभिलषित कार्य का सम्पादन, 'दोहददान' कहलाता है। यह संस्कृत-साहित्य में वृक्षों को अकालकुसुमित करने के लिए

लेने में चतुर नहीं है,[1] कार्य करने के प्रसंग में कोई अचारुता नहीं करती और दूसरों के गुणगान में वाणी की अचारुता नहीं होने देती ।।५७८।।

नापरपुरुषश्लाघा न त्यागः कालदेशवेशस्य ।
वैदग्ध्यजन्मभूमेर्गुरुजघनभरेण मन्दयातायाः ।।५७९।।

मुझे छोड़ दूसरे पुरुष की तारीफ नहीं करती, समय और देश के अनुसार वेष का त्याग भी नहीं करती [2] ।।५७९।।

कविसमय के रूप में 'दोहददान' प्रसिद्ध है, जो दस वृक्षों के कारण दस भेदों से कहा जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति, बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरुवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मंदारो नर्मवाक्यात्, पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो,
गीतान्नमेरुर्विकसति च, पुरो नर्तनात् कर्णिकारः ।।

प्रस्तुत आर्या के उत्तरार्ध का भाव यह है कि पुष्पबाण रूप वृक्ष का दोहददान तब नहीं होता जब मालती सुरत में उद्योगरहित होती है। उपर्युक्त श्लोक में उक्त स्पर्शादि दशविध दोहददान को कवि ने एक ही 'सुरत' शब्द से सङ्कलित कर लिया है। तात्पर्य यह है कि मालती के स्पर्श, गण्डूषसेन, पादाघात, वीक्षण, आलिङ्गन, नर्मवाक्य, पटुमृदु हसन, मुखबात, गीत और सामने नर्तन से कामदेव रूपी वृक्ष का 'दोहददान' होता है और इनके अभाव में उसका 'दोहददान' नहीं होता ।

१—वह इतनी सरला या मुग्धा है कि यह नहीं जान पाती कि कौन किस तात्पर्य से उसके साथ व्यवहार करता है, अर्थात् गणिकासुलभ धूर्तता उसमें रञ्चमात्र भी नहीं ।

२—देश और काल के अनुसार वेशभूषा एक प्रकार की कला है, जो 'नेपथ्य-प्रयोग' कहलाती है—

'देशकालापेक्षया वस्त्रमाल्याभरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य मण्डनाकाराः' ।

चक्राह्वपरिष्वजनं हंससमाश्लेशनकुलपरिरम्भम्।
पारावतावगूहनमाचरति सुमध्यमा यथावसरम्॥५८०॥

शोभन मध्यभाग वाली वह उपयुक्त समय से कभी चक्रवाग-आलिङ्गन,[1] कभी हंस-समाश्लेषन,[2] कभी नकुल-परिरम्भ[3] और कभी कपोतावगूहन[4] का प्रयोग करती है॥५८०॥

तद्वक्रवचन हास्यव्यवहृतिहृतमानसस्य जायंते।
अनुकूलसुन्दरा अपि भरणीयाः केवलं दाराः॥५८१॥

उसके वक्रोक्तिपूर्ण हँसी-मजाक के व्यवहारों से हृत मन वाले व्यक्ति के लिए परिणीता भार्या अनूकूल और सुन्दर होने पर भी केवल भरण-पोषण के योग्य रह जाती है[5]॥५८१॥

सूचयति पृथक्करणं भ्रातृणां वक्ति विषमशीलत्वम्।
विवृणोति गृहविसंस्थामभिनन्दति पितृकुलस्य गुणवत्ताम्॥५८२॥

भाइयों को आपस में अलग-अलग कर देती है, परस्पर-खराब स्वभाव पैदा कर देती है, घर की स्थिति गड़बड़ा देती है, अपने पिता के घर की प्रशंसा करती है॥५८२॥

१-४—यहाँ विविध आलिंगनों की चर्चा है। वात्स्यायन कामसूत्र में इनका निर्देश नहीं, इसका यह अर्थ नहीं कि आलिंगन अशास्त्रीय है। स्वयंगम्य होने के कारण आचार्यों ने इन्हें नहीं कहा है। चक्रवाक-आलिंगन—चकवा पक्षी जैसे चकई का आलिंगन करता है, अर्थात् देह में देह संघट्टन करके स्त्री के कंधे पर माथा रखना। हंसालिंगन—हंस की तरह बार बार मिलना और अलग होना। नकुलालिंगन—नेवले की तरह देर तक एक दूसरे के शरीर में चिपक जाना। संयोग से इसका उल्लेख 'योगवासिष्ठ' में प्राप्त है—

'गलदङ्गं घनस्नेहं मुञ्चद्बाष्पं स्फुरत्स्पृहम्।
आलिलिङ्ग चिरं कान्तां नकुलो नकुलीमिव (६।१०६।१३-१४)

पारावतावगूहन—कबूतर के सामान आमने सामने केवल मुंह से मुंह का मिलाना।

५—तात्पर्य यह कि शादीशुदा आदमी जब इसके हंसी मजाक के फेर में पड़ जाता है तो विवाह करके लाई हुई पत्नी को सिर्फ अन्न वस्त्र देकर कर्तव्यपालन मात्र करने लगता है, उसे सर्वथा छोड़कर इसी में रमण करने लगता है।

अन्यसुतपक्षपातं कथयति मातुस्तिरस्करोति पतिम् ।
पार्श्वनिमग्ना जाया मा यातु विमुच्य कार्मुकं मदनः ॥५८३॥

कहती है कि सास दूसरे लड़के का पक्षपात करती हैं, पति को तिरस्कार करती है । इस प्रकार कामदेव अपना धनुष छोड़ कर भी बगल में पड़ी पत्नी की पूजा करवाता है ॥५८३॥

एवं कृतेऽपि सुन्दरि यदि तिष्ठति नायकः प्रकृत्यैव ।
इत्थं पथि परिमोषरुत्वसख्या नैपुणेन वक्तव्यः ॥५८४॥

सुन्दरि, ऐसा करने पर भी यदि नायक प्रकृतिस्थ ही रहे तो तुम्हारी दूती को उसके निकट निपुणता के साथ रास्ते में चोर के द्वारा (आभूषण) आदि के अपहरण की बात इस भाव से करनी चाहिए[1] ॥५८४॥

गृहकार्यव्यग्रतया चित्तग्रहणाय वा कुलस्त्रीणाम् ।
नायाते भवति सखी प्रावृड्घनकलुषिते दिशां चक्रे ॥५८५॥

'घर के काम-काज में फंस जाने के कारण अथवा कुलवन्ती स्त्रियों के मन रखने के निमित्त आपके नहीं आने पर सखी, जब दिशाएं बरसने वाले मेघों से संकीर्ण हो गईं ॥५८५॥

अग्रीवकशयनगता स्फारीभवदात्मसम्भवविकारा ।
त्वद्वर्त्मनिहितनेत्रा गीतामन्येन गीतिकामशृणोत् ॥५८६॥

कोठे की शय्या पर आकर लेट गई, उसका काम-विकार बिलकुल बढ़ने लगा[2] और उसकी आँखें तुम्हारी राह में बिछ गईं तभी उसने किसी के द्वारा गाई हुई यह गीतिका सुनी ॥५८६॥

'यदि जीवितेन कृत्यं सम्भावय विरहिणि प्रियं तूर्णम् ।
घनरसितस्य हि पुरतः कदलीदलकोमलः कुलिशपातः ॥५८७॥

'विरहिणि' यदि तुझे अपने जीवन से कुछ काम है तो शीघ्र ही प्रिय का अभिसरण कर, क्योंकि मेघों की गड़गड़ाहट के सामने वज्रपात भी केले के पत्ते के समान कोमल हो जाता है' ॥५८७॥

१—विकराला ने मालती को समझाया कि यदि मातृकलह आदि उपाय निष्फल हो जांय तब तुम अन्य उपाय आरम्भ करना । कामशास्त्र के वैशिक अधिकरण में 'अलंकारपरिमोष' का यह उपाय निर्दिष्ट एवं लक्षित है ।

२—'मेघदर्शन से काम-विकार होना प्रसिद्ध है । कालिदास लिखते हैं—

आकर्ण्यं मामवादीद्धन्यास्ता युवतयः सखि कठोराः ।
या विषहन्ते दीर्घंप्रियतमविरहानलासारम् ॥५८८॥

सुन कर वह मुझसे बोली कि सखि, वे कठोर-प्रकृति युवतियाँ धन्य हैं जो प्रियतम के विरहाग्नि की वर्षा देर तक सह लेती हैं ॥५८८॥

मम तु दिनांतरितेऽपि प्रेयसि लब्ध्वा सहायसामग्रीम् ।
विदधाति मकर केतनउत्कलिकाविधुरितम् हृदयम् ॥५८९॥

मेरे लिए तो एक दिनका भी प्यारे के व्यवधान कर देने पर मेरी सहायक सामग्री न पाकर कामदेव मेरे हृदय को उत्कण्ठा-विधुर करने लग जाता है ॥५८९॥

उत्कण्ठयति 'भृशं मां समीरणो बकुलकुसुम गन्धाढ्यः ।
प्रच्यावयंति धैर्यान्मधुरध्वनिभिः कलापभृतः ॥५९०॥

मौलसिरी के फूलों का परिकर बांधे समीर अत्यधिक उत्सुकता उत्पन्न करता है और मयूर अपनी मधुर ध्वनियों से धीरज च्युत करने लगे हैं ॥५९०॥

सतडिन्मिलद्बलाकामसिताम्बुधरावलीं समुद्यन्तीम् ।
उत्सहते सा वीक्षितुमविरलमालिंगितो यया कान्तः ॥५९१॥

बिजली और बकपंक्ति के साथ आकाश में उठान लेती हुई काले-काले बादलों की पंगत वही देखने का उत्साह कर सकती है जिसने पूर्णरूप से प्रिय का आलिङ्गन कर लिया है ॥५९१॥

स्वेच्छागमनलघुत्वं बहुलापायं निशासु पन्थानम् ।
न विचारयति महिला अभीष्टजनसंगातावुत्काः ॥५९२॥

प्रिय जन के मिलन की उत्सुकता से भरी महिलाएं स्वेच्छा से चल पड़ने की लघुता की और रातों में बहुत-बहुत विघ्नों वाले मार्ग की परवाह नहीं करतीं ॥५९२॥

'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे ॥'

बालरामायण का यह पद्यार्थ दर्शनीय है—

'विरहमविरहं वा नानुसंधन्ति मेघाः ।
सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ।'

क्रियतां भूषणशोभा त्वरयति मे मानसं मनोजन्मा ।
रंजयति मनो नितरां कलधौतनिवेशितं रत्नम् ॥५६३॥

अतः गहने पहना, मेरे मन को कामदेव त्वरित कर रहा है सोने में जड़ा हुआ रत्न मन को ज्यादा भाता है' ॥५६३॥

घनजलदावृतककुभि प्रदोषसमये प्रदोषगमनाय ।
विदधानया कुबुद्धिं रागान्धे किमिदमारब्धम् ॥५६४॥

उसे गमनोद्यत देख उसकी माता ने परुष वचन का प्रयोग करते हुए कहा—जब कि घने मेघ दिशाओं में चारों ओर आच्छन्न हैं ऐसे प्रदोष काल में(अर्थात् गिरने पड़ने, कांटे गड़ने आदि दोषों से युक्त अथवा दोषा अर्थात् रात्रि का आरम्भ) गमन के लिए कुबुद्धि पैदा करके अरी प्रेम की अंधी, तू ने क्या आरम्भ किया है ? ॥५६४॥

वचनप्रपंचसारं जायाश्रितमन्यदेशसम्बन्धम् ।
पुरुषमभिगन्तुकामा नवेयमभिसारिका दृष्टा ॥५६५॥

ऐसे पुरुष के प्रति जो सिर्फ बातें बनाता है, अपनी पत्नी में अटका रहता और दूर स्थान पर रहता है, गमन की इच्छा वाली वह एक नये ढंग की अभिसारिका देख पड़ी है (अथवा ऐसी अभिसारिका तो देखी नहीं !) ॥५६५॥

जलधौततिलकरचनां गलदम्भोबिन्दुलुलितकेशांताम् ।
तिम्यत्तनुलीनावृतिचण्डानिलसलिलपातकंटकिताम् ॥५६६॥

वर्षा के जल से तेरे माथे का तिलक धुल जायगा, पड़ते हुए जल से तेरे बाल अस्त-व्यस्त हो जायेंगे, शरीर भींग जाने से कपड़ा सट कर दिखाई नहीं देगा, प्रचण्ड हवा और पानी के लगने से रोमाञ्च होंगे ॥५६६॥

अविभावितसमविषमप्रस्खलदंघ्रिं सहायकरलग्नाम् ।
पुरतोऽध्वनः प्रमाणं मुहुर्मुहुः साध्वसेन प्रच्छंतीम् ॥५६७॥

ऊँची-नीची जमीन मालूम न पड़ेगी, पैर लड़खड़ाने लगेंगे, साथी के हाथ का सहारा लेगी, आगे रास्ते की दूरी को बार-बार डर के मारे पूछेगी ॥५६७॥

अन्यस्त्रीषु च पत्यौ व्यग्रे कृच्छ्रेण कथमपि प्राप्ताम् ।
तत्कालयोग्यपरिजननिवेदितामिति विकल्प्य सह सचिवैः ॥५६८॥

बहुत कष्ट से किसी प्रकार पहुँच भी गई तो उस समय घर के द्वार पर

रहने वाले परिजन भी खबर देंगे तब घर की दूसरी स्त्रियाँ और पति यह शंका करके व्यग्र हो उठेंगे कि ॥५९८॥

किं प्रेम्णोऽयं महिमा किमुतानंत्यं धनप्रलोभस्य ।
किं वाऽन्यतः प्रवृत्ता प्रवेशिता वातवर्षेण ॥५९९॥

यह क्या प्रेम की महिमा है अथवा धन के अधिक लोभ की सीमा है या किसी दूसरे काम से हवा-पानी में कांपती हुई पहुँची है ॥५९९॥

संनिहितकलत्राणामनुचितमिति बाह्यलोकसंवदनात् ।
अन्यस्मिन्नुदवसिते विसर्जितामिष्टमालतीकेन ॥६००॥

बाहरी लोग जब आपस में बात करेंगे कि 'जिनके पास स्त्री है उनके लिये यह (बेश्या समागम) अनुचित है' तब जिसे मालती प्रिय है वह व्यक्ति तुझे दूसरे घर में भिजवा छोडेगा ॥६००॥

लोकेन हास्यमानां बिभ्राणां वाससी जलक्लिन्ने ।
रूपमदमुत्सृजन्तीं वैलक्ष्याद्विहसितेन नतवदनाम् ॥६०१॥

लोग तुझ पर हँसेंगे, उस समय तेरे कपड़े भींगे होंगे, तू अपने रूप का गर्व छोड़ती रहेगी तथा लज्जा के मारे लोगों की खिल्ली से तेरा मुँह झुक जायगा ॥६०१॥

पश्चात्तापगृहीतां कण्टकदर्भाग्रभिन्नपादतलाम् ।
अस्मद्वचः स्मरंती द्रक्ष्यंत्यभिसारिकां सुकर्माणः ॥६०२॥

तू पछताएगी, कांटे और कुशों के नोकों से तेरे तलवे छलनी हो जायेंगे, तब मेरी बात तुझे याद आयगी, ऐसी दशा में पड़ी तुझ अभिसारिका को वे पुण्यवान लोग देखेंगे' ॥६०२॥

इति परुषमभिदधानां मातरमवधीर्य युष्मदभ्याशम् ।
चौरहतका व्रजन्तीं विद्रावितरक्षिणः सखीं मुमुषुः ॥६०३॥

यह कहती हुई माता को छोड़ कर तुम्हारे पास चल पड़ी हुई सखी को मुये गुंडों ने पहरुओं को भगा कर लूट लिया ॥६०३॥

एषा प्रपंचरचना यदि भवति वृथा पुनः पुरस्तस्य ।
वणिगिदमुपेत्य वक्ष्यति सहायसंचोदितो भवतीम् ॥६०४॥

यदि यह छलना उसके सामने नाकामयाब हो जाय तो तुम्हारे किसी

सहयोगी के द्वारा भेजा हुआ बनिया आकर तुमसे यह बोलेगा ॥६०४॥

पूर्वं दत्तस्योपरि मुक्ताहारस्य केदरास्त्रिशत् ।
परिचारिकया नीता अन्यानपि मृगयते व्ययस्य कृते ॥६०५॥

('पहले जो मुक्ताहार मेरे पास बंधक रक्खा था उस पर तुम्हारी दासी तीस केदर (उस काल के तीस रुपये) ले गई और अब तुम्हारे प्रिय के लिए और भी रुपये खोजती है ॥६०५॥)

यत्तु घनसारकुंकुमचन्दनधूपादिमुक्तकं दत्तम् ।
तत्सम्पुटके लिखितं शृणु पिण्डलिकां करोमि ते पुरतः ॥६०६॥

जो कि कपूर, कुङ्कुम, चन्दन, धूप-वगैरह मैंने उधार में दिया है वह सब खाते में लिख रखा है, सुन, तेरे सामने हिसाब (पिण्डलिका) करता हूँ ॥६०६॥

एतावन्तं कालं नावष्टभ्यार्थिता मया त्वमसि ।
रिक्तं भाण्डस्थानं साम्प्रतमिति याचना क्रियते ॥६०७॥

अब तक मैंने तुझसे इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु अभी तो अपना ही भांड़ा खाली है, इसलिए मांग कर रहा हूँ' ॥६०७॥

एवंवादिनि तस्मिन्नकिंचिल्लज्जानता क्षणं स्थित्वा ।
प्रियपूर्वं प्रश्रितया वाचा वाच्यः सवैलक्ष्यम् ॥६०८॥

जब वह इस प्रकार कहे तब उसे कुछ शर्म के कारण झुकी आँखों से देखकर शर्मिन्दा आवाज में प्रिय और विनय पूर्वक कहना ॥६०८॥

हारस्तवैव तिष्ठतु मध्यस्थस्थापितेन मूल्येन ।
शेषं ततो यदन्यत्तद्दिवसैः पूरयिष्यामि ॥६०९॥

'किसी मध्यस्थ से दाम तय कराके हार को तुम्ही रख लो और जो शेष बचेगा मैं आये दिन पूरा चुका दूँगी' ॥६०९॥

इयमपि कपटग्रथना पूर्वसमा चेत्तदेदमभिधेयम् ।
आशंकन्तेऽनिष्टं कातरहृदया हि योषितः प्रायः ॥६१०॥

यह छलना भी अगर पहले-जैसी व्यर्थ हो जाय तब यहकहना—'कातर हृदय वाली स्त्रियाँ स्वामी के अस्वस्थ हो जाने पर प्रायः अनिष्ट की आशङ्का करने लगती हैं ॥६१०॥

अपटुशरीरे स्वामिनि विज्ञप्ता भगवती मया गत्वा ।
भवतु निरामयदेही जीवितनाथस्तव प्रसादेन ॥६११॥

(मैंने देवी के मन्दिर में जाकर मनौती की कि मेरे प्राणनथ तेरी कृपा से स्वस्थ हो जांय ॥६११॥ /

सम्पन्नवांच्छिनार्था बल्युपहारेण पूजयिष्यामि ।
सामग्रीविरहेण तु न वितीर्णस्तत्र मे मनसि शंका ॥६१२॥

इच्छा पूरी होने पर पूजा के उपहार तुझे चढ़ाऊँगी और सामग्री के अभाव के कारण (देवी के) उपहार नहीं चढ़ाया इस कारण मेरे मन में शङ्का बनी रहती है' ॥६१२॥

अस्मिन्व्यर्थीभूते रिक्तीकृतशीर्णवेश्मनो दाहम् ।
उत्पाद्य मन्दगामिनि सर्वविनाशः प्रकाशमुपनेयः ॥६१३॥

यह बात भी जब काम न कर सके तो हे मन्दभागिनि, कोई घर खाली करके उसमें आग लगवा देना और सब के सामने फैलाना कि तेरा सब कुछ नष्ट हो गया ॥६१३॥

स्निग्धत्वमलं बुद्धा सहभोजनशयनवसनलिंगेन ।
एभिरुपायद्वारैर्वान्त विरिक्थस्त्वया कार्यः ॥६१४॥

साथ भोजन, साथ शयन और साथ ही रहने के चिन्ह से यह मालूम करके कि कामुक ज्यादा स्नेह करने लगा है, तू इन (निर्दिष्ट) उपायों[1] द्वारा उसका सारा धन ऐंठ लेना ॥६१४॥

वार्धुषिककदर्थनया भोगध्वंसात्सहायवचनैर्वा ।
अवधारितेऽपि निपुणं वरगात्रि विलुप्तसारत्वे ॥६१५॥

हे प्रशस्त अंगों वाली, कर्ज देने वाले सूद-खोरों की भर्त्सना से, ठाट-बाट के खत्म हो जाने से अथवा उसके साथियों की बातों से उसके तत्त्वरहित होने का पूरा पता लग जाने पर भी ॥६१५॥

१—माता के साथ पुत्री का मिथ्याकलह, मिथ्याकलह के समय अलंकार प्रदान मार्ग में चोरों द्वारा अलंकारों का अपहरण, बनिया का कर्ज, देवता को खुश करने के लिए मनौती, गृहदाह ।

परुषवचोनिर्धारणमा यत्यामीहितोपघातीति ।
यत्नादमी विधेया गम्यस्य विमोक्षणोपायाः ॥६१६॥

(उसके निष्कासनार्थ) कड़वी बातों का प्रयोग आगे आने वाले समय में अपने अभीष्ट की सिद्धि का बाधक होगा' ॥६१६॥

पृथगासननिर्देशः प्रत्युत्थानादिकेऽपि शैथिल्यम् ।
सासूयसोपहासा आलापा मर्मवेधि परिहसितम् ॥६१७॥

(उसके आने पर) अलग आसन की ओर बैठने के लिए इशारा, प्रत्युत्थान आदि में भी शिथिलता, बातें ईर्ष्या और उपहास से भरी, मर्म को बेध देने वाला मज़ाक ॥६१७॥

तत्प्रतिपक्षश्लाघा तदधिकगुणरागकीर्तनावृत्तिः ।
वदति प्रिय आभीक्ष्णच बहुप्रलापित्वदूषणाख्यानम् ॥६१८॥

उसके विरोधी की प्रशंसा, उसके विरोधी के गुणों में अपना अनुराग का बार-बार कीर्तन, वह हमेशा प्रिय बोले तब 'बहुत बक-बक करने वाला' यह दोष लगाना ॥६१८॥

वचनान्तरोपघातैस्तत्प्रस्तुतसंकथासमाक्षेपः ।
तद्व्यवहारजुगुप्सा सव्यपदेशस्तदंतिकत्यागः ॥६१९॥

दूसरी बातों को बीच में डालकर उसकी चल रही बातचीत को उड़ा देना, उसके व्यवहारों से घृणा, बहाना कर उसके समीप से हटना ॥६१९॥

व्याजेन कालहरणं स्वापावसरे विवर्तनं शयने ।
निद्राभिभव ख्यापनमुद्वेगः संमुखी करणे ॥६२०॥

छल से समय बिता देना, सोने के समय पलंग पर मुँह फेर कर सोना, नींद का जोर प्रकट करना, अपने सम्मुख करे तो उद्विग्न होना ॥५२०॥

गुह्यस्पर्शनिरोधः स्वभावसंस्था रताभियोगेषु ।
चुम्बति वदनविकम्पनमालिगति कठिनगात्रसंकोचः ॥६२१॥

गुह्य अंग के स्पर्श पर रोक, कुछ प्रश्न करे तो प्रकृतिस्थ हो रहना, चुम्बन की कोशिश करे तो मुख को जोर से कम्पित करना, आलिङ्गन करे तो कठिन हो जाना और अंगों को सिकोड़ लेना ॥६२१॥,

असहिष्णुत्वं प्रहणनकररुहदशनक्षतिप्रसंगेषु ।
दीर्घंरते निर्वेदः स्वपिहीति रताभियोजके भूयः ॥६२२॥

प्रहार, नखों और दन्तों के क्षतों के प्रसंगों में असहिष्णुता, देर तक रति में खिन्नता, रति के लिए बार-बार प्रेरणा करे तो 'सोओ' कहना ॥६२२॥

तदशक्तावनुबन्धो वैदग्ध्यविकासने तथा हासः ।
रात्र्यवसानस्पृहया पुनः पुनर्यामिक प्रश्नः ॥६२३॥

अपनी विदग्धता जाहिर करे तो हंस पड़ना, रात बीत जाने की इच्छा से बार-बार पहरुवे से प्रश्न ॥६२३॥,

निःसरणं वासगृहाद्रुषसि समुत्थाय तल्पतस्त्वरया ।
सरभसमुदीरयंत्या निशा प्रभाता प्रभातेति ॥६२४॥

रात बीत गई, बीत गई, यह कहते हुए भोर होने पर जल्दी से सेज छोड़ कर कोठरी से निकल जाना [1] ॥६२४॥

उभयेच्छया प्रवृत्तं निरुपाधि प्रेम भवति रमणीयम् ।
अन्योन्यसमासक्तौ संस्थानमिवाभिजातमणिहेम्नोः ॥६२५॥

'जो प्रेम (नायक और नायिका) दोनों की ओर से, छल-कपट छोड़ कर किया जाता है वही मजा देता हैं, जैसे खान से पैदा हुए मणि और सोने का परस्पर संयोग होने पर ही बना हुआ अलंकार अच्छा लगता है'॥६२५॥

यस्त्वेकाश्रयरागः परिभवदौर्बल्यदैन्यनाशानाम् ।
स निदानमसन्दिग्धं सीतां प्रति दशमुखस्येव ॥६२६॥

और जो कि एकतरफा प्रेम है वह पस्ती, कमजोरी, दीनता और नाश का निःसन्देह रूप से आदि कारण है जैसे सीता के प्रति रावण का एकतरफा प्रेम ॥६२६॥

यानि हरन्ति मनांसि स्मितवीक्षितजल्पितानि रक्तानाम् ।
तानीव विरक्तानां प्रतिभांति विवर्तनानीव ॥६२७॥

अनुराग करने वाली स्त्रियों की जो मुस्कान, बातें और निगाह मन को

१—आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'समयमातृका' में धन-रहित कामुक के निष्कासनार्थ उपायों को उल्लेख करते हुए उन्हें 'परुषोपचार' कहा है (५।७६)।

हर लिया करती हैं, अनुराग न करने वाली स्त्रियों के वे ही बिलकुल विरुद्ध प्रतीत होती हैं ।।६२७।।

विदधातु किमपि कथमपि निगृह्यमाणा मुहूर्तमासिष्ये ।
इति यत्र वचः स्त्रीणां तत्रापि रमंत एव पशुतुल्याः ।।६२८।।

'वह कुछ भी करे, बहुत धर-पकड़ रखेगा तो किसी तरह क्षण भर के लिये ठहर जाऊँगी' ऐसा जहाँ स्त्रियों का मन हो जाय वहाँ पशु जैसे लोग ही स्नेह करते हैं ।।६२८।।

यत्र न मदनविकाराः सद्भावसमर्पणं न गात्राणाम् ।
तस्मिन्मुद्रितभावे पशुकर्मणि पशव एव रज्यंते ।।६२९।।

जो न कामजनित विकार हैं, न अंगों का प्रेमपूर्वक समर्पण है उस भाव-शून्य पशुकर्म में पशु ही राग करते हैं ।।६२९।।

अवधीरणयोपहतः प्रतिदिवसं हीयमानसद्भावः ।
अभिमानवान्मनुष्यो योषितमूढामपि त्यजति ।।६३०।।

तिरस्कार का मारा, प्रतिदिन जिसका प्रेम कम पड़ता जाता है ऐसा अभिमानी पुरुष अपनी ब्याहता पत्नी को भी छोड़ देता है ।।६३०।।

साक्षिनिकोचं सख्याः पाणितलं पाणिना समाहत्य ।
यन्नरमुपहसति स्त्री ददातु तस्मै मही रन्ध्रम् ।।६३१।।

आँखें सिकोड़ कर, सखी के हाथ को हाथ से ठोंक कर स्त्री जिस पुरुष की खिल्ली उड़ाती है उसे धरती अपने में शरण दे ।।६३१।।

पुरुषान्तरगुणकीर्तनमन्योद्देशेन चात्मनो निन्दाम् ।
शृण्वन्नपि यः स्वस्थः स्वस्थोऽसौ कालपाशबद्धोऽपि ।।६३२।।

सामान्य जन के बहाने दूसरे पुरुष के गुणों का गान और अपनी निन्दा सुनता हुआ भी जो स्वस्थ रहता है वह यम के पाश से बँधा होकर भी स्वस्थ है ।।६३२।।

अवगम्याभिप्रायं स्वामिन्याः परिजनोऽपि यं पुरुषम् ।
अवहसति तिरस्कार्यं तस्य न मूल्यं वराटिकाः पंच ।।६३३।।

मालकिन का मतलब समझ कर नौकर-चाकर भी जिस तिरस्कार के योग्य पुरुष की हँसी उड़ाते हैं उसकी कीमत पाँच कौड़ी भी नहीं है ।।६३३।।

तत्त्वातत्त्वसमुत्थव्यवहृत्यन्योर्योतरं न जानाति ।
स्थानं भवति स पशुपतिरपसंशयमर्धचन्द्रलाभस्य ॥६३४॥

जो पुरुष तत्त्व और अतत्त्व के व्यवहारों में भेद नहीं जानता वह पशुपति (मूर्खराज, श्लेष व्यङ्ग से शिव) निःसन्देह अर्धचन्द्र (गलबाहीं, पक्ष में चन्द्रार्ध) के लाभ का पात्र है ॥६३४॥

क्रमकृशितगौरवांशो रिक्ततया लाघवं परापतितः ।
अप्राप्तपरिच्छेदः प्लवतेऽसौ युवतिसरिति कुमनुष्यः ॥६३५॥

धीरे धीरे जिसका गौरव (भारीपन) जाता रहता है और खाली हो जाने से जिसमें लाघव (हल्कापन) आ जाता है, ऐसा थाह न पाया हुआ निन्दनीय पुरुष तरुणी रूपी नदी में तैरता रहता है ॥६३५॥

यत्नेन कपटघटितान् शृंगारोद्दीपार्थमनुभावान् ।
रतिशिल्पजीविकाभिर्मूढास्तत्त्वेन गृह्णन्ति ॥६३६॥

रतिकला से जीवन निर्वाह करने वाली वेश्याओं द्वारा यत्नपूर्वक शृंगार को उद्दीप्त करने के लिए छल से प्रदर्शित कटाक्ष-विक्षेप आदि अनुभावों को मूढ़ बुद्धि के पुरुष तत्वतः समझने लगते हैं ॥६३६॥

या धनहार्या नार्यो निर्मर्यादाः स्वकार्यतात्पर्याः ।
सह ताभिरपीहन्ते वत मन्दाः संगतमजर्यम् ॥६३७॥

जो स्त्रियाँ धन खरच कर मिलती हैं और मर्यादाओं से रहित एवं अपने मतलब साध लेने भर की होती हैं उनके साथ भी मन्द लोग कभी पुरानी न पड़ने वाली मैत्री चाहते हैं ॥६३७॥

अपशेक्षधनो गम्यः श्रीमानपि नान्यथेति निर्दिष्टम् ।
कन्दर्पशास्त्रकारैः कुतः कथा लुप्तविभवस्य ॥६३८॥

जिस आदमी की धन दौलत ज़ाहिर है, कामशास्त्र के रचयिताओं ने उसे गमन के योग्य कहा है और जो कि धनी होता हुआ भी देने वाला नहीं है उसे गमन के योग्य नहीं बताया है, फिर जिसके पास पूंजी ही नहीं उसकी बात ही क्या ! ॥६३८॥

व्यासमुनिनापि गीतं द्वावेव नराधमौ मनो दहतः ।
योऽनाढ्यः कामयते कुप्यति यश्चाप्रभुत्वयुक्तोऽपि ॥६३९॥

व्यासमुनि के ने भी संसार में दो प्रकार के अधम पुरुष बताए हैं एक वह

जो दरिद्र होकर भी इच्छा करता है, दूसरा वह जो असमर्थ होकर भी कोप करता है ॥६३९॥

क्षीणद्रव्ये देहिनि दारा अपि नादरेण वर्तन्ते ।
किमुतादानैकरसाः शरीरपणवृत्तयो दास्यः ॥६४०॥

जिसके पास द्रव्य नहीं उस पुरुष में पत्नी भी आदर नहीं रखती, फिर जो केवल लेने में ही रसिक और शरीर का विक्रय किया करती हैं उन दासियों की बात क्या ! ॥६४०॥

अविदितहेयादेयास्तिर्यंचोऽपि त्यजंति पीतरसम् ।
कुसुम किमु कार्यविदो वेश्या नरमात्तसर्वस्वम् ॥६४१॥

जो पंछी त्याज्य और ग्राह्य की बात नहीं जानते वे भी चुसे रस वाले फूल को छोड़ देते हैं, फिर मतलब की यार वेश्याएँ लुटे धन वाले आदमी को तो छोड़ देती हैं ही ॥६४१॥

उत्पादयति सदानो रागं रागात्मको यथाभ्यधिकम् ।
निर्देहं निर्दानोऽपि सदा नो निःसन्देहं तथैव मनुजन्मा ॥६४२॥

जिस प्रकार देने वाला प्रेमी निश्चित रूप से प्रेम उत्पन्न करता है उस प्रकार निःसन्देह नहीं देने वाला आदमी सदा प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाता ॥६४२॥

यदतीतं तदतीतं भाविनि लाभेऽपि नातिबहुमानः ।
तत्कालहस्तनिपतितमनियतपुंसां मुदे वित्तम् ॥६४३॥

जो चला गया वह तो चला गया, अब होने वाले लाभ में भी कोई आदर नहीं, जिनके पुरुष नियत नहीं ऐसी वेश्याओं को वही धन खुश करता है जो तत्काल हाथ में आ जाय ॥६४३॥

पीडितमधु मधुजालं तुच्छीभूतं च मन्मथग्रस्तम् ।
मुञ्चन्ति मदनशेषं क्षुद्राश्च प्रकटरामाश्च ॥६४४॥

मधुमक्खियाँ जिस प्रकार जिस छत्ते से मधु निचोड़ डाला गया है और जो मधूच्छिष्ट मात्र अवशिष्ट रह गया है उसे परित्याग कर देती हैं उसी प्रकार गणिकाएँ मदन मात्र अवशिष्ट कामी को परित्याग कर देती हैं ॥६४४॥

एकः क्रीणात्यद्य प्रातर्भविता तथापरः क्रेता ।
अन्यवशे क्षणमेकं न विक्रयः शाश्वतोऽस्ति वेश्यानाम् ॥६४५॥

एक आदमी आज खरीदता है तो कल सवेरे दूसरा आदमी खरीदार होगा, उनका एक क्षण भी दूसरे के अधीन होता है, वेश्याओं का विक्रय हमेशा-हमेशा के लिए नहीं हो जाता ॥६४५॥

सन्दर्शितपरमार्थं भ्रूक्षेपकटाक्षदृष्टिहसितादि ।
शृण्वंति ये सकर्णास्तत्कृतमन्यत्र संक्रान्तम् ॥६४६॥

दूसरे कामुक के प्रति संक्रान्त, चरम अर्थ को स्पष्ट कर देने वाले भ्रूविलास, कटाक्षदृष्टि और हँसी को कानवाले सुन ही लेते हैं अर्थात् बुद्धिमान लोग आशय को समझ ही लेते है ॥६४६॥

यदि नाम निराकरणे न समर्थाच्छिन्नकार्यबन्धेऽपि ।
काचिन्महानुभावा बोद्धव्यं तदपि चेतनावद्भिः ॥६४७॥

यदि कोई महानुभावा वेश्या लेन-देन के सम्बन्ध टूट जाने पर भी पुरुष को निराकरण करने में नहीं समर्थ होती तो अकलमन्दों को खुद समझ लेना चाहिए ॥६४७॥

तेनार्थेनोपकृतं तथापि तस्य स्वदेहदानेन ।
तच्चातीतं सम्प्रति निरर्थकः शुष्कशृंगारः ॥६४८॥

पुरुष ने धन से उपकार किया तो उसने भी अपना शरीर अर्पित करके उसका उपकार किया, अब तो वह उपकार अतीत हो गया फिर सूखा शृङ्गार किस काम का ? ॥६४८॥

अवधीरणा रसायनमवमानो भवति यस्य परितुष्ट्यै ।
योग्योऽसौ पुरुषखरः खरतरनिर्भर्त्सितोक्तिकुलटानाम् ॥६४९॥

जो वेश्या के तिरस्कार को रसायन मानता है और उसके द्वारा अपमान से सन्तुष्ट होता है वह गदहा आदमी कड़े-से कड़े दुत्कार के, लगुड-प्रहार के योग्य है ॥६४९॥

दीपज्वालाललने व्रजतः खलु निर्वृतिं तयोस्त्वयान्भेदः ।
प्रथमा स्नेहेन विना तथापरा स्नेहयोगेन ॥६५०॥

दीप की ज्वाला और वेश्या दोनों बुझ जाती हैं किन्तु दोनों में इतना भेद

है कि पहली स्नेह (तैल) के बिना बुझ जाती है और दूसरी स्नेह (राग) के योग से बुझ जाती है ॥६५०॥

धर्मः कामनमभिनवगुणवन्निःस्वस्य मदनयोगवतः ।
अर्थोऽर्थवतोऽभिगमात्कामः समरतिनरोपभोगेन ॥६५१॥

(वेश्याएँ) कामातुर दरिद्र प्राणी को रतिदान करके 'धर्म' लाभ करती हैं, धनवान् व्यक्ति के साथ संगम करके 'अर्थ' लाभ करती हैं और 'समरत'[1] व्यक्ति के साथ उपभोग करके तीसरे पुरुषार्थ 'काम' का लाभ करती है ॥६५१॥

यस्तु न धर्मप्राप्तयै नार्थाय न कामसाधनोपायः ।
स पुमान्सच्चरितनरैः पर्यनुयुक्तः किमाचष्टे ॥६५२॥

जो पुरुष न धर्म की प्राप्ति के लिए, न अर्थ के लिए और न काम के लिए उपयोगी है वह आचारवान् लोगों से पूछे जाने पर क्या करेगा ? ॥६५२॥

कामोद्वेगगृहीतं धूर्तैरुपहस्यमानशृंगारम् ।
दारिद्रयहतं यौवनमबुधानां केवलं विपदे ॥६५३॥

ना समझ लोगों का यौवन, जो कामजनित उद्वेग से ग्रस्त है, धूर्तों द्वारा जिसके श्रृङ्गार की खिल्ली उड़ाई जाती है और गरीबी से बुरी तरह पिट गया है, केवल विपत्ति का कारण है ॥६५३॥

व्यपगतकोषे रागिणि याति लयं पानमात्रलाभकृते ।
क्षुद्रा मधुकरिकांजे न तु गणिका चिंतितस्वार्था ॥६५४॥

उस कमल में, जिसका कोष (कुड़मल) समाप्त हो चुका है, अर्थात् विकसित हो चुका है तथा जो रागयुक्त है, केवल मधुपान के लिए लुभाई क्षुद्रा मधुकरी लीन हो जाती है, किन्तु स्वार्थ साधन में व्यापृत चित्त वाली गणिका ऐसा नहीं करती ॥६५४॥

यासां कार्यापेक्षा सकटाक्षनिरीक्षणेऽपि वेश्यानाम् ।
दर्शनमात्रक्षुभितैर्वंच्यंते ताः कथं पुरुषैः ॥६५५॥

जिन वेश्याओं का कटाक्षभरी दृष्टि से देखने में भी कुछ न कुछ प्रयोजन

१—समप्रमाण गुह्यशाली स्त्री-पुरुष का रतिप्रसंग । पुरुष में आधिक्य होने पर 'उच्चरत' एवं स्त्री में आधिक्य होने पर 'नीचरत' होता है ।

होता है वे उन पुरुषों से जो केवल देखने मात्र से विचलित हो जाते हैं, कैसे ठगी जा सकती हैं ? ॥६५५॥

क्लेशाय दुर्भगानां नाना स्थिति गात्रभंगविन्यासः ।
गणिकाभिनयचतुष्टयमाकृष्टयै स्वापतेयपुष्टा नाम् ॥६५६॥

मान, स्तुति, गात्र-भङ्ग और विन्यास ये गणिकाओं के चार अभिनय दरिद्रों को कष्ट देते हैं और धनवानों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ॥६५६ ॥

किं धक्ष्यति भौमोऽपि ज्वलनः खालु तादृशं कुलांगारम् ।
यो दह्यतेऽविरामं विरक्तदासीतिरस्कारैः ॥६५७॥

जो आदमी रागशून्य वेश्या के कर्णकटु तिरस्कारों से नहीं दग्ध होता, क्या वैसे कुलाङ्गार को पार्थिव अग्नि जला पायेगी ? ॥६५७॥

गृहमेतदीश्वराणां कांतारं दुष्प्रवेशमन्येषाम् ।
फूत्कृतमिदमुद्भुजया न मालती कामसत्रदानपरा ॥६५८॥

यह घर पैसे वालों के लिए है, दूसरों के लिए अरण्य की भाँति दुष्प्रवेश्य है, सुन्दर भुजाओं वाली मालती ने फुफकार कर कह रखा है कि मालती काम (मन्मथ) का सदावर्त नहीं चलाती !' ॥६५८॥

इति चोदितनिजचेटीनिगदितकटुकाक्षरान्यकृतलक्ष्याः ।
आकर्णयतो वाचो दैवोपहतस्य तस्य मर्मरुजः ॥६५९॥

प्रेरित हुई दूती लक्ष्य का विचार न करके इस प्रकार कड़े अक्षर कहेगी जबकि वह भिदे मर्म वाला भाग्य का मारा सुनता रहेगा ॥६५९॥

एवमभिधेयमानो बुध्यति यदि नो पशुर्नराकारः ।
तदिदं सुन्दरि वाच्यः प्रश्रितवचसा त्वया कामी ॥६६०॥

इस प्रकार कहे जाने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं

१—'उमराव जान' में कामुक से वेश्यामाता की इस प्रकार परुषोक्ति है—'खैर मियां, इस लायक तो आप नहीं रहे कि एक अदना सी फर्मायश पूरी करें । फिर लौंडी के मकान पर आना क्या फर्ज़ था । हुजूर को मालूम नहीं वेश्याएं चार पैसे की मीत होती हैं । क्या आपने यह मसल नहीं सुनी कि रंडी किसकी जोरू । हम लोग मुरव्वत करें तो खायें क्या ? यों आप आइए, आपका घर है, मना नहीं करती । मगर आपको अपनी इज्जत का खुद ख़याल होना चाहिए'।

समझे तो हे सुन्दरि, तू विनीत वचन होकर उस कामी से यह कहना ॥६६०॥

प्रीयत एव तवोपरि हृदयं मे किन्तु गुरुजनाधीना ।
मातृवचोऽतिक्रमणं न समर्था संविधातुमहम ॥६६१॥

'तुम पर मेरा दिल लुभाया ही है, किन्तु मैं बड़ों के अधीन हूँ, माता की बात का उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं ॥६६१॥

अर्हसि तावदतस्त्वं गंतुमितः कतिपयान्यपि दिनानि ।
पुनरपि भवतैव समं भोक्तव्यं जीवलोकसुखम ॥६६२॥

इसलिए तुम यहाँ से कुछ ही दिनों के लिए चले जाओ, फिर तो तुम्हारे ही साथ दुनियाँ के मज़े लेंगे ॥६६२॥

निर्वासितेऽथ तस्मिन्यः कामी पूर्वमुज्झितो भुक्त्वा ।
तस्य प्राप्तविभूतेर्युक्तिरियं भिन्नसन्धाने ॥६६३॥

उसके निकाल बाहर किए जाने पर जो कामी पहले भोग करके छोड़ दिया गया था उसके पास धन इकट्ठा हो जाने पर उस छूटे हुए के साथ मिलाप करने में यह युक्ति है[1] ॥६६३॥

उपवनलीलाविहरणहावोज्ज्वलमंजुलस्य सह तेन ।
वर्णनमितिवृत्तस्य स्मरजविकाराश्च वीक्षिते तस्मिन् ॥६६४॥

जब वह मिले तो पहले जो उसके साथ हाव-पूर्वक मनोहर उपवन लीला (पुष्पावचय आदि) और विहार (जलकेलि आदि) आदि किए थे उन सारी घटनाओं का (उसे सुनाते हुए) वर्णन करना और कामजनित विकार प्रकट करना ॥६६४॥

१—कामसूत्र है—

'वर्तमानं निष्पीडितार्थमुत्सृजन्ती विशीर्णेन सह सन्दध्यात्'

अर्थात् जब मौजूदा कामुक का सारा धन निचोड़ लिया जाय तब उसे छोड़ती हुई वेश्या पुनः पहले के छूटे हुए कामुक के साथ सन्धि करे। इसको यहाँ 'भिन्न-सन्धान' कहा है। अब इसके अनुसार कुट्टनी विकराला मालती को 'भिन्नसन्धान' की युक्तियाँ समझाना आरम्भ करती है।

इदमुपवनमतिधन्यं निर्भरमालिंगितं सुरभिलक्ष्म्या ।
मत्सकन्धार्पितपाणिर्बभ्राम स यत्र जीविताधीशः ॥६६५॥

सौरभसम्पत्ति से पूर्ण आलिङ्गित यह उपवन अतिधन्य है जहां मेरा प्राणेश्वर मेरे गले में हाथ डाल कर घूमा करता था ॥६६५॥

सख्य इतो भ्रमरकुलत्रासितया प्रियतमो मया सहसा ।
वक्रीभवत्पयोधरमुपगूढोऽधोरसीत्कारम् ॥६६६॥

सखियों, यहां भौंरों से डरी हुई मैंने प्रियतम को धीरे धीरे सीत्कार करते हुए इस प्रकार सहसा आलिङ्गन में कस कर बांध लिया कि मेरे स्तन दब कर खर्च हो गए ॥६६६॥

रणदिन्दिन्दिरवृन्दे कूजत्कलकण्ठवाररमणीये ।
अत्रातिमुक्तकगृहे मरुदीरणविधूतकुसुमसंच्छन्ने ॥६६७॥

वासन्ती लता के इस कुञ्ज में, जहां भौंरे गुंजार करते रहते हैं, कोयल की कूक से रमणीयता बनी रहती है और जो कुञ्ज हवा से हिलते हुए फूलों से संछादित है ॥६६७॥

मयि जाताधिकरागो बलवति मदने सहायसामग्र्या ।
कान्तः पल्लवशयने नो तृप्तिमगाद्विविक्तकार्येषु ॥६६८॥

मुझमें उत्पन्न राग वाला प्रिय सहायक सामग्री के कारण मदन के जोर मारने पर पल्लव के बने सेज पर एकान्त में होने वाले कार्यों में तृप्त नहीं हुआ ॥६६८॥

प्रेखोलनस्थ युक्त्या विध्यन्पार्श्वद्वयं नखैर्धूर्तः ।
चक्रे मां मदनमयीं व्रततिप्रेखामिमां समारूढाम ॥६६९॥

जब मैं लता के बने झूले पर बैठी थी तब उस धूर्त ने पेंग मारने के बहाने मेरे दोनों पार्श्वों को नखों से खरोंचते हुए मेरे काम को जगा डाला ॥६६९॥

स्पृहणीयोऽयमशोकः स्पृष्टो यद्वल्लभेन हस्तेन ।
अस्मदवतंसकार्थं नूतनदलपल्लवान्विचारयता ॥६७०॥

यह अशोक का वृक्ष स्पृहणीय है जिसे प्रिय ने मेरे कानों के अवतंसक

बनाने के लिए नये पल्लवों को तोड़ते हुए स्पर्श किया था ॥६७०॥

अस्मिन्सहकारतले तस्योत्संगे सलीलामासीना ।
अश्रृणवमहमिति वाचः पश्यंती विलसितानि तरुणानाम ।६७१॥

इस आम के पेड़ के तले उसकी गोद में पड़ी, तरुणों की विलास लीला देखती हुई मैंने यह बातें सुनी ॥६७१॥

उत्थापय मानरस दयितं चरणाग्रनिपतितं तूर्णम् ।
अत्याकृष्टं त्रुट्यति सुदृढमपि प्रेमबन्धनं मूढे ॥६७२॥

(मानिनी नायिका को सखी का उपदेश) 'अरी मानिनी, पैरों में गिरे प्रिय को शीघ्र उठा, मूढ़े, सुदृढ़ प्रेम का बन्धन भी ज्यादा खींचने पर टूट जाता है' ॥६७२॥

तिष्ठन्नपि यातसमः किं तेन निवारितेन सखि पशुना ।
यामीति निष्प्रकम्पा विनिःसृता यस्य साधरे वाणी ॥६७३॥

(नायक की अरसिकता से रुष्ट नायिका की सखी के प्रति उक्ति) 'सखि, ठहरा हुआ भी तो वह चले गए ही के समान है, उस पशु को रोकने से क्या ? जिसके मुख से 'जाता हूँ' यह वाणी बिना रुकावट के अधर पर आ गई ॥६७३॥

आयुःसारं यौवनमृतुसारः कुसुमसायकवयस्यः ।
सुन्दरि जीवितसारो रतिभोगरसामृतस्वादः ॥६७४॥

(ज्ञातयौवना मुग्धा अथवा मानिनी नायिका के प्रति किसी रसिक व्यक्ति की उक्ति)'सुन्दरि, आयु का सार यौवन है, ऋतुओं का सार कामदेव का सखा वसन्त है और जीवन का सार रतिसुख के रसामृत का स्वाद लेना है, ॥६७४॥

रम्यं कुसुमस्तवकं कुरु मे प्रिय कैंकिरातमवतंसम् ।
तिष्ठतु वा किमनेन प्रत्यग्रमशोककिसलयं चारु ॥६७५॥

(स्वाधीनपतिका प्रगल्भा नायिका प्रणयी से आदर के साथ कनफूल बनवाने के लिए निर्देश करती है) 'प्रिय, सुन्दर अशोक के फूलों के गुच्छे को मेरे कान का अवतंस बना दो अथवा रहने दो इससे क्या ? नया सुन्दर अशोक का किसलय ही लगा दो ॥६७५॥

अस्तामास्तामेतत्प्रापय मां सिंदुवारमभिरामम्।
नहि नहि राजति सुतरां चूतद्रुममंजरी कर्णे ॥६७६॥

इसे भी जाने दो, मुझे सिन्दुवार दो। नहीं नहीं, कान में आम की बौर ही बहुत अच्छी फबती है' ॥६७६॥

धिक्तारुण्यमकान्तं धिक्कान्तं यौवनेन रहितं च।
धिक्तद्द्वयमपि मन्मथसामर्थ्यविकासितं विना सुरतम् ॥६७७॥

(विलासिनियों को सुरत के लिए प्रवर्तायित्री किसी नायिका की आक्षेपोक्ति) उस जवानी को धिक् है जो प्रिय के बिना गुजरती हो और उस प्रिय को धिक् है जिसमें जवानी नहीं है और उन दोनों को भी धिक् है जो कामशास्त्र के प्रयोग वाले सुरत से रहित हैं ॥६७७॥

जनितोऽप्यपराधशतैर्वामे तस्मिंश्चिरप्ररूढोऽपि।
अवगतमधुना सख्या न वसन्तमतीत्य वर्तते मानः ॥६७८॥

(गुरुमानवाती 'नायिका के बहुत दिनों के मान को सहसा भंग देख कर आश्चर्य करके सखी उससे कहती है); 'उस प्रतिकूल प्रिय के विषय में सैकड़ों अपराधों के कारण उत्पन्न और बहुत दिनों से बढ़ा हुआ भी सखी का मान अभी पहुँचे हुए वसन्त को पार नहीं कर सका'! ॥६७८॥

वर्षशतस्य हि सारः काललवः प्रथममेलकस्थानम्।
सचकितमागच्छन्ती सोत्कलिकैर्यत्र दृश्यते रमणी ॥६७९॥

(सखी के द्वारा प्रिय के समागम के लिए नायिका को प्रलोभन) 'वह समय का लेशमात्र सौ वर्षों का सार है, जब उत्कण्ठाओं से भरी रमणी प्रथम मिलन के संकेत-स्थल पर आश्चर्य-भाव से आती हुई दिखाई देती है' ॥६७९॥

किं निर्मितोऽसि धात्रा नवोऽपरः किमु वसन्तगुण एषः।
कुसुमशरपूर्णतूणः किमुताभवदन्य एष कंदर्पः ॥६८०॥

(प्रिय के प्रति नायिका का चाटुगर्भ वचन) 'क्या तुम विधाता का अपूर्व निर्माण हो, अथवा क्या एक अन्य मूर्ति वसन्त हो, अथवा क्या पुष्प के बाणों से भरे तरकस को धारण करने वाला दूसरा कामदेव ही हो'! ॥६८०॥

नो पश्यसि यदि ककुभः प्रचुरोज्ज्वलकुसुमसुरभिरमणीयः ।
परभृतकूलनमिश्रं न शृणोषि यदि द्विरेफभंकारम् ॥६८१॥

गन्धं यदि च न लभसे वासितदिग्व्योम सुमनसां हृद्यम ।
अनुभवसि यदि स्पर्शं नो शीतलदाक्षिणात्यपवनस्य ॥६८२॥

रसनेन्द्रियैकशेषः परसंचार्याजिनेन परिभूतः ।
नार्हसि तदिति त्यक्तो निजाश्रमं गन्तुमन्यतो निरतः ॥६८३॥

(किसी नायिका के प्रणयी को कोई दूसरी नायिका मिठाई का निमन्त्रण देकर अपहरण करने की चेष्टा वाली थी कि उसी समय नायिका ने प्रणयी को उपालम्भ दिया) 'बहुत से विकसित फूलों की सुरभि से रमणीय दिशाओं को यदि नहीं देखते हो, कोयल की कूक से मिले भौंरे की झङ्कार को यदि नहीं सुनते हो, दिशाओं और आकाश को बसा देने वाली फूलों की मनोहर गन्ध यदि नहीं सूँघते हो, शीतल दक्षिण पवन के स्पर्श का यदि अनुभव नहीं करते हो तो जिसकी एक रसनेन्द्रिय ही शेष रह गई है ऐसे तुम अन्य नारी के साथ घूमने के कारण लोगों द्वारा परिभव प्राप्त कर चुके हो तब भी अपना आश्रय छोड़ कर कहीं दूसरी जगह बिलकुल नहीं जा सकते हो' ॥६८१-६८३॥

अस्मिन्सरसि सलीलं करयंत्रविनिर्यदंबुधाराभिः ।
दयितेन ताड़िताहं मयाप्यसावाहतो मृणालिकया ॥६८४॥

इस सरोवर में प्रिय ने हाथ की पिचकारी से निकलती हुई जलधाराओं से लीला पूर्वक मुझे ताड़न किया था और तब मैंने भी उसे मृणाल से आहत किया ॥६८४॥

पुनरन्तर्जलमग्नो मामुपगम्याविभावितः सहसा ।
उच्चिक्षेप सहासं हासितसन्निहितपरिवारः ॥६८५॥

फिर वह पानी के भीतर पैठ गया और मेरे पास अनजाने में आकर मुझे सहसा हँसते हुए ऊपर उछाल दिया इस दृश्य को देख कर पास की सखियाँ हँस पड़ीं ॥६८५॥

संसक्तार्द्रावरणं जघनं नः पश्यतस्तदा तस्य।
प्रथमाकांक्षाकूतं भेजे सम्भोगशृंगारः ॥६८६॥

जब उसने मेरे जघन को, जिसमें भींगा हुआ कपड़ा चिपक गया था देखा तब उसे देखकर उसने (मेरी) पहली इच्छा के आशय ने सम्भोग-श्रृङ्गार का आनन्द पाया ॥६८६॥

कालप्रदेशवेषव्यापारस्थितिविशेषघटनाभिः ।
चिररूढोऽपि हि यूनां नवत्वमुपनीयते रागः ॥६८७॥

समय, स्थान, वेष, व्यापार और स्थिति-विशेष की घटनाओं के कारण युवकों का बहुत दिनों का भी राग नया हो जाता है ॥६८७॥

सादरमर्पयतोऽङ्गं गोत्रस्खलनापराधिनस्तस्य।
सख्यः स्मरामि सहसा विलक्षतां क्लिष्टहसितस्य ॥६८८॥

सखियों, मुझे याद आता है, जब कि वह मुझे आदर-पूर्वक कमल देने लगा उसी समय वह दूसरी का नाम कह देने का अपराध कर बैठा, तब सहसा वह लज्जा के कारण बहुत क्लेश की हँसी हँसने लगा ॥६८८॥

प्रत्यग्रनखव्रणितस्तनान्तरे क्षिपति लोचने स्पृहया।
प्रेयसि ह्रीताच्छादनमकरवमहमब्जिनीपत्रम् ॥६८९॥

जब उस प्रियतम ने नखों के नये क्षतों से घायल मेरे स्तन पर ललचाई आँखें डालीं तब मैंने कमलिनी के पत्ते से उसे ढंक लिया ॥६८६॥

क्षिप्त्वातर्कितमम्भोगर्भितनलिनीपलाशपुटमारात् ।
आहतया यद्विहितं स्वस्थधिया तन्न शक्यते कर्तुम् ॥६९०॥

पद्मपत्र का सम्पुट (दोना) बना कर उसमें जल भर कर उसने जब सहसा मेरे अङ्गों पर दूर ही से फेंका तब मैं जो चीत्कार कर उठी उसे कोई साधारण अवस्था की स्त्री नहीं कर सकती थी ॥६९०॥

सुश्लिष्टो हावविधिर्मदनालसगात्रजृम्भितं स्खलितम्।
गूढस्थानप्रकटनमंगुलिविस्फोटनं स्मितं सुभगम् ॥६९१॥

अनन्तर सम्यक् प्रकार से हावभाव का प्रयोग, मदनजनित आलस्य के

कारण सुन्दर जंभाई, गोपनीय अङ्गों का प्रकटन, उँगलियों का चटकाना, सुभग मुस्कान ॥६६१॥

नीवीबन्धविमोक्षो मुहुर्मुहुः केशपाशविश्लेषः ।
स्वाधरदशनग्रहणं बालकपरिचुम्बनं रतोत्सुकता ॥६६२॥

नीवी की गांठ खोलना, बार-बार बंधे केशपाश को शिथिल करना, अपने अधर को दांतों से पकड़ना, बच्चे को चूम लेना, और सुरत की उत्सुकता ॥६६२॥

साकांक्षितं क्षिपंत्या तरलायतलोचनं मुहुः कान्ते ।
उद्दिश्य तद्वयस्यकमिति शोकग्रस्त वस्तुगिरः ॥६६३॥

प्रिय के प्रति बार बार आकांक्षापूर्ण ढंग से अपनी तरल और आयत आंखें करती हुई उसके साथी को उद्देश्य करके इस प्रकार शोक-भरी बाणी बोली ॥६६३॥

एकीभावं गतयोर्जलपयसोर्मित्रचेतसोश्चैव ।
व्यतिरेककृतौ शक्तिर्हंसानां दुर्जनानां च ॥६६४॥

'पानी और दूध तथा दो 'मित्रों के हृदय जब मिल कर एक हो जाते हैं तब उन्हें अलग-अलग करने की 'शक्ति' हंसों की तथा दुर्जनों की होती है ॥६६४॥

येन तदा मामूचे परिजनमुत्सार्य विधृतनटमन्युः ।
दर्शितहितस्वरूपः परपीड़ाकरणपण्डितः प्रखलः ॥६६५॥

(जब तुमसे मेरा विच्छेद हुआ) उस समय दूसरे को पीड़ित करने में पंडित (तेरा वयस्य) परिजन को पास से हटा कर अपना बनावटी शोक प्रकट करके मेरे हितकारी का रूप धारण कर मुझसे बोला ॥६६५॥

अविदितगुणान्तराणां को दोषः प्रान्तदेशवासानाम् ।
स्वाधोनकुंकुमा अपि यद्विदधति बहुमतिं नीले ॥६६६॥

जिन्हें दूसरे गुणों का परिचय प्राप्त नहीं और जो देशान्तर में रहा करते हैं उनका कोई दोष नहीं, क्योंकि केसर के देश कश्मीर में रहने वाले लोग 'नील' का ही ज्यादा आदर करते हैं ॥६६६॥

क्व महीतलरम्भा त्वं न्यक्कृतचन्द्रप्रभा स्वदेहरुचा ।
चित्रलता क्व वराकी नीचैरुपसेवितारोहा ॥६९७॥

अपने शरीर की कान्ति से चन्द्र की प्रभा को तिरस्कृत करने वाली पृथ्वीतल की रम्भा सी तुम कहां और कहां बेचारी चित्रलता, जिसके नितम्बों को नीच पुरुष सेते रहते हैं ? ॥६९७॥

यस्य न खलु विगणिताः प्रह्वात्मानो महाधनाः कुलजाः ।
सोऽद्य हृदयेन तस्यां त्वयि तिष्ठति बाह्यवृत्तेन ॥६९८॥

जिसके चलते तुमने बड़े धनवानों और कुलीनों को भी ठुकरा दिया वह आज तेरे प्रति ऊपरी व्यवहार प्रकट करके रहता है ॥६९८॥

तामेव समाचरणां सद्भावेन प्रवर्तितां निपुणैः ।
विन्दन्ति तत्र कुशलाः स्नेहविरूक्षप्रभेदेन ॥६९९॥

सद्भाव से किए गए जिस आचार-व्यवहार को निपुण जन जानते हैं, उसे ही स्नेह के विपरीत होने पर कुशल लोग भिन्न प्रकार से जान लेते हैं ॥६९९॥

तव तु विरुद्धप्रेम्णस्तत्कर्मविचेतनं मनोवृत्तिम् ।
नारोहति तु मयैवं निवेदितं पारिचित्येन ॥७००॥

अस्तु, जिसका प्रेम बढ़ चुका है उसकी मनोवृत्ति सत्कार्य के निर्णय करने में प्रवृत्त नहीं होती, उसे ही मैंने जान पहचान के कारण निवेदन किया' ॥७००॥

इति दुर्जनाभिनिःसृतवाग्विषदूषितसमस्तवपुषो मे ।
ईर्ष्यारुषः प्रवृद्धाश्चिररूढप्रणयखण्डनप्रभवाः ॥७०१॥

इस प्रकार दुर्जन रूपी सर्प के मुख से निकले वचन रूपी विष के कारण मेरा समग्र शरीर दूषित हो उठा और अधिक दिनों के बढ़े प्रणय के खण्डन हो जाने से उत्पन्न ईर्ष्या के कारण अतिशय उद्दीप्त हो गया ॥७०१॥

लघुहृदयतया तस्माद्दुर्भाषितवज्रपातविहतानाम् ।
वक्तृविशेषवितर्को न स्पृशति प्रायशो मनः स्त्रीणाम् ॥७०२॥

स्त्रियों का हृदय छोटा या हल्का होता है, इस लिए दुष्ट बातों के वज्र से आहत होने पर उनके मन में यह वितर्क करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती कि कहने वाला कौन है ? ॥७०२॥

प्रियमपि वदन्दुरात्मा क्षिपति विपत्सागरे दुरुत्तारे ।
आसाद्य प्राणभृतो मृतये परिलेढि जिह्वया खड्गः ॥७०३॥

दुरात्मा पुरुष मधुर वचन बोलता हुआ भी विपत्ति के दुस्तर समुद्र में फेंक देता है, खड्ग मृत्यु के लिए प्राणी को पाकर उसे जीभ से चाटने लगता है ॥७०३॥

अतिकोमलमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः स हृदयं दहति पुनः कालकूटघटित इव ॥७०४॥

'शठ व्यक्ति बहुत कोमल, बड़े नपे-तुले शब्दों से सुन्दर ढंग से बोलता है, वस्तुतः विष का बना हुआ जैसा वह हृदय को दग्ध करता है ॥७०४॥

हितमधुराक्षरवाणीव्यवहारमनुप्रविश्य तल्लीनम् ।
सरला दुराशयानामुपघातं फलत एव विन्दन्ति ॥७०५॥

दुष्ट अभिप्राय वाले जनों की वाणी को, जो व्यवहार में घुस कर उसी में घुल-मिल कर एकाकार हो जाती है, सरल प्रकृति के लोग विनाश के परिणाम या फल को भुगत कर जान पाते हैं ॥७०५॥

परसंतापविनोदो यत्राहनि न प्रयाति निष्पत्तिम् ।
अंतर्मना असाधुर्न गणयति तदायुषो मध्ये ॥७०६॥

जिस दिन दूसरे को सन्ताप देने का विनोद पूरा नहीं हो जाता उस दिन को खिन्न असाधु पुरुष अपने जीवन की आयु के बीच गणना नहीं करता (अकृतकार्य हो जाने के कारण वह सोचता नहीं कि उस दिन भी वह जीवित रहा है) ॥७०६॥

दिवसांस्तानभिनन्दति बहु मनुते तेषु जन्मनो लाभम् ।
ये यान्ति दुष्टबुद्धेः परोपतापाभियोगेन ॥७०७॥

उन दिनों का बहुत स्वागत करता है और अपने जन्म लाभ का बहुमान करता है, जो उस दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष के दूसरे को कष्ट पहुँचाने के कार्य में पूर्ण अभिनिवेश के साथ यापित होते हैं ॥७०७॥

विकसितवदनः पिशुनः प्रोत्फुल्लविलोचनो यथा भ्रमति ।
मन्ये तथा न जातः सदहितकरणश्रमो वन्ध्यः ॥७०८॥

खिला मुख मंडल वाला खल पुरुष आंखें हर्षोत्फुल्ल करके जो घूमता है

उससे जान पड़ता है कि सज्जनों के अहित करने का उसका प्रयत्न असफल नहीं हुआ है ॥७०८॥

शठमृगयुः कुसृतिशरैरज्ञातप्रतिविधीन्साधुमृगान् ।
अभ्यस्तलक्ष्यवेधो निघ्नन्नपरिश्रमं व्रजति ॥७०९॥

जिसका निशाना सध गया है ऐसा शठ पुरुष रुपी बहेलिया तिरस्कार के बाणों से उन साधु जन रुपी मृगों को, जिनमें प्रतिक्रिया की भावना बिलकुल नहीं, मारता हुआ नहीं थकता ॥७०९॥

अनुकूलवरपुरंध्रिषु पुरुषाणां बद्धमूलरागाणाम् ।
नयति मनो दुःशीलः कुसुमास्त्रो हीनपात्रेषु ॥७१०॥

अनुकूल और श्रेष्ठ नारियों में जिन पुरुषों का राग बद्धमूल है ऐसे पुरुषों के मन को दुःशील कामदेव हीन पात्रों से पहुँचा देता है ॥७१०॥

सावरणं व्रजतोऽन्यां कौतुकदृष्ट्या प्रसङ्गतो दयिताम् ।
बुद्ध्वापि विदग्धधियो वर्तन्ते नाट्यधर्मेण ॥७११॥

लुक-छिप कर कौतुक के लिए प्रसंगतः पराई के पास जाते हुए प्रिय जनों को जान कर भी चालाक स्त्रियां नाटकीय व्यवहार करने लगती हैं ॥७११॥

सत्यं प्रेमणि वृद्धे व्यथयति हृदयं मनागपि स्खलितम् ।
अवधूतनिजमाहात्म्यास्तथापि धीरा न मुह्यंति ॥७१२॥

यह ठीक है कि प्रेम के अधिक हो जाने पर थोड़ा भी विचलन हृदय को कष्ट पहुंचाने लगता है तब भी अपनी महत्ता पर अवलम्बित रहने वाले धीर जन विमोह नहीं प्राप्त करते ॥७१२॥

स्वच्छन्दं पिबतु रसं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा वनानि कुसुमेषु ।
अनुभूतगुणविशेषः पुनरेष्यति मालतीं मधुपः ॥७१३॥

भौंरा स्वच्छन्द होकर नाना वनों में घूमता हुआ फूलों का रसपान करे फिर तो गुण की विशेषता का अनुभव करके मालती के पास आयेगा ही ॥७१३॥

मालत्या गुणवत्तां नो सम्यग्वेत्ति मधुकरस्तावत् ।
अनुभवमेति न यावत् सुमनोन्तरसङ्गमास्वादे ॥७१४॥

भौंरा तब तक मालती के गुणों की बात को सम्यक् प्रकार से नहीं

जानता जब तक दूसरे फूल के संगम का आस्वाद अनुभव नहीं कर लेता ॥७१४॥

कोमलमानकदर्थो भजमानो भजति दीप्ततामधिकाम् ।
सञ्चाल्यमानदारुः पावक इव सुप्रभस्नेहः ॥७१५॥

अग्नि जिस प्रकार काष्ठ के संचालन करने से अधिकतर दीप्तता लाभ करता है सुप्रभ स्नेह उसी प्रकार लघु मान को उपभोग करके और भी उद्दीप्त हो उठता है ॥७१५॥

यः पुनरतिकोपानलसन्तापवशेन दूरमाकृष्टः ।
काचमणिः खलु स यथा परिणामे खण्डखण्डमुपयाति ॥७१६॥

जिस प्रकार काचमणि देर तक अग्नि में सन्तप्त होने के फलस्वरुप खण्ड-खण्ड हो जाता है उसी प्रकार स्नेह कोपजनित सन्ताप के कारण अन्त में छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥७१६॥

वेतनलाभाद्बहवः सेव्यन्ते सौष्ठवेन पंचजनाः ।
विश्राम्यति यत्र मनः स तु दुष्प्रापः सहस्रेषु ॥७१७॥

पारिश्रमिक पाने के लिए बहुत पुरुषों की वेश्याएं पूर्ण रूप से सेवा करती हैं लेकिन जहाँ मन को विश्राम मिलता है वह हजारों में कठिनाई से मिल पाता है ॥७१७॥

मन्वादिमुनिवरैरपि कालत्रयवेदिभिः सुदुर्ज्ञेयम् ।
तत्सुकृतं यस्य फलं रभसागतवल्लभाश्लेषः ॥७१८॥

वह पुण्य, जिसका फल खुश होकर आई प्रियतमा का आलिङ्गन है, भूत, भविष्य और वर्तमान को जानने वाले मनु आदि श्रेष्ठ मुनियों द्वारा भी कठिनता से जाना जा सकता है ॥७१८॥

यातेऽपि नयनमार्गे प्रेयसि यस्याः स्मृतिर्व्यलीकेषु ।
मन्ये तां प्रति नियतं कुण्ठितशरपंचको मदनः ॥७१९॥

प्रियतम के दिख जाने पर भी जिस स्त्री को उसके अपराधों की याद बनी रहती है, मैं मानती हूं कि निश्चय ही उसके प्रति कामदेव के पांचों बाण कुण्ठित हैं ॥७१९॥

जीव्यत एव कथंचिद्धिग्वृत्तिमिमां महद्भिरवगीताम् ।
विजहाति यन्न गणिका तद्वांछितरमणलाभलोभेन ॥७२०॥

जिस किसी प्रकार जीना पड़ेगा ही, ऐसी स्थिति में गणिका श्रेष्ठ जनों से निन्दित इस कुत्सित वृत्ति को जो नहीं परित्याग करती उसका कारण उसे अभिलषित कामुक के लाभ का लोभ है ॥७२०॥

कण्टकिनः कटुकरसान्करीर खदिरादिविटपतरुगुल्मान् ।
उपभुंजाना करभी दैवादाप्नोति मधुरमधुजालम् ॥७२१॥

ऊंटनी कांटेदार एवं कड़वे रस वाले करीर, बैर आदि वृक्ष और गुल्मों को चबाती हुई भाग्य से मीठे मधु के छत्ते को भी पा लेती है ॥७२१॥

का स्त्री न प्रणयिवशा का विलसितयो मनोभवविहीनाः ।
को धर्मो निरुपशमः किं सौख्यं वल्लभेन रहितानाम् ॥७२२॥

प्रेमी के वश में न रहने वाली स्त्री कोई स्त्री है ? काम भावना से रहित विलास कोई विलास है ? शमभाव से रहित धर्म कोई धर्म है ? और प्रिय से दूर रहने वालियों को कोई आनन्द है ? ॥७२२॥

स्वाच्छन्द्यफलं बाल्यं तारुण्यं रुचिरसुरतभोगफलम् ।
स्थविरत्वमुपशमफलं परहितसम्पादनं च जन्मफलम् ॥७२३॥

बचपन का फल स्वच्छन्दता है, सुन्दर सुरत यौवन का फल है शान्ति बुढ़ापे का फल है और दूसरे का भला करना जन्म का फल है' ॥७२३॥

अभिदधतोमिदमालीमवगम्य गृहीतयेव भूतेन ।
यौवनसुखेन सार्धं मयैव यूयं परिच्छिन्नाः ॥७२४॥

यह कहती हुई सखी की बात सुन कर पिशाच से ग्रस्त की भाँति मैंने ही यौवनसुख के साथ तुम्हें भी विच्छेद कर डाला ॥७२४॥

अधुनानुतापपावकमध्यगता पच्यमानसर्वाङ्गी ।
निष्फलजन्मप्राप्तिर्जीवाम्युच्छ्वासमात्रेण ॥७२५॥

इस समय पश्चात्ताप की आग में पड़ गई हूँ, मेरे अंग-अंग पक रहे हैं, मेरा जन्म लेना निष्फल हो रहा है, मैं उच्छ्वास मात्र से जीवित हूँ ॥७२५॥

स्थानेषु येषु युष्मत्संगतया क्रीडितं चिरं धृत्या ।
तानि खलु वीक्षमाणा भवामि कण्ठस्थितप्राणा ॥७२६॥

जिन स्थानों में तुम्हारे साथ धैर्यपूर्वक देर तक खेली थी उन्हें देखती हूँ तो मेरे प्राण कंठ तक आ जाते हैं ॥७२६॥

अन्यवशेन विसंज्ञा कृतभूषा यंत्रसूत्रसंचारा ।
दारुमयीव प्रतिमा विदधामि विडम्बना बह्वीः ॥७२७॥

दूसरे द्वारा सजाई-बनाई गई, यंत्र-सूत्र के अनुसार संचार करने वाली अचेतन कठपुतली की भाँति बहुत-बहुत विडम्बनाएँ करती हूँ ॥७२७॥

यदि नामोदरभरणप्राप्त्यै कुरुतेऽन्यपुष्पसंश्लेषम् ।
तदपि न पुष्टिर्भृंग्या अपिबन्त्या अरविन्दमकरन्दम् ॥७२८॥

यद्यपि भौंरी पेट भरने के निमित्त दूसरे फूलों का आलिङ्गन करती है तथापि जब तक वह कमल के रस का पान नहीं करती तब तक उसे तृप्ति नहीं होती ॥७२८॥

आस्तामपरो लोकः क्रीडापेक्षी परापदि प्रीतः ।
व्यसनान्तरे पतन्ती न वारिता परिजनेनास्मि ॥७२९॥

क्रीड़ा की अपेक्षा रखने वाले, दूसरों के कष्ट से प्रसन्न होने वाले आदमी की बात जाने दीजिए, यहाँ तो अपने किसी परिजन ने भी दु;ख के समुद्र में गिरती मुझे नहीं निवारण किया ॥७२९॥

किं वा बहुभिः कथितैः सम्प्रति हि मयापि नियमिता बुद्धिः ।
स्थास्यामि संनियुक्ता भवद्गृहे प्रेष्यभावेन ॥७३०॥

बहुत कहने से क्या ? अब मैंने भी अपनी बुद्धि रोक ली है ! आपके घर में नियुक्त होकर दासी के रूप में रहूँगी' ॥७३०॥

इति नेत्रादिविकारैर्वशमुपनीतं प्रलीनधैर्याङ्गम् ।
मारग्रहाभिभूतं परिमृष्टप्राङ्निराकृतिस्मरणम् ॥७३१॥

हे सुभ्रु, इस प्रकार वह जब तुम्हारे नेत्रों के विकारों से वश में आ जायगा, उसकी धीरता जाती रहेगी, काम के ग्रह से अभिभूत हो जायगा, अपने पहले के निष्कासन की घटना की याद मिट जायगी ॥७३१॥

प्रादुर्भूतरिरंसे क्षणे क्षणे जघनदेशगतदृष्टिम् ।
पक्वाम्रमिव विमोक्ष्यसि पूर्ववदाचूष्य निःशेषम् ॥७३२॥

उसकी रमणेच्छा पुनः उत्पन्न हो उठेगी, क्षण-क्षण में तेरे जघन की ओर दृष्टिपात करेगा, तब पहले की भाँति पके आम की तरह उसे पूर्ण रुप से चूस कर छोड़ देना ॥७३२॥

स्वशरीरामिषदिग्धं वक्रस्मितदृष्टिपातवाग्बडिशम् ।
प्रक्षिप्याकृष्य जडं स्फुरणेन विवर्जितं सुपरिपुष्टम् ॥७३३॥

टेढ़ी मुस्कान, टेढ़ी निगाह और टेढ़ी बात के बंसी (मछली फंसाने वाली) को फेंक कर अपने ही शरीर के मांस से युक्त, विवेकहीन, फड़फड़ाहट से रहित, मोटे ताजे (कामुक रुपी) मत्स्य को खींच कर ॥७३३॥

हस्तद्वयान्तरागतमुपचारय परिव्ययेन संस्कृत्य ।
भुक्त्वा यावन्मांसं त्यक्ष्यसि चर्मास्थिशेषितं मत्स्यम् ॥७३४॥

हाथों में आए हुए उसे मिर्च-मसाला से तल कर मांस के पूरे अंश को खाकर चमड़ी और हड्डी को शेष करके छोड़ देना ॥७३४॥

शृणु सुश्रोणि यथास्मिन्कमलेश्वरपादमूलमंजर्या ।
प्रवराचार्यदुहित्रा राजसुतश्चर्वितश्च मुक्तश्च ॥७३५॥

हे सुन्दर मध्यभाग वाली, सुन, जैसा कि यहाँ (वाराणसी में) प्रवराचार्य की लड़की और कमलेश्वर पाद स्वामी से पैदा हुई मञ्जरी ने राजपुत्र को चबा करके छोड़ दिया ॥७३५॥

आसीच्छ्रीसिंहभटो नाम्ना नृपतिर्महीयसां श्रेष्ठः ।
तस्यात्मजोऽधितस्थौ निवेशनं देवराष्ट्रसम्बद्धम् ॥७३६॥

मञ्जरी का आख्यान

'बड़े राजाओं में श्रेष्ठ श्री सिंह भट नाम का राजा था, उसका पुत्र (समरभट) देवराष्ट्र (प्राचीन महाराष्ट्र) के अन्तर्गत निवास करता था ॥७३६॥

स कदाचिद्वृषभध्वजदिदृक्षया परिमितात्पपरिवारः ।
अनुवर्तमान आगात्तारुण्योदीर्णवेशचरितानि ॥७३७॥

यौवन के उचित वेष और आचरण का अनुवर्तन करता हुआ वह किसी

समय काशी विश्वनाथ के दर्शन की इच्छा से थोड़े से परिजनों के साथ यहाँ आया ।।७३७।।

मूर्धत्रिभागसंस्थितवृहदम्बरचीरकेशसंयमनः ।
अल्पाच्छगात्ररागो घनकुंकुमलिप्तकर्णकेशाग्रः ।।७३८।।

वह अपने माथे पर तीन भागों में कटावदार बंधी हुई पगड़ी धारण किए था। उसके शरीर की लाली हल्की और अच्छी थी। उसने कान के समीप केश के अग्रभाग को गाढ़े कुंकुम राग से रंग लिया था ।।७३८।।

सिद्धार्थबीजदन्तुरललाटतिलकोपयुक्तताम्बूलः ।
श्रवणनिवेशितकुण्डलटिट्टिभकप्रायकन्धराभरणः ।।७३९।।

उसके ललाट पर सफेद सरसों चिपके हुए थे जो तिलक का काम देते थे। वह पान खाए था। उसके कानों में कुण्डल और गले में, 'टिट्टिभक' नाम का अलंकार था ।।७३९।।

केयूरस्थानगत सुवर्णभृतमन्त्रगर्भजतुगुडकः ।
मणिबन्धनविन्यस्तप्रबलांकुरजातरूप मणिमालः ।।७४०।।

केयूर के स्थान में उसने सोने के पत्र से यंत्र डाल कर मढ़े लाह की गुटिका पहन रखी थी और हाथ की कलाइयों में चकमक करती हुई सोने की माला डाल रखी थी ।।७४०।।

धृतवेत्रदण्डकूर्चकपरिवेष्टितसासिधेनु खड्गश्च ।
मृदुतरपटिकावरणः शब्दोल्वणलुच्चुवाकचरणत्रः ।।७४१।।

उसके हाथ में बेंत का माथेदार डंडा था, कटि बंध में छुरी और तलवार थी। शरीर का वस्त्र बड़ा हल्का था और जूते जोर से चरमराने की आवाज करते थे ।।७४१।।

गम्भीरेश्वरदास्यां लग्नः किल तव वयस्यको धीर ।
प्राप्स्यति सापि दुराशा वर्षत्रितयेन यन्मया प्राप्तम् ।।७४२।।

सेवा निपुण परिजन मार्ग से भीड़ हटा रहे थे। वहाँ विट और चेटियाँ भरी थीं। उनके बीच से जाते हुए समरभट ने उनकी ये बातें सुनी—

(किसी गणिका की विट के प्रति उक्ति) 'तेरा साथी वीर गम्भीरेश्वर

दासी[1] में आसक्त है, दुराशा वह भी तीन वर्षों में जो मैंने पाया है वही पायेगी' ॥७४२॥

दर्शयति दिशः फलिता अमृतगभस्तिं करेऽवतारयति ।
सुरदेवि चन्द्रवर्मा निर्वस्तुकवाक्प्रपंचेन ॥७४३॥

(किसी विट की वाचालता के सम्बन्ध में गणिका की उक्ति) 'सुरदेवि, चन्द्रवर्मा नाम का विट अपनी व्यर्थ के वाक्प्रपंच से दिशाओं को लाभों से भरी बनाता है और अमृत की किरणों वाले चन्द्र को हाथ में उतारता है' ।।७४३।।

त्वामनुयान्तं सम्प्रति पश्यामि कुरंगिकेऽत्र वसुशेषम् ।
सुनिरूपिता भविष्यसि विषमा गुड़जिह्विका तस्य ॥७४४॥

(किसी गणिका की विट का अनुगमन करती हुई किसी गणिका के प्रति उक्ति) 'कुरङ्गि, इन दिनों तुझे वसुषेण के पीछे चलती देख रही हूँ। बाद में उसकी मिठासभरी टेढ़ी जीभ का तुझे पता चलेगा ।।७४४।।

चर्चयति जलं योऽसौ हरिणि हतो धूर्तताभिमानेन ।
लिखति शतं दशवृद्धया स निमज्जति तरलिकावर्ते ॥७४५॥

(गणिका के फेर में पड़े वञ्चक के सम्बन्ध में सखी के प्रति गणिका की उक्ति) 'हरिणि, अपने धूर्त होने के अभिमान से जो यह प्रत्येक को ठगता रहता है—एक सौ कर्ज दे कर (अपने खाते में) उसका दसगुना करके दर्ज करता है, वह अब (मायाविनी) तरलिका के चपेट में पड़ गया है' ।।७४५।।

गृह्णासि यत्पटान्ते मम पश्यत एव नन्द मदिराक्षीम् ।
अत आवयोरवश्यं मा वक्ष्यसि नोक्तमंतरं भवति ॥७४६॥

(कोई विट अपने साथी की असावधानी को लेकर उसका तिरस्कार

१—काशी स्थित गम्भीरेश्वर के मन्दिर की देवदासी। सम्भवतः यह मन्दिर आज भी काशी में सिंधिया घाट के ऊपर विद्यमान है। प्राचीनकाल में देवमन्दिरों में नृत्य-गाने के लिए युवति स्त्रियाँ वेतन पर नियुक्त की जाती थीं और 'देवदासी' कहलाती थीं। यह प्रथा आगे चलकर एक सामाजिक कुत्सा बन जाने के कारण बन्द कर दी गई। दक्षिण के मन्दिरों में कुछ अंश में यह प्रथा अब भी प्रचलित है।

करता है) 'मूर्ख, मेरे देखते ही जो तू मदिराक्षी का आंचल खींचता है तो हम दोनों को न कहना। हृदय (का भाव) कहा नहीं जाता ॥७४६॥

योऽयं गृहीतवृषिकः कुशकर्णो विधृतदण्डकाषायः।
लोकस्पर्शाशंकी कृतापसारो विलोकयन्पार्श्वौ ॥७४७॥

(कोई गणिका किसी साधु के आचारों से उसके बनावटी होने का अनुमान करके अपने मनोरथ की सिद्धि का निर्धारण करते हुए कहती है) हे कुमुदिनि, यह जो बगल में आसन लिए, कानों में कुश लगाए, दण्ड और काषाय वस्त्र धारण किए, लोगों के छू जाने के डर से उन्हें हटाता, बगल में इधर-उधर देखता ॥७४७॥

कुर्वाणो मौनव्रतमुत्पादितसकलवैष्णवश्रद्धः।
हरिशासनं प्रपन्नस्त्रिपुरान्तकदर्शनापदेशेन ॥७४८॥

मौन व्रत धारण करता, विष्णुभक्तों के मन में श्रद्धा की भावना उत्पन्न करता, (नारद पञ्चरात्र आदि) वैष्णव शास्त्रों की शरण में प्रपन्न, शिवजी के दर्शन के बहाने ॥७४८॥

स्त्रैणं पश्यति युक्त्या साकांक्षं वर्जितान्यजनदृष्टिः।
कुमुदिनि मम हृदयगतं भवितव्यं व्याजलिंगिनानेन ॥७४९॥

युक्ति से दूसरे लोगों की आँखें बचा कर औरतों को हसरत भरी निगाह से देखता है, इस हेतु मेरा हृदय कहता है यह ढोंगी साधु होगा' ॥७४९॥

पश्यत्यदृश्यमानो निरीक्षितो वीक्षते परां ककुभम्।
ब्रूते किंचित्सस्पृहमभियुक्तो भवति कीलितध्वानः ॥७५०॥

(वेश्या द्वारा जड़ कामुक का वर्णन) 'इस तरह (हमें) देखता है कि जब उसे कोई (देखते) न देख ले। लोगों की आंखें जब उस पर रहती हैं तब वह अन्य दिशा को देखने लगता है, कुछ भी सस्पृह होकर बोलता है और पूछने पर उसकी आवाज रुंध जाती है ॥७५०॥

न जहाति समासन्नं नोत्सहते पार्श्वगोचरे स्थातुम्।
एष मनुष्यो मन्ये निष्प्रतिभः साभिलाषश्च ॥७५१॥

नजदीक स्थान छोड़ता नहीं और पास में खड़े होने का साहस नहीं करता, मुझे लगता है यह आदमी बोदा और चाहने वाला है' ॥७५१॥

तेऽतीताः खलु दिवसा क्रियते नर्म त्वया समं येषु ।
अधुनाचार्याणी त्वं पाशुपताचार्यसम्बन्धात् ॥७५२॥

(कोई अपनी गणिका द्वारा धनवान् प्रेमी के मिल जाने के बाद उपेक्षित हुआ उसके प्रति ईर्ष्या-वश कहता है) 'वे दिन अब नहीं रहे जब तेरे साथ हंसी-मजाक करते थे। अब तो पाशुपताचार्य की सङ्गति से तू भी 'आचारिन' बन गई है' ॥७५२॥

भ्रमसि यथेष्टं तावत्कुर्वाणो युवतिपल्लवग्रहणम् ।
लोलिकदास न यावन्नरदेवीपाशिकां विशसि ॥७५३॥

(शठ सेवक के प्रति गणिका की उक्ति) 'लोलिकदास, जब तक नरदेवी के पाश में नहीं फँस जाता तब तक जवान औरतों का पल्ला पकड़ते हुए अपने मन से तू घूमता रहता है' ॥७५३॥

एवंप्रकारवाक्यप्रसक्तविटचेटिकासमाकीर्णम् ।
सेवाचतुरपुरःसरं विजनीकृतवर्त्मदेवकुलम् ॥७५४॥

(सेवा निपुण परिजनों द्वारा आगे-आगे मार्ग में भीड़ हटाये जाने पर विटों और चेटिकाओं से भरे मन्दिर की ओर जाते हुए उसने इस प्रकार उन लोगों की बातचीत सुनी) ॥७५४॥

उत्पादितहरपूजो निष्ठुरयाष्टीकनियमिते लोके ।
त्वरितनियोगिस्थापितमासनमध्यास्त समरभटः ॥७५५॥

विश्वनाथ जी की पूजा करके, कड़े दिल वाले लठैतों द्वारा लोगों के रोक दिए जाने पर समरभट भृत्यों द्वारा शीघ्र ही रखे हुए आसन पर बैठ गया ॥६५५॥

अग्रोपविष्टनर्तकवांशिकगातृप्रकाशयुवतिगणः ।
श्रेष्ठिप्रमुखवणिग्जनढौकिततताम्बूलकुमुदपटवासः ॥७५६॥

उसके आगे नाचने वालों, वंशी बजाने वालों, गाने वालों तथा बेपर्दा औरतों (प्रकाशयुवतियों, वेश्याओं) का समूह बैठा। फिर सेठों और महाजनों ने उसे पान, फूल और पटवास (हल्दी और चावल का सुगन्धित चूर्ण) उपहार में अर्पित किया ॥७५६॥

विविधविलेपनखरटितचक्रकवरखड्गधारिणाशून्यः ।
पृष्ठत आत्तकृपाणैः शिरोभिरक्षैश्च विश्वस्तैः ॥७५७॥

उसके पास नाना प्रकार की चित्रकारी किए चक्रक धारी (चक्राकार ढाल धारण करने वाले) और तलवारधारी पुरुष विद्यमान थे। पीछे की ओर कृपाण लिए विश्वस्त अंगरक्षक खड़े थे ॥७५७॥

ताम्बूलकरंकभृता सन्दंशगृहीतवीटिकाग्रहणे ।
ईषत्स्पृष्टं कुर्वन्मन्दं खटकामुखेन वामेन ॥७५८॥

जब ताम्बूलकरङ्कवाहक पुरुष ने संदश के प्रकार से पान के बीड़े को पकड़ा तब उसने उसने अपने बायें हाथ के खटकामुख के प्रकार से थोड़ा स्पर्श करते हुए ताम्बूल ग्रहण किया[1] ॥७५८॥

पार्श्वावस्थितनर्मप्रियसचिवन्यस्तपूर्वतनुभागः ।
पप्रच्छ कुशलवार्तां स वणिग्जननर्तकप्रभृतीन् ॥७५९॥

उसने अपने बगल में बैठे परिहास-प्रेमी मित्र की ओर शरीर का ऊपरी अर्ध भाग झुका लिया और बनिये तथा नर्तक प्रभृति से कुशल-समाचार पूछने लगा ॥७५९॥

अथ वैतालिक उच्चैरुपसंहृतलोककलकले धीरम् ।
अभितुष्टाव तमित्थं प्रसन्नगम्भीरया वाचा ॥७६०॥

अनन्तर वैतालिक[2] ने, जब लोगों का कोलाहल खत्म हो गया तब उसे

१—हाथ से किसी वस्तु को पकड़ने की नृत्यकालीन मुद्राओं में 'संदश' और 'खटकामुख' का उल्लेख अभिनयशास्त्र के ग्रंथों में आता है। प्रस्तुत में ताम्बूल-करंक वाहक पुरुष ने 'संदश' हस्त से ताम्बूल अर्पित किया और 'खटकामुख' हस्त से राजा ने उसे ग्रहण किया। वंग टीकाकार ने इसके विपरीत अर्थ किया है, जो यथावस्थित आर्या में संगत नहीं बैठता। 'संदश' हस्त (अर्थात् संड़सीनुमा हाथ की मुद्रा) जब तर्जनी और अङ्गुष्ठ के अग्रभाग का संयोग होता है तब नीचे वाला और बीच वाला हिस्सा टेढ़ा नहीं होता ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'संदशहस्त' कहलाती है। खटकामुख—जब तर्जनी और मध्यमा का योग किसी वस्तु को पकड़ने के लिए होता है और उसमें अनामिका का योग होता है ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'खटकामुख कहलाती है।

२—वैतालिक—स्तुतिपाठक, स्तावक पुरुष। जो समय समय पर राजाओं का गुण-गान करते हैं। उनका लक्षण शारदातनय लिखते हैं—

तत्तत्प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः ।
सरभसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति ॥ (भावप्रकाश)

बिल्कुल साफ, गम्भीर तथा ऊँची आवाज में धीर स्वभाव वाले उस राजपुत्र की इस प्रकार स्तुति की ।।७६०।।

जय देव परबलान्तक गुरुचरणाराधनैक कृतचित्त ।
वरवनिताजघनासन दारिद्र्यतमःप्रचण्डकर ज्वाल ।।७६१।।

देव आपकी जय हो, आप शत्रु सेना को नष्ट कर देने वाले हैं, गुरुजनों की सेवा में आपका चित्त लगा रहता है, श्रेष्ठ वनिताजन को आप मोहित करने वाले हैं, दारिद्र्यरुपी अन्धकार के निवारण करने वाले आप सूर्य हैं ।।७६१।।

रणवीरवंशभूषण गुरुवसुधादेवपूजनप्रह्व ।
शरणागताभयप्रद हितबान्धवबन्धुजीवमध्याह्न ।।७६२।।

रणवीर नायक अपने कुलपुरुष के वंश के आप भूषण हैं, गुरुजनों और ब्राह्मणों की पूजा में नम्रभाव के युक्त हैं, शरण में आए जनों के आप अभय प्रदान करने वाले हैं, हितजनों, बन्धु-बान्धवों और बन्धुजीव पुष्पों के आप मध्याह्न और पोषणकर्ता हैं ।।७६२।।

ईदृक्प्रतापदहनो भावत्को व्याप्तगगनदिक्चक्रः ।
दृष्टो जलायमानो रिपुवनितातिलकशोभासु ।।७६३।।

उस प्रकार आकाश और दिक्चक्रवाल में व्याप्त आपकी प्रतापाग्नि शत्रु-वनिताओं के तिलक की शोभा में जल हो जाती है (क्योंकि जल के द्वारा ही शत्रु वनिताएँ अपने पति के मारे जाने पर अपने माथे के तिलक धो देती हैं) ।।७६३।।

एष विशेषः स्पष्टो वह्नेश्च त्वत्प्रतापवह्नेश्च ।
अंकुरति तेन दग्धं दग्धस्यानेन नोद्भवो भूयः ।।७६४।।

अग्नि और तुम्हारी प्रतापाग्नि इन दोनों में यह स्पष्ट भेद दिखाई देता है कि अग्नि से जला हुआ फिर अंकुरित हो जाता है और तुम्हारी प्रतापाग्नि से जले हुए का उद्भव फिर नहीं होता ।।७६४।।

श्रीफलभुक्पत्रवृतो विग्रहरसिको विमुक्तशस्त्ररतिः ।
राजस्थिति न मुंचति हृतलक्ष्मीकोऽपि तव विपक्षगणः ।।७६५।।

तुम्हारे शत्रु राज्यलक्ष्मी के हर लिए जाने पर भी श्री के फल का भोग

करते हैं (श्लेष—वन में जाकर श्रीफल अर्थात् बिल्वफल का भोजन करते हैं), पत्र अर्थात् वाहनों से घिरे रहते हैं (श्लेष—पत्र अर्थात् पत्तों से अपने शरीर को ढके रहते हैं), विग्रह अर्थात् युद्ध के रसिक हैं (श्लेष—विग्रह अर्थात् शरीर के रसिक हैं, शरीर को निरन्तर श्रम से दृढ़ बनाते हैं), शस्त्र का अनुराग छोड़ बैठे हैं (अब शस्त्र उनके लिए व्यर्थ हैं) इस प्रकार अब वे राज्य की मर्यादा नहीं छोड़ रहे हैं ।।७६५।।

ददतो वांछितमर्थं सदानुरक्तस्य तव गृहं त्यक्त्वा ।
स्त्रीचापलेन कीर्तिर्नग्नासक्ता गता ककुभः ।।७६६।।

जबकि तुम मनचाही चीजें देते हो और अनुराम करते हो तब भी स्त्री जाति की स्वाभाविक चपलता के कारण कीर्ति नग्न (नंगे, श्लेष से बंदी जन) पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चली गई[1] ।।७६६।।

भवतो भवतो धैर्यं तेन हि भिन्नोऽन्धको रिपुः प्रणतः ।
मुक्तास्त्वया हि बहवो रिपवस्तु प्रेक्षकाः समरे ।।७६७।।

आपका धैर्य शिवजी से भी अधिक है, क्योंकि उन्होंने नम्रीभूत अन्धकासुर को मारा और आपने युद्ध में देखने वाले बहुत से शत्रुओं को भी मुक्त (मुक्ति को प्राप्त) कर दिया ।।७६७।।

अटता धात्रीमखिलामिदमाश्चर्यं मया परं दृष्टम् ।
धनदोऽपि नयननन्दन परिहरसि यदुग्रसम्पर्कम् ।।७६८।।

मैंने सारी धरती पर भ्रमण करते हुए एक आश्चर्य देखा कि हे आंखों को आनन्द देने वाले, तुम 'धनद' (कुबेर) होकर भी 'उग्र' (शिवजी) का सम्पर्क त्याग करते हो (परिहार यह कि धन देने वाले होकर भी उग्र या अभिमानी जनों का सम्पर्क त्याग करते हो) ।।७६८।।

इदमपरमद्भुतमं युवतिसहस्त्रैर्विलुप्यमानस्य ।
वृद्धिर्भवति न हानिर्यत्तव सौभाग्यकोषस्य ।।७६९।।

दूसरा परम आश्चर्य यह है कि हजारों युवतियाँ तुम्हारे सौभाग्य के खजाने को लूटा करती हैं तथापि उसकी वृद्धि ही होती है हानि नहीं ।।७६९।।

१—कीर्ति का नंगे दरिद्र पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चला जाना व्याजस्तुति है, अर्थात् तुम्हारी कीर्ति को बंदीजन या स्तुति-पाठ करने वाले लोग दिग्दिगन्त में जा-जाकर प्रसारित करते हैं ।

अपरं विस्मयजननं धवलत्वं नापयाति यद्भवतः ।
ललनालोचनकुवलयदलत्विषा शवलितस्यापि ॥७७०॥

आश्चर्य यह भी होता है कि ललनाओं के कुवलय दलों की कान्ति से मिश्रित होने पर भी आपकी धवलिमा (सफेदी) नहीं जाती ॥७७०॥

हृदयेषु कामिनीनामेकोऽनेकेषु वससि येन त्वम् ।
जनक कुसुमास्त्रपाणेः पुरुषोत्तम तेन विश्वरूपोऽसि ॥७७१॥

जिस कारण एक होकर भी अनेक कामिनियों के हृदयों में रहते हो उसी कारण हे पुरुषोत्तम, फूल के बाण धारण करने वाले कामदेव को उत्पन्न करने वाले तुम विश्वरूप (नारायण) हो[1] ॥७७१॥

किं वहसि वृथा गर्वं प्रियोऽहमिति योषितां नराधीश ।
कांक्षन्ति स्म मुरारिं षोड़शगोपीसहस्राणि ॥७७२॥

हे नराधीश, स्त्रियों का मैं प्रिय हूँ यह व्यर्थ गर्व धारण करते हो, मुर के शत्रु श्रीकृष्ण को सोलह हजार गोपियाँ चाहती थीं ॥७७२॥

कार्पण्येन ययाचे मखसमये यो बलिं हृषीकेशः ।
न स भवति समो भवता दानैकनिषणहृदयेन ॥७७३॥

जिस हृषीकेश अर्थात् विष्णु ने दीन भाव प्रकट करके यज्ञकाल में राजा बलि से याचना की, वह एक मात्र दान करने में जिसका हृदय स्थिर है ऐसे आपके समान नहीं हैं ॥७७३॥

भूमिभृतामुपरिस्थित उन्नतये सकलजीवलोकस्य ।
तृष्णासंतापहरो मेघ इव कदा न दक्षस्त्वम् ॥७७४॥

समस्त जीवलोक की उन्नति के लिये भूमिभृत् अर्थात् राजाओं (श्लेष से

१—कामदेव के उत्पन्न करने वाले, नारायण, पक्ष में जनक या पिता और राजपुत्र के पक्ष में कामोद्दीपक। अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्रद्युम्न के जनक एवं सबके हृद्देश में रहने के कारण 'विश्वरूप' कहे जाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । गीता

अथवा समस्त गोपियों के हृदय में समान रूप से निवास करते हैं। यह राजपुत्र पुरुषों में उत्तम है और कामिनियों के मदन को उद्दीपित करने वाला है एवं समस्त कामिनियों के मन में अधिकार कर लेने के कारण 'विश्व रूप' कहा गया।

पर्वतों) के ऊपर स्थित रहने वाले, सन्ताप को शमन करने वाले एवं वर्षण करने में निपुण आप मेह के समान देखे जाते हैं ॥७७४॥

बहुमार्गो भङ्गयुतः कुसृतिपरो गोत्रभेदकरणपटुः ।
गंगाजल प्रवाहः पूज्यदिशा केवलं तव समानः ॥७७५॥

पुण्य के कारण ही गङ्गाजल का प्रवाह तुम्हारे समान है, क्योंकि तुम बहुमार्ग (बहुत प्रकार के मार्ग या व्यवहार-रीतियों वाले) हो और वह अनेक मार्गों से चलता है, तुम भद्रयुत (सुवर्ण से युक्त) हो और वह भद्र अर्थात् कल्याण से युक्त है, तुम कुसृतिपर हो अर्थात् धोखा धड़ी करने वाले कुटिल लोगों के प्रति शठता की नीति अपनाते हो और वह टेढ़े-मेढ़े मार्ग में प्रवाहित है, तुम गोत्रभेद अर्थात् अपने को कुछ अन्य कुलों से विशिष्ट करने में निपुण हो और वह गोत्रभेद अर्थात् पर्वतों को भेदन के कार्य में समर्थ है ॥७७५॥

दुर्व्यंवहारोत्पत्तिमैग्ध्यप्रसरो येन विवेकितावसतिः ।
एकस्त्वं दोषज्ञः कृतीकृतो येन कलिकालः ॥७७६॥

दोषों को जान कर उनके निवारण करने वाले अकेले आपने कलिकाल को, जिसमें दुर्व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, मूढ़ता से जो भरा रहता है और जो अविवेक वाला है, कृतयुग (सत्ययुग) बना दिया है जिसमें दुःख से (राजस) व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, जिसमें निष्कपट भाव होता है और जो विवेक से युक्त होता है ॥७७६॥

सुगतोऽपि नाजिविमुखो वृषध्वजोऽपि न विषादितायुक्तः ।
उद्यतशस्त्रोऽपि रिपौ कथमसि सन्नासिको जातः ॥७७७॥

आप कैसे सुगत (बुद्ध) होकर भी युद्ध से विमुख नहीं हैं और वृषध्वज (शिव) होकर भी कैसे विषादिता (विषभक्षण की प्रवृत्ति) से युक्त नहीं हैं, शत्रु के प्रति उद्यतशस्त्र होकर भी कैसे सन्नासिक (रुके हुए असि अर्थात् कृपाण वाले) हैं ? ॥७७७॥

सन्मणिरनेकभोगो गुरुभारसहः स्थिरात्मतास्थानम् ।
नरदेव चित्रमेतद्यदशेषगुणैस्त्वमाश्लिष्टः ॥७७८॥

हे नरदेव, सन्मणि (सज्जनों में श्रेष्ठ ; फणों पर मणि धारण करने वाले) अनेक भोग (बहुविध सुख भोगने वाले ; हजार फनों वाले) गुरुभारसह

(पृथ्वी के पालन या धारण रुप कार्य करने वाले) धैर्य (या स्थैर्य) के पात्र तुम, आश्चर्य तो यह होता है कि इस प्रकार शेष अर्थात् सर्पराज के गुणों से युक्त होकर भी अशेष गुणों से युक्त हो (अर्थात् शेष या सर्पराज के गुण तुममें नहीं हैं, परिहार यह कि सारे गुण तुममें विद्यमान हैं) ।।७७८।।

प्रकृतिलघोर्येन कृता जघन्यवर्णस्य गौरवापत्तिः ।
जघनचपला यदार्या स पिङ्गलस्ते कथं तुल्यः ।।७७९।।

छन्दःशास्त्र के रचयिता वह पिङ्गलाचार्य कैसे तुम्हारे सदृश हैं ? जिन्होंने प्रकृतिलघु (स्वभाव से ही छोटे, हीन जाति वाले) जघन्य (अन्तिम, निन्द्य) वर्ण (अक्षर, ब्राह्मण आदि वर्णों में शूद्र) को गौरव (गुरुता, उत्कर्ष) प्राप्त कराया है तथा जघन-चपला (इस नाम का एक आर्या छन्द, व्यभिचारिणी स्त्री, जो अपने जघन से चपल है) को जो आर्या (छन्द, सच्चरित्रा नारी) माना है ।।७७९।।

यस्य न जातिर्नात्मा नार्थज्ञानं न मानसे प्रशमः ।
भवसि भवसागररत्नं तेनाद्वयवादिना सदृशः ।।७८०।।

किसकी तुम जाति या बान्धव नही हो ? किसकी आत्मा (अर्थात् अपने आदमी) नहीं हो ? धन के लिए किसके तुम ज्ञान के विषय नहीं ? और शांतिमान तुम किसके हृदय में निवास नहीं करते हो ? इस प्रकार तुम संसार के सारभूत रत्न होकर अद्वयवादी अर्थात् विज्ञानाभेद (विज्ञान के अतिरिक्त सबको मिथ्या) कहने वाले बुद्ध के द्वारा उपमेय नहीं हो ।।७८०।।

तत्रापि वृद्धियोगस्तस्मिन्नपि पुरुषगुणगणख्यातिः ।
परिभाषा तत्रापि व्याकरणान्नातिरिच्यसे तेन ।।७८१।।

उस व्याकरणशास्त्र में भी वृद्धि का योग है, वहाँ भी पुरुष के गुणगणों की ख्याति है, परिभाषा वहाँ भी है, इस लिए तुम व्याकरण शास्त्र से अतिरिक्त नहीं हो ।।७८१।।

निर्व्याजस्तवनोऽपि त्यक्ताक्षेपोऽपि निरुपमानोऽपि ।
सद्रूपकजतिगुणैर्नाथ त्वं गामलंकुरुषे ।।७८२।।

व्याजपूर्ण स्तुति से रहित होकर भी आक्षेप (अर्थात् मिथ्यानिन्दा) को

छोड़ कर भी, उपमान शून्य होकर भी हे नाथ तुम अपने सद्रूपक (अर्थात् शोभन रूप) और जाति के गुणों से पृथ्वी को अलंकृत करते हो [1] ॥७८२॥

अन्यैव वर्णनैषा भवत्सु लोकान्तरास्थिता कापि ।
वामो यथैव शत्रुषु मित्रेषु तथैव वामोऽसि ॥७८३॥

यह तुम्हारा गुण वर्णन कुछ और ही लोकोत्तर है जैसा कि तुम जिस प्रकार शत्रुओं के सम्बन्ध में वाम (प्रतिकूल) हो उसी प्रकार मित्रों के सम्बन्ध में वाम (सुन्दर) हो ॥७८३॥

पूजयसि येन गुरुजनमभिनन्दसि येन साधुचरितानि ।
प्रीणयसि येन विप्रान्नृपनन्दन तेन तेन वृषलस्त्वम् ॥७८४॥

जिस कारण अपने गुरुजन की सेवा करते हो, जिस कारण सत्कार्यों का अभिनन्दन करते हो और जिस कारण ब्राह्मणों को प्रसन्न करते हो, हे नृप-नन्दन, उस कारण वृषभ (धर्म अथवा श्रेष्ठ) हो ॥७८४॥

दैन्यमिदं यच्छ्लाघा क्रियते ते रक्षसापि न समस्य ।
न सबलमकरोद्योषिति भवांस्तु भुंक्ते प्रसह्यरिपुलक्ष्मीम् ॥७८५॥

यह दयनीयता की बात है कि तुम जो कि राक्षस के भी समान नहीं हो, फिर भी तुम्हारी प्रशंसा की जा रही है, क्योंकि उस राक्षस ने नारी सीता पर अपना बलाचरण नहीं किया और तुम शत्रु की लक्ष्मी का हठपूर्वक उपभोग करते हो ॥७८५॥

लावणिकाचाटुवचस्तवनं यल्लाभहेतुरस्माकम् ।
तत्पतति ते स्वरूपे यामि नमः संतु सौख्यानि ॥७८६॥

हे रमणीय चाटुपूर्ण वचनों द्वारा स्तुति करना जोकि हम लोगों के लिए प्राप्ति या लाभ का हेतु होता है वह तो तुम्हारे स्वरूप के साथ संगत हो जाता है, अतः जाता हूँ, तुम्हें प्रणाम, तुम्हारे सुख हों' ॥७८६॥

१—यहाँ श्लेष के प्रकार से कवि ने व्याजस्तुति, आक्षेप, रूपक आदि अलङ्कारों का उल्लेख किया है।

श्रुत्वानन्तरमवदद्बन्दिनमभिनंद्य साधुवादेन ।
आस्त्व किमाकुलता ते यास्यसि तुष्टो मया प्रहितः ॥७८७॥

तब सुन कर उसने वैतालिक को 'साधु' 'साधु' कह कर अभिनन्दन किया और कहा—ठहरो, इतनी तुम्हें हड़बड़ी क्या है ? मेरे द्वारा सन्तुष्ट करके भेजे जाने पर जाना ॥७८७॥

पुनरपि पठ तद्युगलं गीतिकयोर्यत्पुरा पठितम् ।
कक्षांतरितेन मम स्थितस्य कुलपुत्रिकावासे ॥७८८॥

जब मैं कुल पुत्रिकावास में कक्ष के भीतर बैठा था उस समय जिन दो गीतिकाओं को तुमने पढ़ा था उन्हें फिर पढ़ दो ॥७८८॥

त्वयि वदति साधुवादं वागियमुन्मुद्रिता बुधसमाजे ।
अभिधायेति पपाठ त्रिस्त्राथनविशुद्धनादेन ॥७८९॥

'तुम्हारे द्वारा साधुवाद किए जाने पर मेरी यह वाणी बिलकुल उल्लसित हो उठी है' यह कह कर उसने उर, कण्ठ और सिर के स्थान से विशुद्ध आवाज में पाठ किया ॥७८९॥

एका खण्डनकुपिता विरसान्या प्रणयभंगवैलक्ष्यात् ।
काचिन्निकटवरासनमप्राप्य बिभर्ति निर्वेदम् ॥७९०॥

'एक सुन्दरी अपने तिरस्कार (खण्डन) से कुपित हो गई है, दूसरी प्रणय के भङ्ग हो जाने के कारण लज्जा से रुष्ट है, कोई बिलकुल अपने समीप आसन न पाकर खेद अनुभव करती है ॥७९०॥

अन्या कलहान्तरिता नवपरिणयलज्जयापरा सहिता ।
रमणीगणमध्यगतः स्मरातुरः किं करोतु बहुजानिः ॥७९१॥

कोई पति को अपमानित करके पीछे पछता रही है, कोई नई शादी से लजाई हुई है, रमणियों के बीच पड़ा बहुत पत्नियों वाला कामातुर क्या करे' ! ॥७९१॥

अभ्युपत्त्यवबोधकमस्तकचलनं विधाय विकृतभ्रूः ।
नृत्याचार्यमवादीदेतस्मिन्किं सुसंगीतम् ॥७९२॥

अनुग्रह का सूचक शिरश्चालन कर, भौं उठाकर वह नृत्याचार्य से बोला, 'अब क्या संगीत होगा' ! ॥७९२॥

स उवाच ततो वणिजो नेतारो यत्र यत्र पात्राणि।
शाठ्यातनं दास्यस्तत्र कुतः सौष्ठवं नाट्ये ॥७६३॥

तब उसने कहा, 'जहाँ बनिये नेता हों, जहां शठता के निवास-स्थान दासियां पात्र हों वहां नाट्य में कहां से अच्छाई होगी ? ॥७६३॥

काचिद्बलिनाक्रान्ता काचिन्न जहाति कामिनं रुचिरम्।
अन्या पानकगोष्ठ्यां नयति दिनं प्रीतकैः सार्धम् ॥७६४॥

किसी पर बलशाली पुरुष सवार है, कोई मनभाये कामुक को नहीं छोड़ती तो कोई प्रेमियों के साथ पान-गोष्ठी में दिन बिताती है ॥७६४॥

नोत्सृजति सततमेका पुरुषागमनाशया गृहद्वारम्।
शूलापालः कथयति लब्धोत्कोचो रजस्वलामपराम् ॥७६५॥

कोई हमेशा पुरुष के आने की आशा से घर का दरवाजा नहीं छोड़ती। वेश्याध्यक्ष[1] घूस पाकर दूसरी को रजस्वला कह देता है ॥७६५॥

रंगगतापि क्षुद्रा शृणोति यदि परिचितं गृहायातम्।
उद्दिश्य चापि कार्यं व्रजति ततः प्रकृतमुत्सृज्य ॥७६६॥

रङ्गभूमि में पहुँची हुई भी क्षुद्रा वेश्या जब यह सुनती है कि उसके घर कोई परिचित आदमी पहुँचा है तब कार्य का उद्देश्य करके प्रस्तुत कार्य छोड़ कर चल देती है ॥७६६॥

आतारुण्योद्भेदात्कान्ते दृष्टिर्यया न्यस्ता।
सामाजिकमध्यस्था सा कथमन्यासु याति परभागम ॥७६७॥

जिसने यौवन के खिलते ही अपने सुन्दर प्रिय में आँखें डाली हैं वह सामाजिकों के बीच आई कैसे अधिक शोभा को प्राप्त करेगी ? ॥७६७॥

१—वेश्याध्यक्ष—यह एक वेश-जीवन का प्रधान कर्मचारी होता था जो वेश्यां के नृत्य आदि के सम्बन्ध की पूरी तैयारी करता था। कुट्टनीमत के ६८ वें श्लोक में इसे ही 'शूलापाल' कहा है—

शूलापालस्थापितकतिपयबद्धोरुपीठिकासीनः

चेतोवशिता सत्त्वं सत्त्वे सति चारुता प्रयोगस्य।
न भवति सा वेश्यानामल्पापि पुरुषहतहृदयानाम् ॥७९८॥

मन के बिना सत्त्वबल नहीं होता, सत्त्व के होने पर अभिनय की चारुता होती है, और वह अभिनय की चारुता शराब, मांस और पुरुष में दिल लगाने वाली वेश्याओं को नहीं होती ॥७९८॥

वयमपि देवनिकेतनमनङ्गहर्षे गते त्रिदशलोकम्।
आश्रितवंतोऽगत्या तीर्थस्थानानुरोधेन ॥७९९॥

हम लोग भी महाराज अनङ्गहर्ष[1] के स्वर्ग सिधारने पर इसके तीर्थस्थान होने के कारण और दूसरी राह न होने से यहाँ बस गये हैं ॥७९९॥

इह तु कदाचित्किंचिद्वृत्तिनिरोधाभिशंकया निरुत्साहाः।
रत्नावल्यामेता विदधति करपादविक्षेपम् ॥८००॥

यहाँ कभी-कभी तो निरुत्साह ये वेश्यायें कुछ जीविका के खत्म हो जाने के डर से 'रत्नावली' (हर्षदेव रचित नाटिका) के अभिनय में हाथ-पैर का विक्षेप कर देती हैं ॥८००॥

वत्सेशभूमिकास्या इयमनुकुरुते नरेश्वरवयस्यम्।
वासवदत्ताचरितप्रयोगमेषा विडम्बयति ॥८०१॥

वत्सराज की भूमिका इसकी होती है, यह उसके नर्मसचिव का अनुकरण करती है, यह वासवदत्ता के चरित्र का अभिनय करती है ॥८०१॥

उद्यमसाहित्यवशाच्छोभातिशयेन मदनुबन्धेन।
अनया प्रसिद्धिराप्ता सिंहलराजात्मजानुकृतौ ॥८०२॥

शोभा के उत्कर्ष के सहित उद्यम के समन्वय के कारण एवं मेरी प्रेरणा

यहाँ का प्रसंग है कि शूलापाल या वेश्याध्यक्ष गणिका से घूस (उत्कोच) पाकर उसे अभिनय के लिए बुलाने वालोंसे कह देता था कि वह तो अभी रजस्वला है, कैसे जा सकती है ?

१—अनङ्गहर्ष—यह 'रत्नावली' के रचयिता महाराज हर्षदेव का उपनाम है। विद्वद्गोष्ठी में उनकी ख्याति इसी उपनाम से थी। संस्कृत के अन्य कवियों के भी उनके किसी विलक्षण चमत्कारी वर्णन के कारण उपनाम चल पड़ते थे।

से इसने सिंहल राजपुत्री (रत्नावली) के अभिनय में प्रसिद्धि पाई है ॥८०२॥

विविधस्थानकरचनां परिक्रमं गात्रचलनलालित्यम् ।
काकुविभक्तार्थगिरो रसपुष्टिं वासनास्थैर्यम् ॥८०३॥

मञ्जरी के नाना प्रकार की स्थानक[1] रचना के लिए परिक्रम, अङ्गों को मोड़ लेने के लालित्य, कण्ठस्वर की भिन्नताओं (काकु) के द्वारा वाणी के भिन्न अर्थ के प्रकाशन, रस की पुष्टि, वासना की स्थिरता ॥८०३॥

सात्त्विकभावोन्मीलनमभिनयमनुरूपवर्तनाभरणम् ।
मिश्रामिश्रे वाद्ये लयाच्युतिं वर्णयंति मंजर्याः ॥८०४॥

सात्त्विक भावों के उन्मीलन, अभिनय, भूमिका के अनुरूप वर्तन अर्थात् नेपथ्य रचना और आभूषण धारण मिश्र-अमिश्र वाद्य या (पाठ भेद के अनुसार) नाट्य[2] में लयच्युति (अर्थात् लय का द्रुत होना) की लोग सराहना करते हैं ॥८०४॥

एषाभिधानकीर्तनगुणितस्वशरीरकुसुमशररोषा ।
सहसोद्भिन्नमनोभवभावदशा सिंदुवारविवरेण ॥८०५॥

(रत्नावली की भूमिका में) उदयन का नाम लेते ही जिसके अपने शरीर पर कामदेव का रोष बढ़ गया है जिसकी कामजनित विकार की अवस्था सहसा उद्भिन्न हो उठी है ऐसी इस मञ्जरी ने सिन्धुवार वृक्ष के विवर से ॥८०५॥

१—स्थानक—नृत्याभिनय के समय चार प्रकार का पदक्षेप होता है—मण्डल, उत्प्लवन, भ्रमरी और चारी । 'मण्डल' के स्थानक, आयत, आलीढ़, प्रत्यलीढ़, प्रेङ्खन, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची और पार्श्वसूची इत्यादि भेद हैं। स्थानक का लक्षण—

कटिंस्पृष्ट्वाऽर्धचंद्राख्यपाणिभ्यां समपादतः ।
समरेखतया तिष्ठेत् तत् स्यात् स्थानकमण्डलम् ॥

स्थानक के और भी ६ भेद हैं—समपाद, एकपाद, नागबन्ध, ऐन्द्र, गरुड़ और ब्रह्म (अभिनय दर्पण) ।

२—वह नाट्य या रूपक जो नृत्य, गीत आदि से समन्वित हो मिश्रनाट्य है, जैसे विक्रमोर्वशीय, रत्नावली इत्यादि । जिसमें नृत्य-गीतादि का समन्वय न हो वह अमिश्रनाट्य है जैसे मालती-माधव, मुद्राराक्षस इत्यादि ।

पश्यंती वत्सेश्वरमनुकार्यानुकरणभेदपरिमोषम् ।
साधुध्वनिमुखराननसामाजिकजनमनःसु विदधाति ॥८०६॥

वत्सराज की भूमिका वाले व्यक्ति को 'साधु' 'साधु' की आवाज से मुखर मुख वाले सामाजिक लोगों के मनों में अनुकार्य और अनुकरण का भेद मिटा दिया है[1] ॥८०६॥

वत्सपतिमालिखंती कामावस्थां क्रमेण भजमाना ।
वेपथुपुलकस्वेदैरावहति विसंष्ठुलं हस्तम् ॥८०७॥

वत्सराज का चित्र खींचती हुई क्रम से कामदशा को प्राप्त करती हुई इस मञ्जरी का हाथ कम्प, रोमाञ्च तथा पसीने के कारण बिलकुल बेकाम हो जाता है ॥८०७॥

सदृशेऽप्यनुभावगणे करुणरसं विप्रलम्भतो भिन्नम् ।
दर्शयति निरभिकांक्षितमुद्वन्धनगोचरापन्ना ॥८०८॥

दृष्टिपथ में आई यह अनुभाव समूह के समान होने पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार से भिन्न करुणरस को संयोगसुख की आशा से रहित करके प्रदर्शित करती है[2] ॥८०८॥

तस्मिन्निदर्शंतीत्थं मंजरिकां साभिलाषमवलोक्य ।
पस्पर्श राजपुत्रः किमसाविति वेत्रदण्डेन ॥८०९॥

इस प्रकार नृत्याचार्य मञ्जरी का गुण वर्णन कर ही रहा था कि राजपुत्र

१—अभिनेता की सबसे बड़ी सफलता यह मानी जाती है कि वह दर्शकों के मनमें अनुकार्य और अनुकरण का भेद अपने नैपुण्य से मिटा दे। उन्हें यह नभान हो कि दुष्यन्त का अभिनय किसी व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है और वे अभिनय देख रहे हैं, बल्कि उनके मन में यह भाव हो कि वह एक मात्र दुष्यन्त को ही देख रहे हैं। यह अभिनय की सर्वोच्च भूमि मानी जाती है।

२—करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुभाव प्रायः एक ही होते हैं। केवल पहले में जो शोक स्थायी भाव होता है वह दूसरे में संचारी भाव हो जाता है। दोनों की सबसे मुख्य भेदक बात यह है कि करुण में प्रिय-मिलन की आशा नहीं होती और विप्रलम्भ में होती है।

ने मञ्जरी को उत्कण्ठा से देखकर 'क्या यह है' (यह कहते हुए) उसे वेत्र वेत्रदंड से स्पर्श किया ॥८०९॥

बुद्ध्वाथ तस्य भावं प्रसारयन्युवतिसंकथाकेलिम् ।
न्यक्कुर्वंन्वारबधूः सचिवः प्रशशंस बन्धकीगमनम् ॥८१०॥

राजपुत्र के मनोभाव को ताड़ कर, युवतियों के सम्बन्ध में वातचीत की केलि फैलाते हुए मंत्री ने वेश्याओं की निन्दा करते हुए कुलटा (बन्धकी) स्त्री के गमन की प्रशंसा की ॥८१०॥

दाररतिः संततये व्याधिप्रशमाय चेटिकाश्लेषः ।
तत्खलु सुरतं सुरतं कृच्छ्रप्राप्यं यदन्यनारीषु ॥८११॥

अपनी स्त्री में अनुराग सन्तान के लिए किया जाता है और दासी का आलिङ्गन व्याधि के शमन के लिए करते हैं लेकिन वही सुरत सुरत है जो परकीय नारियों में बड़े कष्ट से मिल पाता है ॥८११॥

स्वव्यापारैकमतेः परचिन्ता नास्ति मे कदाचिदपि ।
पश्यन्त्यास्त्वामीदृशमद्य तु मे मानसं व्यथितम् ॥८१२॥

(यह कह कर उसने परकीय नारी के प्रति दूती के वचन का उदाहरण दिया)

'मैं अपने काम-काज में लगी रहती हूँ, कभी भी दूसरे की चिन्ता मुझे नहीं होती। आज तुझे ऐसा देखते ही मेरा मन व्यथित हो उठा ॥८१३॥

यदि वेद्मि तस्य वसतिं सामर्थ्यं यदि भवेत्ततोऽप्यधिकम् ।
तद्गत्वा दग्धविधिं लगुडैः संचूर्णयिष्यामि ॥८१३॥

अगर उसका घर जानती और अगर उससे भी आधिक सामर्थ्य वाली होती तो उस जले विधाता को अभी जाकर लाठियों से चूर कर देती ॥८१३॥

वपुरिदमनुपममीदृग्यदि विहितं तव कृशांगि हतधात्रा ।
अनुरूपरमणविरहात्किमिति कृतं वन्ध्यजन्मफलम् ॥८१४॥

उसने इस प्रकार तेरा अनुपम शरीर बनाया है तब अनुपम प्रिय से न मिला कर क्यों उसने तेरे जन्म को निष्फल बना दिया है ? ॥८१४॥

शैशवमस्तु जरा वा व्याधिर्बाह्येन्द्रियप्रणाशो वा ।
स्वाकारं तारुण्यं न तु कुपतिकदर्थनाग्रस्तम् ॥८१५॥

लड़कपन हो या बुढ़ापा हो या व्याधि हो या किसी रोग से मृत्यु हो लेकिन शोभन आकार से युक्त यौवन कुरूप पति की पीड़ा से ग्रस्त न हो ॥८१५॥

केलिः प्रदहति मज्जां शृंगारोऽस्थीनि चाटवः प्राणान् ।
न करोति मनस्तुष्टिं दानमभव्यस्य गृहभर्तुः ॥८१६॥

कुरूप पति के साथ क्रीड़ा देह के मांस को, उसका शृङ्गार हड्डियों को, उसके चाटुवचन प्राणों को झुलसाने लगते हैं, उसके कुछ देने से भी मन को सन्तोष नहीं होता ॥८१६॥

कुत आगतासि कस्मिन्वेलामियतीं स्थिता किमर्थमिति ।
पृच्छन्नस्वस्थमना जनयति गेही शिरःशूलम् ॥८१७॥

कहाँ से आ रही है ? इतनी देर तक कहाँ रही ? क्यों रही ? इस तरह अस्वस्थ करके पूछता हुआ घर वाला सिर दर्द पैदा कर देता है ॥८१७॥

यदि भवति दैवयोगाच्चक्षुर्विषये समुज्ज्वलस्तरुणः ।
तत्रात्मानं क्षपयति जायां च रटन्गृहस्वामी ॥८१८॥

यदि दैवयोग से कोई सुन्दर जवान आंखों के सामने आ गया तो घरवाला पत्नी को कोसते-कोसते अपने को पीड़ित करता है ॥८१८॥

सविवादे परलोके जनापवादे च जगति बहुवादे ।
दैवाधीने प्रलये न विदग्धा हारयंति तारुण्यम् ॥८१९॥

परलोक के सम्बन्ध में तो बड़ा विवाद है, संसार में बहुत लोग बहुत तरह की बातें करते हैं, प्रणय दैव के अधीन होता है, ऐसी स्थिति में चतुर स्त्रियाँ अपनी जवानी व्यर्थ नहीं नष्ट करतीं ॥८१९॥

दुर्भर्तृकरास्फालनमलिनीक्रियमाणशोभमनुदिवसम् ।
तुङ्गमपि पतितकल्पं स्तनशालिनि तव पयोधरद्वंद्वम् ॥८२०॥

हे स्तनों वाली, कुरूप पति के हाथ के आमर्दन से प्रतिदिन जिनकी शोभा

मलिन की जा रही है ऐसे उन्नत भी स्तन गिरे-जैसे ही हैं ॥८२०॥

पर्यङ्कः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम् ।
तुलयंति न लक्षांशं त्वरितक्षणचौर्यसुरतस्य ॥८२१॥

सुन्दर बिछावन वाला पलंग अनुकूल पति और मनोहर निवास-गृह जल्दी से क्षण भर के चौर्य सुरत के लाखवें हिस्से की बराबरी नहीं कर सकते ॥८२१॥

सहसा संकटवर्त्मन्यवितर्कितसंमुखागतेनापि ।
अभिलषितेनोद्वृष्टकमनल्पशुभकर्मणा लभ्यम् ॥८२२॥

संकरे मार्ग में सहसा बिना पहले सोचे-विचारे सामने आ पहुँचे प्रिय के द्वारा टक्कर अनल्प पुण्य हों तभी प्राप्त है ॥८२२॥

प्रीतिः किल निरतिशया स्वर्गः परलोकचिन्तकैर्गदितः ।
तस्यास्तु जन्मलाभो हृदयेप्सितपुरुषसंयोगात् ॥८२३॥

परलोक के चिन्तक पुरुषों ने निरतिशय प्रीति को स्वर्ग कहा है और वह प्रीति मन चाहे पुरुष के संयोग से होती है ॥८२३॥

अतटस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।
ते शोकक्लेशरुजां केवलमुपयांति पात्रतां मन्दाः ॥८२४॥

अस्थिर (या तट पर स्थित न रहने वाले) मीठे फल के ग्रहण के लिए उद्योग का जिन्हें निश्चय होता है वे मन्द पुरुष केवल शोक, क्लेश और रोगों के पात्र बनते हैं ॥८२४॥

किं प्रतिकूला ग्रहगतिरुत परिणतमन्यजन्मदुश्चरितम् ।
स्वानुष्ठानाभ्यसनं किं वा तस्यात्मयोनिहतकस्य ॥८२५॥

क्या ग्रहों की गति ही प्रतिकूल है या अपना पाप ही अब पक चुका है किंवा उस मुये विधाता का अपना घटना चक्र है ॥८२५॥

येन तपस्वी स युवा स्तौति समीरं त्वदंगसंस्पृष्टम् ।
त्वत्पादान्तक्रान्तभुवे स्पृहयति ककुभं त्वदाश्रितां नमति ॥८२६॥

जिससे बेचारा वह युवक तेरे अङ्गों के सम्पर्क वाले समीर को स्पर्श करता

है, तेरे चरण जहाँ चल रहे हों उस धरती की च्छा करता है और तेरे द्वारा सेवित दिशा को नमन करता है ॥८२६॥

ध्यायति युष्मद्रूपं त्वन्नामकवर्णमालिकां जपति ।
एकाग्रीकृतचेतास्त्वदङ्गतः सौख्यसिद्धिमभिकांक्षन ॥८२७॥

तेरे रूप का ध्यान करता है, तेरे नाम के अक्षरों की माला जपता है। उसने अपने चित्त को त्वन्मय कर दिया हैं, तेरे अंग से सौख्य की सिद्धि चाहता हुआ ॥८२७॥

उत्सृष्टसर्वं कार्यस्तिर्यग्ग्रीवंविलोकयन्भवतीम् ।
कुरुते ग्रहाग्ररथ्यां यातायातैः शतावर्ताम् ॥८२८॥

सारा काम-काज 'छोड़ कर तुझे गर्दन टेढ़ी करके देखता हुआ घर के सामने वाली गली में सैकड़ों चक्कर लगाया करता है' ॥८२८॥

दृष्टोऽसि तया सुचिरं गेहाभ्याशे परिभ्रमन्स्पृहया
संदेश एष दत्तः प्राभृतमेतत्तव प्रहितम् ॥८२९॥

(दूती का कामुक के प्रति वचन)

'घर के नजदीक घूमते हुए तुझको उसने हसरत से देर तक देखा है उसने यह संदेश और उपहार दिया है ॥८२९॥

शुष्यति सालभमाना भवत्कृते वेश्मनिर्गमावसरम् ।
इति चतुरशठस्त्रीभिर्विलुप्यते त्वदपदेशेन ॥८३०॥

तुम्हारे लिए घर से निकल जाने का मार्ग न पाकर वह सूखती जा रही है—इस प्रकार हे चतुर, धूर्त स्त्रियाँ तुम्हारे निमित्त करके उसका शील हरण करती हैं ॥८३०॥

किं वा कथितैरधिकैरस्थानाविष्टचेतसस्तस्याः ।
अनुतिष्ठ यथायुक्तं त्वत्तो नाशश्च जीवरक्षा च ॥८३१॥

अधिक कहने से क्या ? जो कि उसने ग़लत जगह में अपना चित्त लगाया है तो जैसा उचित हो वही करो, क्योंकि तुमसे उसका नाश और जीवरक्षा दोनों सम्भव है' ॥८३१॥

कुलपतनं जनगर्हां नरकगति प्राणितव्यसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति तत्क्षणमबला परपुरुषमभियांती ॥८३२॥

पर पुरुष का अभिसरण करती हुई अबला तत्क्षण कुलपतन, लोगों की निन्दा, नरक की गति, जीने में सन्देह अङ्गीकार कर लेती है ॥८३२॥

स तु लिखति दासपत्रं त्यजति कुटुम्बं ददाति सर्वस्वम् ।
यावन्न भवति पुरतः परयुवतिः प्रोज्झितावरणा ॥७३३॥

परकीया में आसक्त कामुक नौकरी का स्वीकृति-पत्र लिखा देता है[1], परिवार को छोड़ देता है, अपना सब कुछ लुटा देता है तब तक जब तक कि पराई युवति आवरण छोड़ कर उसके सामने नहीं हो जाती ॥८३३॥

दृष्टं यद्द्रष्टव्यं व्यपयात कौतुकं विदितमन्तः ।
इति याति मनसि कृत्वा विहितविधेयस्ततस्तूर्णम् ॥८३४॥

जो देखना था देख लिया, कौतुक चला गया, अन्दरूनी जान ली, ऐसा मन में करके कृतकृत्य होकर वह शीघ्र चला जाता है ॥८३४॥

सापि छिन्नाछोटनगृहीतमुक्ता विलोकयन्त्याशाः ।
विशति गृहं संत्रस्ता सर्वत आशंकिता सवैलक्ष्यम् ॥८३५॥

वह पुंश्चली चुटकी बजाती, दिशाओं को निहारती, डरी-डरी सब ओर से आशंकित होकर लज्जा के साथ घर में प्रवेश करती हैं ॥८३५॥

नवचारित्रभ्रंशा सुरचितकुलटोदितेषु नो निपुणा ।
पृष्टा क्व गतासि त्वं न क्वचिदिति सम्भ्रमाद्ब्रूते ॥८३६॥

जिसका शील अभी-अभी का भंग हुआ है, जो कुलटा की कही बातों के अनुसार चलने में निपुण नहीं है ऐसी स्त्री 'तू कहां गई थी' यह पूछे जाने पर हड़बड़ी में कह पड़ती है 'कहीं नहीं' ॥८३६॥

१—दासपत्रं लिखति—नौकरी करना स्वीकार कर लेता है। प्राचीनकाल में किसी के यहाँ नौकरी करने के लिए नियमानुसार दास-पत्र लिखने की प्रथा थी। बहुत प्रकार के प्राचीन दास पत्र मिले हैं।

एते दोषा बहवः पुरुषा अपि चपलकौतुकाः प्रायः ।
त्वं च ग्रहेण लग्ना कार्यविमूढात्र तिष्ठामि ॥८३७॥

चंचल और कुतूहल-भरे पुरुष अपराध थोड़ा होने पर भी कुपित हो जाते हैं, तू ने तो हठ पकड़ लिया है और मैं यह कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ' ॥८३७॥

इति दोलायितहृदया स्थिरीकृताभ्यस्तकर्मणा दूत्या ।
दृष्टेति शङ्कमाना पदे पदे चलति पर्णेऽपि ॥८३८॥

जो अपने कार्य में अभ्यस्त है ऐसी दूती द्वारा इस प्रकार की बात से चलने के लिए स्थिर कर दी गई, दोलारूढ़ हृदय वाली वह पत्ते के भी खटकने पर 'मैं देख ली गई' यह शंका पद-पद पर करने लगती है ॥८३८॥

सर्वत्र विक्षिपन्ती मुहुर्मुहुश्चकिततरलिते नेत्रे ।
प्राप्ता संकेतभुवं शतगुणितमनोरथाकृष्टा ॥८३९॥

बार बार अपने चकित तरलित नेत्रों को दिशाओं में फैलाती हुई, सौगुने मनोरथों से खिंची वह संकेत स्थल तक पहुँचती है ॥८३९॥

भयशृंगारव्रीडामिश्रीभुतानुभावसन्दोहम् ।
जनयन्ती लोलांशुकदृष्टादृष्टांसकुचनाभिः ॥८४०॥

वह भय, शृङ्गार और लज्जा से मिले-जुले अनुभाव-समूह को प्रकट करती है, अंशुक वस्त्र के चंचल होने के कारण उसके कंधे, स्तन और नाभि कभी-कभी दिख जाते हैं ॥८४०॥

नीवीश्लथनारम्भं निरुन्धती न न न यामि यामीति ।
निभृतास्फुटाभिधानैः पल्लवयंती स्मरस्य कर्तव्यम् ॥८४१॥

नीवी-ग्रन्थि को शिथिल करने का कार्य वह रोकने लगती है, ''धूर्त, मैं जाती हूँ, चली जाती हूं, इस प्रकार के अत्यन्त अस्फुट वचनों से कामदेव के कर्त्तव्य को पल्लवित करती है ॥८४१॥

नयतीवान्तर्विलयं ग्रसमाना सर्वगात्राणि ।
यं श्लिष्यतेऽन्ययोषा तिक्तं तस्यामृतं पुरतः ॥८४२॥

मानों सारे अङ्गों को ग्रसती हुई कामुक को अपने भीतर जैसे विलीन कर

लेती है, जो कि परकीया का आलिङ्गन किया जाता है उसके सामने अमृत भी कड़वा है ॥८४२॥

न कृतं तव रहसि पुरो वा व्यावृतकण्ठकुण्ठया वाची ।
गेहस्वामितिरस्कृतिनिष्पादितदुःखवेगनिर्वहणम् ॥८४३॥

'एकान्त में तुम्हारे सामने बाष्प से रुंधे कंठ के कारण कुण्ठित वाणी से घर के स्वामी के द्वारा तिरस्कारों के कारण हुए अपने दुःखवेग की समाप्ति-पर्यन्त कहानी मैंने नहीं कही ॥८४३॥

उपधानीकृत्य भुजावन्योन्यं निर्विशंकमावाभ्याम् ।
संवलितोरु न सुप्तं शिथिलाङ्गं रतिविमर्दखिन्नाभ्याम् ॥८४४॥

भुजाओं को तकिया बनाकर शङ्कारहित भाव से रतिविमर्द से हम दोनों ने परस्पर में जांघ सटा कर शिथिलाङ्ग हो शयन नहीं किया ॥८४४॥

आत्मगृहादानीतं प्रच्छाद्य स्वादुभोजनं विजने ।
स्वकरेण मया दत्तं निर्वृतहृदयेन नाशितं भवता ॥८४५॥

अकेले में अपने घर से स्वादिष्ट भोजन छिपा कर ले आई और अपने हाथ से दिया भी तब भी बुझे दिल वाले तुमने उसे फेंक दिया ॥८४५॥

न कृता चरित्ररक्षा न च भुक्तं त्वच्छरीरमपर्यन्त्रम् ।
दृष्टादृष्टभ्रष्टा क्व यामि किं वा करोमि दुर्जाता ॥८४६॥

मैंने अपने शील की रक्षा नहीं की और न तुम्हारे शरीर को स्वेच्छापूर्वक उपभोग किया, दृष्ट और अदृष्ट दोनों ओर से भ्रष्ट दुर्जात मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? ॥८४६॥

अवगुण्ठनविनयरती स्वैरालापं च मन्दसंचारम् ।
सम्प्रति मम पापायाः करपिहितमुखा हसन्ति तत्त्वज्ञाः ॥८४७॥

मैं पापिन पर्दा करने और विनय-भाव में प्रेम करती हूँ, धीमी आवाज में बातें करती तथा धीमी चाल में चलती हूँ तब यथार्थ को जानने वाले लोग हाथ से मुँह ढक कर हँसते हैं ॥८४७॥

यासामासीत्सख्यं मया समं समवय:कुलस्त्रीणाम् ।
ता वारयंति मत्तः कुसङ्ग इति तन्नियन्तारः। ॥८४८॥

बराबर की अवस्था वाली जिन कुलाङ्गनाओं की मेरे साथ मैत्री थी उनके नियमन करने वाले लोग 'कुसंग' कह कर उन्हें मुझसे हटा लेते हैं ॥८४८॥

धिग्वादान्परिजनतः सहमाना मन्युरोधनतवदना ।
तिष्ठामि निरभिमाना निजनिर्मितदोषदौर्बल्यात् ॥८४९॥

अपने ही दोष से हुई कमजोरी के कारण परिजन से धिक्कार की बातें सहती हुई, कुछ भी उत्तर न दे पाती हुई झुके मुख वाली बिना अभिमान के पड़ी हूं ॥८४९॥

सद्भिर्विधीयमानं प्रसङ्गपतितं पतिव्रतास्तवनम् ।
हृदयेन दूयमाना मूढा सीदामि शृण्वन्ती ॥८५०॥

सत्पुरुषों द्वारा अवसर पर की गई पतिव्रता नारी की स्तुति सुनती हुई मूढ़ा मैं हृदय से पीड़ित होती हूँ ॥८५०॥

आसन्न उपविशन्तीं मन्दाक्षा मां निषेद्धुमसमर्थाः ।
अन्योन्यमीक्षमाणा ज्ञातिजनाः संकुचन्ति भुञ्जानाः ॥८५१॥

भोजन पर बैठे हुए बिरादरी के लोग पास में बैठती हुई मुझे उदारता के कारण मना करने में असमर्थ होते हुए परस्पर एक-दूसरे को ताकते हुए संकोच का अनुभव करते हैं ॥८५१॥

प्रकटीकृतास्त्वयैवं क्षणमात्रममुञ्चता गृहोपान्तम् ।
अस्मासु दृशं मग्नां प्रेमस्निग्धामनुद्धरता ॥८५२॥

मेरे घर के आस-पास के स्थान को क्षण भर भी न छोड़ते हुए और हम पर पड़ी प्रेम से स्निग्ध दृष्टि को न हटाते हुए तुमने ही मुझे जाहिर कर दिया ॥८५२॥

परगृहविनाशपिशुनाः सुभगं मन्याभिरूपकृतदर्पाः ।
कृकलासतुल्यरागा भवन्ति युष्मद्विधा एव ॥८५३॥

तुम्हारे सदृश ही लोग दूसरे का घर चौपट करने में परायण खल, अपने

को अभिमानपूर्वक सुभग एवं सत्कुलोत्पन्न मानने वाले, गिरगिट के समान राग (रंग, प्रेमभाव) बदलने वाले होते हैं ।।८५३।।

अनभीष्टव्यवहारप्रभवशुचा पोडिताक्षरा इत्थम् ।
सोपालम्भा विजने धन्याः शृण्वन्ति बन्धकीवाचः ।।८५४।।

इस प्रकार अनभीष्ट व्यवहार के कारण उत्पन्न क्रोध से पीड़ित अक्षरों वाली उपालम्भ भरी कुलटा स्त्रियों की बातें एकान्त में धन्य लोग ही सुन पाते हैं ।।८५४।।

परतरुणोसद्भावस्नेहार्पितनयनभागदृष्टस्य ।
वेश्यारचितविलासाः कथिताः पुरतः पुराणतृणतुल्याः ।।८५५।।

परकीया तरुणी के द्वारा सद्भाव और स्नेह से अर्पित लोचन के कोने से देखे गए पुरुष के सामने कहे हुए वेश्याओं के विलास पुराने घास-फूस के समान हैं ।।८५५।।

उपवनरचितमहोत्सव आराधितदेवताविशेषाणाम् ।
वचनमपि प्रेमार्द्रं स्वैरिण्याः श्रवणमेति पुण्यवताम् ।।८५६।।

जिन्होंने अपने देवताओं की आराधना की है उन्हें परकीया तरुणी रति-महोत्सव का आनन्द देती है, उस स्वैरिणी नारी का प्रेमार्द्र वचन भी पुण्यवानों के कान तक पहुँचता हैं ।।८५६।।

का गणना विषयवशे पुंसि वराके पराङ्गनास्पृहया ।
व्याजेन वोक्षमाणा ध्यानधियां स्पृशति संज्ञानम् ।।८५७।।

विषयों के वशीभूत बेचारे पुरुषों की गणना क्या ? उत्तम स्त्री किसी व्याज से दृष्टिपात करती हुई स्थिर ध्यान-भावना वाले मुनियों के भी सज्ज्ञान को छू लेती है ।।८५७।।

शिरसा रचितांजलयो दधति निदेशं त्रिविष्टपे गणिकाः ।
परदाररसाकृष्टस्तथापि भेजे शचीपतिरहल्याम् ।।८५८।।

स्वर्ग में गणिकाएँ सिर पर अंजलि बाँधे आज्ञा पालन करती रहती हैं

तथापि परकीया के प्रेम से आकृष्ट होकर शचीपति इन्द्र ने अहल्या को उपभोग किया ।।८५८।।

अप्सरसः किं न वशा वैदग्ध्यवतां च किं न धौरेयः ।
येन चकारासक्तिं गोविन्दो गोपदारेषु ।।८५९।।

क्या श्रीकृष्ण के वश में अप्सराएँ न थीं, क्या वे स्वयं विदग्ध जनों में श्रेष्ठ न थे कि उन्होंने गोपियों में आसक्ति की ।।८५९।।

त्रैलोक्यागता वेश्याः स्वाधीना यातुधाननाथस्य ।
तदपि जहार कलत्रं दशरथतनयस्य रामस्य ।।८६०।।

तीनों लोकों की वेश्याएँ राक्षसाधिपति रावण के अधीन थीं तथापि उसने दशरथनन्दन राम की पत्नी का अपहरण किया' ।।८६०।।

अथ मञ्जर्या जननी निजपक्ष समर्थने कृतोत्साहा ।
आक्षेप्तुमाचचक्षे नृपसुतसचिवाश्रितां वाचम् ।।८६१।।

तब अपने पक्ष के समर्थन में उत्साह करके मञ्जरी की माता ने राजपुत्र के मंत्री की बात के खण्डनार्थ कहा ।।८६१।।

घटयुवतिषु प्रगल्भो नागरिकादशनहृतपुंस्त्वः ।
ग्रामोषितोऽविदग्धो निन्दति गणिकां भवद्विधोऽवश्यम् ।।८६२।।

पनहारिनों में प्रगल्भता दिखाने वाला, नागरिका स्त्री को देखते ही अपने पुंस्त्व से स्खलित हो जाने वाला, गवाँर और अविदग्ध आप-जैसा आदमी गणिका की अवश्य निन्दा करेगा ।।८६२।।

नार्द्रयति मनः पुंसामवगाहितमीनकेतुशास्त्राणाम् ।
नखदशनक्षतहीनं जीवत्पतिबन्धकीसुरतम् ।।८६३।।

'जिन पुरुषों ने कामशास्त्र का अवगाहन किया है उनके मन को जीवित पति वाली कुलटा नारी का नखक्षत और दन्तक्षत से रहित सुरत नहीं पिघलाता है ।।८६३।।

स्थापय घटकं तावत्कुरु भूमितले तृणं समास्तरणम् ।
सुरतोपक्रम ईदृक् प्रायो ग्रामीणतरुणमिथुनानाम् ॥८६४॥

घड़े को तब तक रख दो और जमीन पर घास की बिछावन डाल दो इस प्रकार ग्रामीण युवक-युवतियों के सुरत का उपक्रम होता है ॥८६४॥

बहलोशीरविलिप्तः रुस्थितजूटककोणमल्लिकामाल्यः ।
पामरनार्या दृष्टः स्मरोऽहमिति मन्यते विटो ग्राम्यः ॥८६५॥

खाली खस के लेप लगाए, बालों में मल्लिका की माला लपेटे गाँव का रहने वाला विट जब गाँव की स्त्री को देखता है, तो अपने को मैं कामदेव हूँ मानने लग जाता है ॥८६५॥

गृहकर्मकृतायासप्रस्विन्नां सलिलकार्यनिर्याताम् ।
उपपतिरुपैति हर्षान्निशागमे पामरीं प्राप्य ॥८६६॥

घर के काम-काज में परिश्रान्त, पसीने से तर, पानी लेने के लिए निकली पामरी को जार के रात्रि के आरम्भ में पाकर प्रसन्न होता है ॥८६६॥

कूपक्षिप्तघटाया नार्यास्तत्काष्ठनिहितचरणायाः ।
वलितग्रीवं वीक्षितमुन्नयति मनो ग्रामवासिनां यूनाम् ॥८६७॥

कुयें में घड़ा डालकर, बीच वाले काठ पर पैर रखकर उस नारी के द्वारा गर्दन मोड़कर दृष्टि डालना ग्रामीण युवक के मन को उभार देता है ॥८६७॥

लग्नोऽसि यत्र गात्रे कथमपि दैवेनदेवयात्रायाम् ।
अद्यापि तन्न मुञ्चति पुलकोद्गमकण्टकं तस्याः ॥८६८॥

गाँव में ठाकुर जी की यात्रा के समय किसी प्रकार दैववश जिस अङ्ग में तुम छू गए हो उसके उस अङ्ग को आज भी रोमांच नहीं छोड़ता ॥८६८॥

उच्चेतुं कर्पासं प्रविष्टया गहनवाटिकां शून्याम् ।
टंकारितेन संज्ञा कता तया त्वं तु वेत्सि नो मूर्खः ॥८६९॥

कपास चुनने के लिए निर्जन वाटिका में गई उसने टन्-टन् की आवाज से इशारा किया फिर भी तुम ऐसे मूर्ख हो कि न समझ सके ॥८६९॥

आलिंगितमुसलायास्त्वय्येव निविष्टचक्षुषस्तस्याः ।
आवृत्त्या भ्रमति पुरो जातः खलु शालिकण्डने विघ्नः ॥८७०॥

मुसल को आलिंगन किए हुई उस स्त्री की आँखें सामने आस-पास चक्कर काटते धुये, तुमसे जो लगी रहीं उससे साठी के धान कूटने में विघ्न हो गया ॥८७०॥

त्वां लोष्टमाक्षिपन्तं पार्श्वस्थैः स्तूयमानसामर्थ्यम् ।
गृहकर्तव्यं त्यक्त्वा सापश्यद्द्वाटरंध्रेण ॥८७१॥

Pb – जब तुम गुलेल चला रहे थे और पास वाले तुम्हारी प्रशंसा कर रहे थे तब वह घर का काम छोड़कर तुम्हें दरवाजे के छेद से निहार रही थी ॥८७१॥

त्वयि मार्गनिकटवर्तिन्यविचेतितखेदया तया सुभग ।
प्रत्यासन्नगृहेष्वपि कृतः प्रसह्य स्मरातुरो लोकः ॥८७२॥

हे सुभग, जब तुम घर के निकट मार्ग में रहते थे तब वह आतप आदि जनित कष्ट की परवाह न करके जो तुम्हें देखने के लिए खड़ी रहती थी उस समय पड़ोस के रहने वाले लोग हठात् कामातुर हो उठे थे' ॥८७२॥

इति चतुरदूतिकोदितवर्धितसौभाग्यगर्वपूर्णस्य ।
ऊर्मिसहस्रोल्लसितं भवति मनो ग्राम्यषिङ्गस्य ॥८७३॥

इस प्रकार चालाक दूती के कहने पर अपने बढ़े हुए सौभाग्य के गर्व से फूले गाँव के निवासी कामुक का मन हजारों तरंगों से उल्लसित हो उठता है ॥८७३॥

विनिवार्य तत्प्रवर्तितवाक्यविकासं नतोत्तमाङ्गेन ।
श्रीसिंहभटस्य सुतं समुवाच वचोऽथ नर्तकाचार्यः ॥८७४॥

अनन्तर उस गणिका द्वारा प्रवर्तित वाक्य-विस्तार को शिरःकम्प करके रोककर नर्त्तकाचार्य ने श्रीसिंहभट के पुत्र से कहा ॥८७४॥

नायकभूमौ भवतः कुशीलवाः कोहलादयो मुनयः ।
अप्सरसः स्त्रीलास्ये गान्धर्वे कमलजन्मनस्तनयः ॥८७५॥

'अभिनेता या नायक की भूमिका में (उस भूमिका को स्वयं अपना कर)

भरत और दूसरे नटविशेष कोहल आदि मुनि, स्त्री-पात्र के नाट्य में अप्सराएं, गान्धर्व में कमलजन्मा ब्रह्मा के पुत्र नारद ॥८७५॥

सुषिरस्वरप्रयोगे प्रतिपादनपंडितो मतङ्गमुनिः ।
यदि रञ्जयन्ति हृदयं भवतो भूमिस्पृशां कुतः शक्तिः ॥८७६॥

तथा वंशी आदि के बजाने में निपुण मतंग मुनि जैसे लोग जब आपके हृदय का रंजन करते हैं, फिर हम पृथ्वी के वासियों की शक्ति कहाँ ? ॥८७६॥

अभ्यधिकं धृष्टत्वं प्रायेण हि शिल्पजीविनो भवति ।
आश्रितनर्तकवृत्तेर्विशेषतो विजितरङ्गस्य ॥८७७॥

प्रायः शिल्पजीवी (कलाकार) लोग बड़े ढीठ हुआ करते हैं, उनमें विशेष रूप से वह जो रंगमंच पर प्रसिद्धि पाया हुआ नर्तक की जीविका वाला प्राणी है ॥८७७॥

विज्ञापयाम्यतस्त्वां निर्मितनाट्यप्रजासृजा सदृशम् ।
अवलोकयाङ्कमेकं मा भवतु मम श्रमो वन्ध्यः ॥८७८॥

इसलिए हे राजन्, मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप नाट्यप्रेमी प्रजा के के लिए रुचिकर एक अङ्क का अवलोकन कर लें जिससे मेरा श्रम निष्फल न हो' ॥८७८॥

इति कथयन्नरभर्तुः पुत्रेण स चोदितो भ्रुवोन्नतया ।
रचिते सकलातोद्ये नियोजयामास सूत्रधृतम् ॥८७९॥

यह कहने पर राजपुत्रद्वारा भौंहें ऊँची करके प्रेरित हुए नर्तकाचार्य ने सब प्रकार के वाद्यों[1] के स्वरमेलन हो जाने पर सूत्रधार[2] को नाटक आरम्भ करने के लिए आज्ञा दी ॥८७९॥

१—अर्थात् वीणा, मुरज, वंशी और कांस्य रूप चतुर्विध वाद्यों के सुर मिला लेने के पश्चात् ।

२—सूत्र धार—बीज-सहित नाटक का अनुष्ठान सूत्र कहलाता है उसे धारण करने वाला नाट्यशिल्पी ।

वांशिकदत्तस्थानक उद्ग्राहितभिन्नपंचमे सम्यक् ।
प्रावेशिक्या ध्रुवया द्विपदे ग्रहणान्तरेऽविशत्सूत्री ॥८८०॥

वंशी बजाने वाले (वांशिक) के द्वारा स्थानक दिए जाने पर उसके अनुसार सम्यक् प्रकार से मध्यम स्वर की श्रुति से युक्त पंचम स्वर के चल पड़ने पर[1], प्रावेशिकी ध्रुवा[2] गीति के समाप्त होने पर एवं द्विपदी लय (एक विशेष प्रकार के लय) के अलाप लेने के बाद सूत्रधार ने प्रवेश किया ॥८८०॥

उत्साहभावयुक्तः सामाजिकहृदयरंजनं बुध्यन् ।
कविनैपुणवत्सेश्वरचरितस्वविधेयदाक्ष्यसामग्रचा ॥८८१॥

उत्साह के भाव से युक्त कवि की निपुणता को प्रकट करने वाले वत्सराज के चरित के प्रयोग में अपने चातुर्य की सामग्री द्वारा सामाजिक (दर्शक) लोगों के चित्त का अनुरंजन करता हुआ[3] ॥८८१॥

अष्टकलापरिमाणां ध्रुवां परिक्रम्य ताललययुक्ताम् ।
आहूय नटीं कृत्वा तया समं स्वगृहकार्यसंलापम् ॥८८२॥

ताल और लय से युक्त आठ कलाओं (मात्राओं) के परिमाण वाली ध्रुवा

१—वांशिक जब स्थानक (स्वर स्थापना) देता है तदनुसार गाने वाला अपने भिन्न-पञ्चम स्वर को उसके साथ संगत कर लेता है, जैसा कि कहा है—

'स्थानकादिनया-भिज्ञो गमकाढ्यः स्फुराक्षरः ।
शीघ्रहस्तः कलाभिज्ञो वांशिको रक्त उच्यते' ॥

तथा :—

'...गातॄणां स्थान-दातृत्वं तद्दोषाच्छादनं तथा ।
वांशिकस्य गुणा एते मया संक्षिप्य दर्शिताः ॥
संगीतदामोदर

२—यह एक प्रकार का गीत है जो नट द्वारा पात्रों के प्रवेश की सूचना के लिये गाया जाता है ।

३—'रत्नावली, का प्रासंगिक पद्यार्ध इस प्रकार है—

का गान कर, नटी को बुला, उसके साथ अपने घर के कार्य सम्बन्धी बातचीत कर ॥८८२॥

सूचितपात्रागमनः किंचिद्गत्वा पदानि ललितानि ।
निश्चक्राम गृहिण्या सार्धं निःसरणगीतेन ॥८८३॥

पात्र के आगमन सम्बन्धी सूचना दे, कुछ ललित पदों को प्रस्तुत कर, निःसरण गीत गाते हुए (वह सूत्रधार) नटी के साथ रङ्गमञ्च से निकल गया ॥८८३॥

आश्रित्य कथोद्घातं प्रविवेश ततः सविस्मयोऽमात्यः ।
दुर्घटसंघटनेन क्षितिनाथस्योदयेन मुदितश्च ॥८८४॥

तब कथोद्[1]घात का आश्रय लेकर आश्चर्य से भरे मंत्री (यौगन्धरायण) ने प्रवेश किया, वह वत्सराज के विचित्र रूप से घटित उदय के कारण प्रसन्न था[2]।॥८८४॥

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी ।
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाटये च दक्षा वयम् ॥

१—जब पात्र सूत्रधार के कहे हुए अपने वृत्त के समान वाक्य या अर्थ ग्रहण करके प्रवेश करता है वह आमुख 'कथोद्घात' कहलाता है—

'स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स उच्यते ॥

जैसा कि 'रत्नावली' में सूत्रधार के कहे हुए 'द्वीपादन्यस्मादपि' (१।६) इस वाक्य को पढ़ते हुए यौगन्धरायण प्रवेश करता है ।

२—विचित्र घटना यह हुई कि रत्नावली को लाने के लिए यौगन्धरायण ने अपने कंचुकी को भेजा था । वहां से मंत्री वसुभूति और रत्नावली को लेकर लौट ही रहा था कि समुद्री नौका बीच रास्ते में भग्न हो गई । रत्नावली बहती-बहती कुछ कौशाम्बी के बनियों द्वारा बचा ली गई और यौगन्धरायण को अर्पित कर दी गई, उधर कंचुकी और वसुभूति के भी बच जाने की खबर मिल जाती है । इस प्रकार मंत्री सर्वतोभावेन वत्सराज उदयन के अभ्युदय की सम्भावना से बहुत प्रसन्न था ।

प्रासादमारुहन्तं कुसुमायुधपर्वचर्चरीं द्रष्टुम् ।
निर्दिश्य वत्सराजं समनन्तरकार्यसिद्धये निरगात् ॥८८५॥

फिर प्रासाद पर मदनमहोत्सव[1] के दृश्य चर्चरी[2] को देखने के लिए भवन के प्रासाद पर चढ़ते हुए वत्सराज की सूचना देकर आगे के कार्य की सिद्धि के लिए[3] निकल गया ॥८८५॥

अथ विशति स्म नरेन्द्रः प्रासादगतः समं वयस्येन ।
अवलोकयन्प्रमोदं प्रमुदित चेताः स्वसौख्यसम्पत्त्या ॥८८६॥

तब अपने मित्र विदूषक के साथ प्रासाद पर गए, उत्सव के आनन्दोल्लास का अवलोकन करते हुए, अपने सौख्य की सम्पत्ति से खुश राजा ने प्रवेश किया[4] ॥८८६॥

विस्मयभावाकृष्टः प्रोत्फुल्लविलोचने ततो विसृजन ।
नृत्यति पौर जनौघे प्रोवाच वयस्य पश्य पश्येति ॥८८७॥

आश्चर्य के भाव से खिंचा हुआ, विकसित आँखों को दौड़ाता हुआ राजा नाचते हुए नागरिकों की ओर इशारा करके बोला—मित्र देखो, देखो ॥८८७॥

१—यह उत्सव प्राचीन काल में बसन्त ऋतु के अवसर पर किया जाता था जो आज 'होली' के नाम से कहा जाता है। इस उत्सव में विशेष रुप से उद्दाम नृत्य-गान के साथ नगर के स्त्री-पुरुष भगवान् कामदेव के आयतन (मन्दिर) में पहुँचते थे और उनकी अर्चना करते थे।

२—चर्चटी यहां गीत भेद न होकर हर्ष क्रीड़ा के अर्थ में संगत होती है।

३—रत्नाबली को उदयन से मिलाने और उसके साथ विवाह कराने की कार्य सिद्धि के लिए।

४—इस प्रसंग का शलोक है—

राज्यं निर्जित शत्रु योग्य-सचिवे न्यस्तः समस्तो भरः ।
सम्यक् पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ॥
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं ।
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥
रत्नावली १।९

तुल्यशिशुतरुणवृद्धं समगुप्तागुप्तयुवतिपरिचेष्टम् ।
अगणितवाच्यावाच्यं क्रीडन्तिजनाः प्रवृद्धहर्षरसाः ॥८८८॥

लोग इस तरह बड़ी खुशी से क्रीड़ा कर रहे हैं कि बालक, जवान और बूढ़े में कोई भेद नहीं रह गया है बेपर्दा और पर्दानशीन औरतें भी बराबर हो गई हैं, उनके खूब हंसी मजाक हो रहे हैं, यह कोई ध्यान नहीं रह गया है कि क्या कहने योग्य है और क्या नहीं कहने योग्य ॥८८८॥

पिष्टातर्कापिजरितं रचितोचितविविधकुसुमनियूंहम् ।
गात्रायाससमुत्थितबहुनिःश्वासप्रकीर्णपदगीतम् ॥८८९॥

वह बूढ़ा गुलाल से पीतवर्ण का हो गया है, नाना प्रकार के फूलों के गुच्छे सिर में खोंस लिया है, अङ्गों के थक जाने से उठते हुए भारी निःश्वासों के कारण उसके शरीर पर पड़ा हुआ पटवास[1] उड़ पड़ता है ॥८८९॥

तूर्यरवव्यामिश्रितकरतलतालोद्भुजं प्रनृत्यन्तम् ।
मुहुरपि जातस्खलनं संदर्शितदार्ढ्यसौष्ठवे स्थविरम् ॥८९०॥

तुरही की आवाज से हाथ की ताली मिलाकर ऊपर हाथ उठाए जोर से नाच रहा है, बारबार भहरा पड़ता है और फिर भी अपने शरीर की मजबूती और दुरुस्ती को प्रदर्शित करता है ॥८९०॥

अस्तु वसन्तः सततं स्वाधीनाभीष्टजनसमाश्लेषः ।
इति गायन्ती रभसादालिंगति मदवशात्तरुणी ॥८९१॥

'अपने अधीन रहने वाले प्रिय जनों के आलिङ्गनों वाला यह वसन्त हमेशा रहे' यह गान करती हुई कोई तरुणी मस्ती में वेग से आलिङ्गन कर लेती है ॥८९१॥

क्रीडन्त्या श्रमरहितं शृंगकसलिलेन ताडितस्तरुणः ।
सीमंतिन्या गणयति तुष्टात्मा सुभगमात्मानम् ॥८९२॥

श्रम की परवाह न करके क्रीड़ा करती हुई नारी द्वारा पिचकारी (शृङ्गक) के जल से मारा गया युवक खुश होकर अपने को 'सुभग' समझ रहा है ॥८९२॥

१—अर्थात् पिष्टातक, जिसे हल्दी, चावल और कुङ्कुम आदि द्रव्यों को मिला कर बनाते थे ।

भग्ने लज्जासेतौ पर्वावसरेण कुलवधूवदनात् ।
अश्लीलोक्तिजलौघो निर्यातः केन वार्यते प्रसरन् ॥८६३॥

इस मदनमहोत्सव के पर्व के अवसर में लज्जा के सेतु के टूट जाने पर कुलवन्तियों के मुख से निकले हुए गाली के वचनों के प्रवाह को हठपूर्वक कौन रोक सकता है ? ॥८६३॥

तुल्यव्यापारगिरां ललनानां देवनप्रसक्तानाम् ।
आर्यानार्याविगमं वदनावृतिजालिका कुरुते ॥८६४॥

जुआ ~~खेलने में~~ निरत, समान व्यापार और वचनों वाली ललनाओं की मुँह पर की जाली ही बताती है कि यह आर्या है और यह अनार्या ॥८६४॥

अथ सहचरनिर्दिष्टे मदस्खलच्चरणविघटिताभिनयम् ।
वासवदत्ताप्रहिते नृत्यंत्यौ विविशतुश्चेट्यौ ॥८६५॥

तब वत्सराज के साथी वसन्तक ने दिखाया कि वासवदत्ता के द्वारा भेजी हुई दो चेटियाँ मस्ती में पैरों के लड़खड़ाने के कारण विघटित अभिनय के साथ नृत्य करती हुई प्रवेश करती हैं ॥८६५॥

दर्शितसरोजवर्तंनसाम्याभिनये शरेऽभिनेतव्ये ।
विदधाने वीरदृशावायुधमात्रं समाश्रित्य ॥८६६॥

उन्हें कमलवर्तन नामक अभिनय[1] दिखाने के बाद जो बाण का अभिनय[2]

१—यह एक प्रकार का बाहुकरण अभिनय है, जिसमें हाथों को कमल की अनुकृति पर रखा जाता हैं । कोहल ने कहा है—

पद्मकोशाभिधौ हस्तौ व्यावृत्तादिक्रियान्वितौ ।
आश्लिष्टौ च करौ क्षेत्रे व्यावृत्तपरिपर्तितौ ॥
मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ सैषा कमल वर्तना ।

२—बसन्त में पुष्प बाण के अभिनय का औचित्य है ही, अतः कपित्थ नायक हस्त के द्वारा बाण का अभिनय प्रस्तुत किया । संगीतरत्ना-कर के अनुसार—

करना था उसे न करके वीर रस की दृष्टि[1] वाली उन दोनों ने आयुधमात्र का आश्रय लेकर अभिनय किया ॥८९६॥

चलितनयनप्रवृत्तिः कौतुकहृतमानसो नराधिपतिः ।
निजगाद निर्भरमहो क्रीडितमनयोर्विलासिन्योः ॥८९७॥

कौतुक से लुभाये हुए वत्सराज ने आँखें फेर कर (वसन्तक से) कहा—'इन दोनों विलासिनियों ने खूब क्रीड़ा की' ॥८९७॥

करपीडनोपमंदव्यतिकरसमये कदर्थ्यमानोऽपि ।
स्तनमंडले स्थितोऽहं त्वं पुनराकृष्य कुत्रचित्क्षिप्तः ॥८९८॥

अधुनान्तरयसि मामिति कोपादिव बाणवारमभिरामम ।
बहुचित्रपदन्यासैर्वलगंत्या हंति हार उच्छलितः ॥८९९॥

अधिक आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पदन्यासों से नृत्य करती हुई विलासिनी का उछाल भरता हुआ हार उसकी चोली से क्रोध से यह कहते हुए ताड़न कर रहा है कि कामुक के हाथों से दबने और मसले जाने की पीड़ा का अनुभव करता हुआ भी मैं स्तनों पर ही पड़ा रहा और तू तो निकाल कर कहीं डाल दी गयी अब मेरे बीच में आकर पड़ती है ॥८९८-८९९॥

चूतलता धम्मिल्लस्थानच्युतशेखरं दधौ श्लाघ्यम् ।
अधृतपतन्नियूंहं न त्वेषा मदनिकावेणीः ॥९००॥

चूतलता ने बँधे केशपाश के स्थान से गिरी हुई माला को अच्छे ढङ्ग से

'अङ्गुष्ठाग्रेण लग्ना स्यात् तर्जनी शिखरस्य चेत् ।
कपित्थः स्यात् तदा......॥

चक्रचापगदादेश्य शरकर्षादिकर्मणि ।
अन्योन्यकार्यविषयौ कपित्थशिखरौ क्वचित् ॥

१—भरत लिखते हैं—

क्रूरा रुक्षारुणोद्वृत्तनिष्टब्धपुटतारका ।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु वीरा वीर रसाश्रया ॥

धारण कर लिया, लेकिन इस मदनिका ने वेणी को, जिसमें लगा फूल का गुच्छा खिसककर गिर रहा था, नहीं सम्हाला ॥६००॥

स्तनभारावनतस्य प्रतनोर्मध्यस्य नास्ति तेऽपेक्षा।
इत्थमिव पादलग्नौ क्रीडन्त्या नूपुरौ रसतः ॥६०१॥

'स्तनों के भार से झुके हुए बिलकुल दुबले अपने मध्यभाग की तुझे परवाह नहीं' मानों उसके पैरों में लगे हुए नूपुर इस प्रकार चिल्लाने लगे ॥६०१॥

वहति स्म यं नितम्बं कथमपि कृच्छ्रेण मंदसंचारा।
कलयति तं तूललघुं जयति मनोजन्मनो महिमा ॥६०२॥

उस मनोजन्मा कामदेव की महिमा विजयिनी है जिसके कारण यह अपने जिस नितम्ब को बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे संचार करती हुई धारण करती है अभी उसे रूई के समान हल्का समझ रही है ॥६०२॥

उदयनसमनुज्ञातः प्रननर्तं वसन्तकोऽपि मुदितात्मा।
हास्यत्रयाभिरामं चर्चरि तालेन तन्मध्ये ॥६०३॥

वत्सराज उदयन से आज्ञा लेकर उनका विदूषक वसन्तक भी प्रसन्न होकर उन चेटियों के बीच हँसी और लज्जा की अभिरामता के साथ चर्चरी गीत का आधा टुकड़ा गा-गाकर बार-बार नृत्य करने लगा ॥६०३॥

धीरोद्धतललितपदैः क्रीडित्वा ते चिराय नरनाथम।
प्रद्योतस्य सुतायाः सन्देशमथोचतुः समुपगम्य ॥६०४॥

वे दोनों चेटियाँ देर तक धीरोद्धत और ललित पदविक्षेपों से क्रीड़ा करके राजा के पास आकर प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का सन्देश बोलीं ॥६०४॥

आदिशति देव देवीत्यर्धोक्ते सलज्जमन्योन्यम।
अवलोक्य मुखं नहि नहि विज्ञापयति प्रणम्य विनयेत ॥६०५॥

'देवी आदेश देती हैं..' इतना आधा कह कर ही वे लज्जा के साथ परस्पर एक दूसरे के मुँह को ताक कर (बोलीं)—'नहीं, नहीं, प्रणाम करके सविनय निवेदन करती हैं ॥६०५॥

मकरध्वजस्य पूजां त्वत्पादसरोजसन्निधौ कर्तुम् ।
पृथिवीमण्डलमण्डन समीहते मे मनोवृत्तिः ॥६०६॥

कि, हे पृथ्वीमण्डल के भूषण, आपके चरणकमलों के सन्निकट कामदेव की पूजा करने के लिए मेरा मन इच्छुक है ॥६०६॥

प्रियरतिभोगो मदनो दयितवसन्तो जनस्य मनसि वसन् ।
भावेन भवान्पूज्यो लोकस्थित्या तु कुसुमशरपाणिः ॥६०७॥

(इस अवसर पर) आप प्रिय रति के भोग करने वाले, मदन, वसन्तसखा और लोगों के मन में वास करने वाले हैं, सुतरां मन के भाव द्वारा आप ही पूज्य हैं, किन्तु लोकाचार के अनुसार फूलों के बाण वाले कामदेव की पूजा करते हैं' ॥६०७॥

इति दत्वा संदेशं प्रकृतिवयःकालसमुचितं भ्रान्त्वा ।
ते मदमदनाविष्टे बभूवतुर्जवनिकान्तरिते ॥६०८॥

यह सन्देश देकर अपनी प्रकृति, अवस्था एवं समय के अनुसार भ्रमण करके मद और मदन से आविष्ट वे चेटियाँ जवनिका[1] के भीतर चली गईं ॥६०८॥

अपनीततिरस्करिणी ततोऽभवन्नृपसुता समं चेटचा ।
अविदितरत्नावल्या पूजोचितवस्तुहस्तयानुगता ॥६०९॥

इसके बाद पर्दा (तिरस्करिणी) उठते ही अपनी आसन्नपरिचारिका

---

१ – जवनिका—रंग मंच पर अभिनय के अवसर का पर्दा। पाठान्तर 'यवनिका' है। निश्चय ही यह शब्द खेमे या टेंट (पटवेश्म) के ढंकने वाले वस्त्र के अर्थ में लोकप्रचलित था जो नाटकीय परिभाषाओं के साथ लग गया। कुछ विद्वानों के अनुसार 'यवनी' शब्द से इसका ताल्लुक मान कर यह अनुमान है कि भारतीय नाट्य पर यूनानी प्रभाव पड़ा था। पर कई पुष्ट प्रमाणों से आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास (पञ्चम संस्करण) में इसे 'जवनी' या 'जवनिका' ही माना है और परदे के अर्थ में इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी किया है, जिससे उपर्युक्त मत छिन्नमूल हो जाता है (दे० पृ० ४६३)।

(कांचनमाला) और अज्ञात रूप से पूजा के योग्य सामग्री हाथ में लिए रत्ना-वली (सागरिका) द्वारा अनुगत राजपुत्री वासवदत्ता उपस्थित हुई ।।६०६।।

अथ दृष्टवा सागरिकां प्रमादितां परिजनस्य निन्दित्वा ।
कांचनमालामवदन्नृपमहिषी जातसंक्षोभा ।।६१०।।

सागरिका को देखकर उसने अपने परिजनों की असावधानी की निन्दा की और उद्विग्न होकर कांचनमाला से बोली ।।६१०।।

प्रेषस्य कन्यामेनामवरोधं त्वं गृहाण कुसुमादि ।
यावन्न भवति विषये वीक्षणयोर्भूमिनाथस्य ।।६११।।

'इस लड़की को अन्तःपुर में भेज दे और इसके हाथ से फूल आदि तू अपने हाथ में ले ले, जब तक कि यह राजा की आँखों के सामने न हो ।।६११।।

उपगम्य ततश्चेटी तामभ्यवदत्किमर्थमायाता ।
मेधाविनों विमुच्य व्रज तस्मिन्मा विलम्बस्व ।।६१२।।

तब चेटी सागरिका के पास आकर उससे बोली—'तू यहाँ मेधाविनी सारिका को छोड़कर क्यों आई है ? जा वहीं, देर मत कर' ।।६१२।।

विहिते देव्यादेशे मनसीदं संनिधाय सा तस्थौ ।
विहगी सुसंगताया हस्ते निहिता मनोभवसपर्याम् ।।६१३।।

देवी का इस प्रकार आदेश होने पर वह मन में यह सोचकर ठहर गई कि सागरिका को मैंने सुसङ्गता के हाथ में सौंप रखा है तब तक ।।६१३।।

अवलोकयामि तावत्तिरोहिता सिंदुवारविटपेन ।
तातान्तःपुरिकाभिर्यथार्च्यंते किं तथैतदुत नेति ।।६१४।।

सिन्दुवार की डाली की आड़ में छिपकर कामदेव की पूजा देखती हूँ कि पिताजी के अन्तःपुर की स्त्रियाँ जैसे पूजन करती हैं वैसा यहाँ होता है अथवा नहीं ।।६१४।।

पिण्डीकृतमिव रागं हृच्छयमिव लब्धविग्रहोत्कर्षम् ।
समुपेत्य वत्सराजं जगाद सा जयतु जयतु देव इति ॥९१५॥

वह (वासवदत्ता) मानों उसका राग (स्नेह) एक पिण्ड के रूप में (वत्सराज) हो गया हो, या कामदेव ही शरीर का उत्कर्ष प्राप्त कर चुका हो, ऐसे वत्सराज के समीप जाकर बोली—'देव आपकी जय हो' ॥९१५॥

परिभुक्तमपि नवत्वं शृंगाररसं मदनपर्वणानीतम् ।
भजमानो भजमानां स्वागतवचसाभिनन्द्य तामूचे ॥९१६॥

पहले उपभोग किए हुए भी मदनोत्सव के कारण नवीनता को प्राप्त शृङ्गार का उपभोग करते हुए राजा ने उपभोग करती हुई उस वासवदत्ता को स्वागत-वचन से अभिनन्दन करके कहा ॥९१६॥

भर्गविलोचनपावकदाहाभ्यधिकां मनोभवो मन्ये ।
प्राप्स्यति तव करसङ्गमसुखविरहसमुत्थितां पीडाम् ॥९१७॥

'मैं मानता हूँ कि कामदेव शिवजी के नेत्र की अग्नि के दाह से भी अधिक तुम्हारे हाथ के सङ्गमसुख के विरह से उत्पन्न पीड़ा का अनुभव प्राप्त करेगा' ॥९१७॥

अथ मन्मथमभ्यर्च्य क्षितिनाथं तदनु समधिकं तस्याम् ।
परमां मुदं वहन्त्यां विग्रहवन्मदनमनसि कन्यायाम् ॥९१८॥

तब वासवदत्ता ने कामदेव की, फिर बाद में राजा की अर्चना की। (इस दृश्य को देखकर) वह लड़की (सागरिका) अतिशय आनन्दित हुई और उसके मन में राजा के रूप में शरीरधारी कामदेव प्रवेशकर गया ॥९१८॥

शृंगाररससमुद्रे सोत्कलिकं निपतिते तथा नृपतौ ।
तारमधुरस्फुटार्थं नग्नाचार्यः पपाठ नेपथ्ये ॥९१९॥

उस समय राजा भी उत्कलिकाओं (तरंगों, पक्ष में अभिलाषाओं) से भरे शृंगार-रस के समुद्र में डूब गया। इसी समय वैतालिक (नग्नाचार्य) ने नेपथ्य में ऊँचे, मधुर और साफ स्वर में पाठ किया ॥९१९॥

नयनानन्दमखण्डितमण्डलमभिराममममृतरश्मिमिव ।
सायंतन आस्थाने क्षितिपतयस्तस्थुरुदयनं द्रष्टुम् ॥९२०॥

'सायंकाल राजसभा में चन्द्र की भांति नेत्रों को आनन्दित करने वाले, अखंडित मण्डल वाले, अभिराम, महाराज उदयन के दर्शन के लिए राजा लोग विद्यमान हैं'॥९२१॥

उच्चारितेऽथ नाम्नि त्रिदशमतौ तत्क्षणं व्यपेतायाम् ।
उत्पन्नविस्मयरतिर्निदधे नरभर्तुरात्मजा हृदये ॥९२१॥

तत्काल (वैतालिक मुख से) निर्गत पदों वाली आर्या में राजा के दूसरे नाम के उच्चारित होने पर विस्मय और प्रेम के भावों से भरी राजपुत्री ने हृदय में यह विचार किया ॥९२१॥

'अयमुदयनः स राजा तातः सत्कृत्य मां ददौ यस्मै ।
हन्त परप्रेषणमपि न निष्फलं साम्प्रतं जातम् ॥९२२॥

'वही यह उदयन राजा है जिसके लिए सत्कारपूर्वक पिताजी ने मुझे अर्पित किया है ! वाह !! दूसरे की सेवा भी इस समय विफल न हुई ॥९२२॥

यावन्न वेत्ति कश्चित्तावदितस्त्वरितमेव निर्यामि' ।
इति कथमपि नायकतो हृत्वा दृशमुत्ससर्ज रङ्गभुवम् ॥९२३॥

जब तक मुझे कोई नहीं देख लेता तब तक मैं जल्दी से निकल जाऊँ' । यह कहकर किसी प्रकार नायक (उदयन) से आँखें बचाकर उसने रङ्गभूमि को छोड़ दिया ॥९२३॥

कंदर्पमहमहोत्सवहृतहृदयैर्नावधारितोऽस्माभिः ।
संध्यातिक्रमकालः पश्य त्वं प्रियवयस्यक तथाहि ॥९२४॥

(वत्सराज उदयन ने अपने मित्र विदूषक से कहा—)

'मदन-महोत्सव में हम लोग इस तरह तल्लीन हो गए कि सन्ध्याकाल के गुजर जाने का पता ही न रहा । प्रियवयस्यक, देखो ॥९२४॥

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम् ।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥६२५॥

'यह पूर्वदिशा उदयाचल से छिपे चन्द्र को उस प्रकार सूचित करती है जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित प्रिय को पीले पड़े हुए मुख से सूचित करती हैं ॥६२५॥

देवि त्वन्मुखपद्मः पद्मान्विदधाति पश्य विच्छायान् ।
अलयोऽपि लज्जिता इव शनैः शनैस्तदुदरेषु लीयन्ते ॥६२६॥

देवि, यह तुम्हारा मुख कमल कमलों को कान्तिहीन कर रहा है और भौंरे भी लजाए जैसे धीरे-धीरे उनके उदरों में घुसे जा रहे हैं' ॥६२६॥

एवमभिधाय चित्रैश्चरणन्यासैः परिक्रमं कृत्वा ।
निष्क्रामिक्या ध्रुवया विनिर्ययौ नायकोऽपि सह सर्वैः ॥६२७॥

इस प्रकार कहकर अपने सुन्दर पद-विक्षेपों द्वारा परिक्रमा करके जब (नेपथ्य में) निष्क्रमण के अवसर की ध्रुवा (गीति) गाई जाने लगी, नायक (उदयन) समस्त पात्रों के साथ निकल गया ॥६२७॥

अंके जात समाप्तौ गीतातोद्यध्वनौ च विश्रान्ते ।
प्रेक्षणकगुणग्रहणं नृपसूनुः प्रववृते कर्तुम् ॥६२८॥

नाटक के अंक (ऐक्ट) के समाप्त हो जाने पर और गीत एवं संगीत की आवाज के बन्द हो जाने पर राजकुमार ने नाटक के गुणों का वर्णन करना आरम्भ किया ॥६२८॥

नाट्यप्रयोगतत्त्वे मतयो न विशन्ति मादृशां प्रायः ।
वाहनयानपदातिग्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥६२९॥

'हम-जैसों की, जो वाहन, सवारी, पैदल सिपाही और ग्राम आदि के कार्यों में दिल लगाए रहते हैं, बुद्धियां प्रायः नाटक के प्रयोग के तत्व में प्रवेश नहीं कर पातीं ॥६२९॥

आस्ते लिखितो ग्रामो गृहाण तं सत्प्रदेशबहुभूमिम् ।
वासय दत्त्वा वासं भवसि ततष्ठक्कुरो दिवसैः ॥६३०॥

इस (दान-पत्र में) गांव लिख दिया है, अच्छा प्रदेश और बहुत भूमि से सम्पन्न उस गाँव को ले लो । वहाँ आवास बनाओ, तब कुछ दिनों में वहाँ के ठाकुर हो जाओगे ॥६३०॥

कृतजीवनसंस्थो हि त्वमपि किमर्थं करोषि विज्ञप्तिम् ।
अर्पय वा यदि नेच्छसि कुरु स्थितिं हस्तदानेन ॥६३१॥

जब कि तुम्हारे जीवन की व्यवस्था की जा चुकी है तो क्यों व्यर्थ ही (वेतनवृद्धि के लिए) विज्ञापन करते हो ? अगर नहीं चाहते हो तो (नौकरी) वापस कर दो और मजदूरी (हस्तदान) करके निर्वाह करो ॥६३१॥

न च पत्तयो न सप्तिर्न च पोष्यजनस्तथाप्यसंतुष्टः ।
लभमानोऽपि सदायं चिरंतनत्वाभिमानेन ॥६३२॥

न तो इसे सिपाही हैं, न घोड़ा रखता है और न परिवार ही है फिर भी अपने पुराने होने के अभिमान से सदा असन्तुष्ट रहता है ॥६३२॥

विज्ञप्तिकोन्मुखत्वं दूरत एवावधारितं भवतः ।
तूष्णींक्रियतामस्माच्छ्रोष्यसि कार्यं प्रतीहारात् ॥६३३॥

मैंने तो दूर ही से समझ लिया कि आप (वेतन बढ़ाने के लिए) विज्ञप्ति देने के लिए उन्मुख हैं, चुप रहो, इस प्रतीहार से अपना कार्य सुन लो ॥६३३॥

यूयं कुटुम्बमध्ये क्व गम्यते गोत्रपुत्रसामान्यम् ।
आदाय संविभागं गृह एव स्थीयतां यथासौख्यम् ॥६३४॥

तुम लोग तो मेरे कुटुम्ब में ही हो, कहाँ जाते हो ? वंश और बाल-बच्चे के साधारण परवरिश के लिए खर्च लेकर अपने घर की तरह सुख-पूर्वक रहो ॥६३४॥

अभ्यन्तरव्ययार्थं प्रविलब्धो यो मया महाद्रंगः ।
तत्रापि तेऽनुबन्धो नो जाने किं करोमीति ॥९३५॥

भीतरी खर्च के लिए जिस महोद्रङ्ग[1] को मैं काम में नहीं लाया उस पर भी तेरी यह मांग ! मेरी समझ में नहीं आता, क्या करूँ ? ॥९३५॥

प्रथमतरमेव कल्पितमनल्पहलजीवनं प्रदेशस्थम् ।
अद्यापि ते न जातं प्रयोगिनां पश्य मन्थरताम् ॥९३६॥

मैंने सबसे पहले ही जिस प्रदेश में अधिक द्रव्यलाभ होता है उसे तुम्हें लिख दिया है, आज भी तुमने उसे नहीं अपनाया, अफसरों (नियोगीजनों) की ढिलाई तो देखो ! ॥९३६॥

एवंप्रायैरनुदिनलाभोदयमोहकारिभिर्वंचनैः ।
फलशून्यैरनुजीवी प्रतारितः कः कियत्कालम् ॥९३७॥

इस प्रकार की लाभ तथा उदय (पदवृद्धि) के मोह उत्पन्न करने वाली व्यर्थ की बातों से कोई सेवक कब तक ठगा जा सकता है ? ॥९३७॥

१—महोद्रङ्ग—तनसुखराम के अनुसार 'महांश्चासो उद्रङ्गः' इस समास से 'उद्रंग' का 'नगरी विशेष' अर्थ है ।

"कर्वटादधमो द्रङ्गः पतनादुत्तमश्च सः ।
उद्रङ्गश्च निबेशश्च स एव द्रङ्ग इत्यपि ॥ वाचस्पतिकोश

तदनुसार 'पतन' जो पचास गांवों वाला होता है उससे बड़ा और 'कवट' जो चार सौ गांवों वाला नगर होता है उससे अवर नगर को उद्रङ्ग, निवेश या द्रंग कहते हैं । बंगटीकाकार के अनुसार महाद्रंग पाठ स्वीकृत है जिसका प्रयोग काश्मीर में कर या चुँगी तसीलने के लिए मार्गों पर स्थापित 'छावनी' के अर्थ में होता है, जिसका काश्मीरी का मूलगत अर्थ 'विलम्ब' है । वलभी के दान-पत्र में द्रंगाधिकारी, द्रंगिक, द्रांगिक, द्रांगी प्रभृति शब्द एवं राजतरंगिणी में द्रंगेश या मार्गेश शब्द व्यवहृत हैं । मानियर विलियम्स ने 'शत्रुंजयमाहात्म्य और राज-तरंगिणी के मिले प्रमाणों के आधार पर इस शब्द का अर्थ 'एक नगर' लिखा है ।

एतद्विषये नैपुणमत्र तु भूमिज्ञतां समाश्रित्य ।
मुखरतया कथयामो जड़मतिसामाजिकोचितं किंचित् ॥६३८॥

यहाँ इस नाट्य के विषय में राजाओं की निपुणता को दृष्टि में रखते हुए स्वयं मुखर होने के कारण जड़मति सामाजिक (दर्शक) जनों के लिये ही उचित कुछ बातें हम कहते हैं ॥६३८॥

सप्ताश्रयः षडात्मा शारीरस्त्रिः प्रमाणपरिणामः ।
सत्त्वाधिक्याज्ज्येष्ठो व्यस्तसमस्तैस्त्रिभिर्विनिष्पाद्यः ॥६३९॥

'नाट्य का यह प्रयोग सात पर आश्रित रहनेवाला, ६ प्रधानों वाला, शरीर द्वारा सम्पन्न, तीनों प्रमाणों के परिमाण वाला, सत्व के अधिक होने के कारण उत्तम व्यस्त और समस्त तीन विधियों से सम्पादन योग्य ॥६३९॥

सुकुमाराविद्धक्रिय उपरंजकरंजितो विविधनृत्तः ।
आदेयहेयमध्यैर्भावैः सम्पादितः प्रयोगोऽयम् ॥६४०॥

सुकुमारता से ओतप्रोत क्रियाओं वाला, व्यङ्गयपूर्ण बातों से भरा, नाना प्रकार की वृत्तियों वाला तथा ग्रहण के योग्य फिर त्याज्य एवं फिर उभयविध भावों से सम्पादित है[1] ॥६४०॥

१—कवि ने इन दो पद्यों (६४०–६४१) में समासोक्ति की शैली में जीवात्मा का वर्णन किया है। जैसे—

सप्ताश्रय (सात पर आश्रित रहने वाला)–नाट्य पक्ष में षड्ज, ऋषभ, गान्धार मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इन सात स्वरों अथवा स्वर, ग्राम आदि सप्तविध मार्गों पर आश्रित ; जीवात्मापक्ष में—रस, रुधिर, मांस, मेदस, मज्जा, अस्थि रेतस् इन सात धातुओं पर आश्रित ।

षडात्मा (छ प्रधानों वाला)—नाट्य पक्ष में सुस्वर, सरस, सराग, मधुराक्षर, सगुण और अलङ्कार प्रधान ; जीवात्मापक्ष में मन और अन्न, प्राण, मन, विज्ञान आनन्द इन पांच कोशों से विशिष्ट ।

शारीर (शरीर द्वारा सम्पन्न)–नाट्य पक्ष में गीत, नृत्य आदि शरीर द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ; जीवात्मा पक्ष में शरीरधारी ।

त्रिप्रमाण— नाट्य पक्ष में लोक, वेद, अध्यात्म ।

गम्भीर मधुर शब्दं परिरक्षितगीतविविधभंगयुतम् ।
दर्शयतो वैचित्र्यं न भ्रष्टो वादकस्य लयकालः ॥६४१॥

जिसमें गम्भीर और मधुर शब्द हैं एवं बढ़े हुए गीत के नानाविध भङ्गों से युक्त है, ऐसी विचित्रता (करामात) दिखाता हुआ वादक लयकाल[1] में स्खलित नहीं हुआ है ॥६४१॥

लोकोवेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम् ॥
(भरत २५।१२३)

जीवात्मा पक्ष में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।

सत्त्व के अधिक होने के कारण उत्तम--नाट्य पक्ष में वाद्य प्रयोग में सत्त्वाधिक्य (लयताल वर्णपदयतिगील्य त्तरवादकं भवेत् सत्त्वम्) ; जीवात्मा पक्ष में सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों में सत्त्व को उत्तम मानते हैं ।

व्यस्त और समस्त तीन विधियों से निष्पादन योग्य, नाट्य पक्ष में समा, स्रोतोवहा, गोपुच्छा इन नामों के तीन लयों के आसार और प्रसार विधियों से सम्पादित ; जीवात्मा पक्ष में स्थूल, सूक्ष्म कारणादि समष्ट्यात्मक विराट हिरण्य-गर्भ एवं प्राज्ञ, तैजस और विश्वास नामक व्यष्ट्यात्मक द्वारा निष्पादित ।

सुकुमाराविद्धक्रिय--नाट्य पक्ष में गान, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि कोमल क्रियाओं से ओत-प्रोत ; जीवात्मा पक्ष में दयादि सुकुमार क्रियाओं से ओत-प्रोत ।

उपरंजक रंजित--नाट्यपक्ष में व्यंजक या व्यंगपूर्ण आलापों से युक्त; जीवात्मा-पक्ष में रमणीय द्रव्य के दर्शन और भोगादि द्वारा रंजित ।

विविधवृत्ति--नाट्यपक्ष में भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त; जीवात्मापक्ष में काम, क्रोध आदि वृत्ति या चित्तविकार से युक्त--

आदेयहेयमध्यै र्भावैः सम्पादितः--

नाट्यपक्ष में जो समस्त भाव मन में उदय और विलय प्राप्त होते हैं अर्थात् व्यभिचारी भावों द्वारा सम्पादित; जीवात्मापक्ष में कोई भाव अर्थात् पदार्थ अनुकूल होने के कारण ग्राह्य होते हैं, कोई प्रतिकूल होने के कारण त्याज्य होते हैं एवं कोई मध्य अर्थात् औदासीन्य सहित दर्शनीय होते हैं, ऐसे भावों द्वारा सम्पादित ।

१--लयकाल--अर्थात् वादक ने ताल के बीच समय को गलत ढङ्ग से नहीं निभाया । 'लय' वह काल है जो ताल के बीच द्रुत, मध्य और बिलम्बित भेद से

अपरित्यक्तस्थानकरसकाकुव्यंजितस्फुटार्थपदम् ।
अभिरामाविश्रान्तं पठितं निरवद्यमखिलभावयुतम् ॥६४२॥

समस्त भाषाओं में उच्चारण के स्थानों को न छोड़ते हुए अर्थात् उनकी रक्षा करते हुए, रस एवं ध्वनिविकार के द्वारा व्यंजित अर्थ और शब्द को स्फुट करते हुए, बिना किसी दोष के अभिराम एवं अविश्रान्त पाठ किया[1] ॥६४२॥

नियमितदीपनशमनं द्रुतमध्यविलम्बितालसंयुक्तम् ।
रसवत्स्वरोपपन्नं कृतसाम्यं साधुगातृभिर्गीतम् ॥६४३॥

गाने वालों ने अच्छे ढंग से गान किया, वह गान स्वर को उतार-चढ़ाव से नियमित, द्रुत, मध्य और विलम्बित, ताल एवं लय से युक्त, रसमय, सस्वर समता लिए हुए था ॥६४३॥

प्रकृतिविशेषावस्थाप्रतिपादकवेषरचनसामग्र्या ।
अनुकरणमभ्यतीतं सिद्धिद्वयसम्पदाधारम् ॥६४४॥

स्वभाव-विशेष की अवस्था को व्यक्त करने वाली वेषरचना की सामग्री से प्राप्त दोनों प्रकार की (पाठ्य और निष्पत्ति) सिद्धियों द्वारा अनुकरण (अर्थात् नाट्य) ने स्तुति का भी अतिक्रमण कर लिया है ॥६४४॥

भरतसुतैरुपदिष्टं क्षितिपतिनहुषावरोधनारीणाम् ।
मन्ये ता अपि नाट्ये शोभासन्दोहमीदृशं नापुः ॥६४५॥

भरतपुत्रों ने राजा नहुष के अन्तःपुर की नारियों को नाट्य का उपदेश दिया था, मैं मानता हूँ कि वे भी अपने नाट्य में शोभासमूह न प्राप्त कर सकीं[2] ॥६४५॥

तीन प्रकार का होता है। वादक ने द्रुत को मध्य या मध्य को द्रुत, एवं विलम्बित को द्रुत या मध्य आदि करके गलत ढंग से वादन नहीं किया।

१ ललितं काकुसमन्वित मुज्ज्वलमर्थवशक्लृत परिच्छेदम् ।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति ॥

२—चन्द्रवंशी राजा नहुष ने स्वर्ग में जाकर अप्सराओं द्वारा अभिनीत नाट्य

सुश्लिष्टसन्धिबन्धं सर्वत्र सुवर्णयोजितं सुभगम् ।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम् ॥६४६॥

यह रत्नावली रूप रत्न जो सुनियोजित सन्धिबन्ध से युक्त है, सुन्दर पात्र एवं सुवर्ण से योजित एवं निपुण परीक्षक द्वारा देखा गया है—शोभित हो रहा है ॥६४६॥

एवंविधगुणकथनप्रसंगिनि विभावितात्मनृपतनये ।
पठतिस्मार्यामन्यः स्मृतिविषयमुपागतां प्रसङ्गेन ॥६४७॥

राजपुत्र दत्तचित्त होकर इस प्रकार गुणवर्णन कर ही रहे थे कि किसी ने प्रसंग से ध्यान में आई आर्या का पाठ किया ॥६४७॥

'संग्रामादनपसृतिः प्रेक्षाभिज्ञा सुभाषिताभिरतिः ।
आच्छोटनाभियोगः कुलविद्या राजपुत्राणाम्' ॥६४८॥

'संग्राम से न भागना, नाट्य के विषय में ज्ञान, सुभाषितों में प्रेम और शिकार खेलने का अभ्यास यह राजपुत्रों की कुल विद्या है' ॥६४८॥

एतद्वस्तुनि या ते श्रुतिमार्गं नृपतिनन्दनो रसतः ।
आरब्धकथाच्छेदकमाखेटकवर्णनं चक्रे ॥६४९॥

इस बात के कान तक पहुँचने पर राजपुत्र ने प्रेम से प्रस्तुत नाट्य के सम्बन्ध की चर्चा को विच्छेद करने वाला आखेट-वर्णन आरम्भ किया ॥६४९॥

चललक्ष्यवेधकौशलमश्वप्रजवे स्थिरासनाभ्यसनम् ।
भूमिविभागज्ञानं भवंति मृगयाभियोगेन ॥६५०॥

'आखेट के अभ्यास से चंचल लक्ष्य को वेध देने का कौशल, घोड़े के

देखा। पृथ्वी पर उन्होंने अपनी राजधानी में उसे देखने की इच्छा से देवताओं से प्रार्थना की। देवराज इन्द्र के अनुरोध पर भरत मुनि ने नहुष के अन्तःपुर की सुन्दरियों को नाट्यशिक्षा देने के लिए भेज दिया। उसी समय से पृथ्वी पर नाटय का प्रचलन हुआ ऐसी मान्यता है।

तेज रफ्तार से दौड़ने पर निश्चल ढङ्ग से बैठने का अभ्यास और पृथ्वी के विभागों का ज्ञान प्राप्त होते हैं ॥९५०॥

वहति जवेन तुरंगे निविडस्थितपादकटकपादाग्रः ।
तिर्यग्विनिहितकायो निम्नोन्नतमग्रतो भुवः पश्यन् ॥९५१॥

जब घोड़ा बहुत तेजी से दौड़ने लगता है तब धन्य शिकारी अपने पैर के अगले हिस्से को कड़ी में कस कर लगा लेता है, शरीर टेढ़ा कर देता है और जमीन की विषमता देखता हुआ ॥९५१॥

यावत्प्राणं धावत्याकुलिते विश्चकद्रुभिर्भीत्या ।
गोचरपतिते जीवे लघुक्रियः क्षिपति मार्गणं धन्यः ॥९५२॥

शक्ति भर दौड़ता है और शिकारी कुत्तों के डर से अकुलाए, आँखों के सामने पड़े जानवर पर तेजी से बाण छोड़ता है ॥९५२॥

मूले स्थितस्य निभृतं मृगयुभिरुच्चाट्य ढौकितं निकटे ।
पातयतो मृगमुत्प्लुतमव्यपदेशं सुखं किमपि ॥९५३॥

शिकारियों द्वारा उद्वेजित करके निकट में पहुँचाए, चौकड़ी भरते हुए मृग को मारते हुए, पेड़ के एकान्त मूल में बैठे शिकारी के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥९५३॥

गीतश्रवणोत्कर्णं निश्चलतृणकवलगर्भमुखहरिणम् ।
उपवेशितमस्पन्दं स्पृहणीया एव गृह्णंति ॥९५४॥

कानों को उठा कर गीत सुनते हुए, मुँह में निश्चल पड़े घास के कवल वाले, निश्चल भाव से बैठे हुए हिरन को स्पृहणीय लोग ही पकड़ा करते हैं ॥९५४॥

दावानलसंतापान्निर्यांतं गहनवीरुधोऽभिमुखम् ।
यो निरुणद्धि स धन्यः सूकरमेकप्रहारेण ॥९५५॥

जो शिकारी वनाग्नि के सन्ताप के मारे निकले हुए, घनी झाड़ की ओर चले जाते हुए बनैले सूअर को एक ही प्रहार से चित्त कर देता है वह धन्य है ॥९५५॥

धनकक्षोदरसुप्तं समुपेत्य स्वैरमकृतपदशब्दम् ।
व्याधवर एव कुरुते निर्जीवं हेलया शशकम् ॥९५६॥

धीरे धीरे पैर की आवाज किए बिना ही पहुँच कर व्याधश्रेष्ठ ही घने पेड़ के खोढ़ले में बैठे खरगोश को अनायास मार डालता है ॥९५६॥

इति विदधति सैंहभटावाखेटकशक्तिलाघवश्लाघाम् ।
हृदयागतामगायत्प्रसंगतो गीतिकामपरः ॥९५७॥

इस प्रकार सिंहभट का लड़का आखेट की शक्ति में तेजी का बखान कर ही रहा था कि किसी ने प्रसंग से हृदय में आई इस गीतिका का गान किया ॥९५७॥

'आस्तां व्यापाररसः प्रवर्तिता संकथापि मृगयायाः ।
अन्तरयति तन्मनसामाहारादिक्रियोचितं कालम' ॥९५८॥

'शिकार के व्यापार में जो रहा है उसकी प्रस्तुत कथा रहने दो, उसमें जिनका मन रम जाता है उन्हें भोजन आदि के समय का ध्यान नहीं रहता' ॥९५८॥

अवधार्यं गीतिकार्थं दानं प्रति धन नियुक्तमभिधाय ।
उत्तस्थौ समरभटो मंजरिकां समवलोकयन्प्रेम्णा ॥९५९॥

गीति का तात्पर्य समझ कर और अपने कोषाधिकारी को दान देने के लिए कह कर समरभट मञ्जरी को प्रेम से देखते हुए उठ खड़ा हुआ ॥९५९॥

गत्वाथ स्वावसथं निर्वर्तितभोजनादिकर्तव्यः ।
मंजरिकाकृष्टमना अभिदध्यौ सचिवसन्निधावेवम् ॥९६०॥

अनन्तर अपने निवास-स्थान पर जाकर भोजन आदि कार्य सम्पन्न कर मञ्जरी के प्रति आकृष्ट मन वाला वह मंत्री के समीप इस प्रकार विचार करने लगा ॥९६०॥

भ्रूभंगस्मितवीक्षितमृदुवक्रवचोऽङ्गहारगमनेषु ।
कुसुमप्रहरण एको युगपद्विहिताश्रयः कथं तस्याः ॥९६१॥

'एक कामदेव उस मञ्जरी के भ्रूभङ्ग, मुस्कान, दृष्टिपात, मृदु एवं वक्र

वचन, अवयव-विक्षेप तथा गमन में एक ही समय में कैसे निवास करता है[1] ? ॥६६१॥

सुन्दोपसुन्दनाशः फलमात्मभुवस्तिलोत्तमासृष्टेः ।
जनमृतये तां सृजता किं दृष्टं सुरहितं तेन ॥६६२॥

ब्रह्मा को तिलोत्तमा अप्सरा के निर्माण करने का लाभ यह मिला कि सुन्द और उपसुन्द नाम के असुर मारे गए लेकिन लोगों की मृत्यु के लिए उस मञ्जरी को रचते हुए उसने देवताओं का कौन-सा कल्याण देखा है[2] ?॥६६२॥

सुमनोभिः परिकरिता मृगशावकतरलचक्षुषस्तस्याः ।
कामोचितफलहेतुर्देहभृतां दीर्घिका वेणी ॥६६३॥

मृगशिशु की तरल आँखों के समान आँखें वाली उस मञ्जरी की लम्बी वेणी देहधारियों को कामोचित फल देने वाली है ॥६६३॥

कमलमिव वदनकमलं पिबंति तस्यास्त्रिविष्टपभ्रष्टाः
सदलिकमपेतदोषं सविभ्रमं मधुमदाताम्रम् ॥६६४॥

अलिकयुक्त, दोषरहित, विलासपूर्ण, मधु-भरे एवं लाल कमल के समान उसके मुखकमल को स्वर्ग से च्युत हुए प्राणी ही पान करते हैं[3]॥६६४॥

१—अर्थात् मंजरी के भ्रूभङ्ग आदि अलग-अलग काम भावना उत्पन्न करने में समर्थ हैं ।

२—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तिलोत्तमा के उत्पन्न करने से सुन्द—उपसुन्द असुरों के मारे जाने के कारण देवताओं को राहत मिली उसी प्रकार मंजरी के कारण जो इतने लोग दशमी अवस्था (मृत्यु) तक पहुँचते हैं इससे देवताओं का क्या उपकार हो रहा है ? सुन्द-उपसुन्द की कथा महाभारत के आदिपर्व (२०९—२१२) में वर्णित है और संक्षेप में कथासरित्सागर में भी मिलती है ।

३—कहते हैं कि जब पुण्य क्षीण हो जाते हैं तब प्राणी स्वर्ग से पृथ्वी पर पुनः लौट आते हैं (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति) । तात्पर्य यह कि स्वर्गभ्रष्ट होना

य: शैलेन्द्रनितम्बं सुरताप्त्यै सेवते तपोनिरतः ।
स्पृहयति सोऽपि नितम्बं सुरताप्त्यै समवलोक्य तन्वंग्याः ॥६६५॥

जो व्यक्ति सुरताप्ति के लिए (सुर-भाव प्राप्त करने के लिए तपस्या में निरत होकर हिमालय के नितम्ब का सेवन करता है वह भी सुरताप्ति (सुरत की प्राप्ति) के लिए कृश अङ्गों वाली मञ्जरी के नितम्ब की स्पृहा करता है[1]॥६६५॥

त्रिकरो मध्यविभागो बाह्वोर्युगलं करद्वयोपेतम् ।
जनयति तदपि मृगाक्षी सहस्रकरतोऽधिकं तापम् ॥६६६॥

उसका मध्यभाग तीन करों (वलियों) वाला है और उसकी दोनों बाहें दो करों वाली हैं तथापि वह मृगाक्षी सहस्र करों वाले (सूर्य) से भी बढ़ कर ताप उत्पन्न करती है ॥६६६॥

भी पुण्यवान् होने का लक्षण है। इस प्रकार उस मंजरी के कमल-सदृश मुख का पान करने वाले पुण्यवान् ही होते हैं। कमल पर जिस प्रकार अलिसमूह बैठते हैं, उसके मुख-कमल पर उसी प्रकार अलिक या चूर्णकुन्तल है। जिस प्रकार कमल दोषा अर्थात् रात्रि के रहते विकसित नहीं होता उसी प्रकार उसका मुख भी दोष रहित है। कमल वायु से हिलता हुआ विलासयुक्त है और मुख शृङ्गारचेष्टा रूप विभ्रम-युक्त है (नागरसर्वस्व के अनुसार 'विभ्रम' का लक्षण—

क्रोधः स्मितं च कुसुमाभरणादियाच्ञा, तद्वर्जनं च सहसैव विमण्डनं च ।
आक्षिप्य कातिवचनं लपनं सखीभिर्निष्कारणस्थितगतेन, स विभ्रमः स्यात् ॥

मंजरी के पक्ष में 'मधु' अर्थात् उसका 'अधरमधु' और कमल के पक्ष में मकरन्द। मुखपक्ष में 'आताम्र' ईषद् रक्तवर्ण। कमलपक्ष में 'आ' समन्तात् 'रक्त' अर्थात् रक्तोत्पल कोकनद।

१—'शृंगारशतक' का यह श्लोक प्रासंगिक है —

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' ॥

सा स्रग्धरा सुवदना प्रहर्षिणीं सैव सैव तनुमध्या ।
न करोति कस्य विस्मयमिति रुचिरा मंजुभाषिणी सैव ॥९६७॥

स्रग्धरा, सुवदना, प्रहर्षिणी, तनुमध्या, रुचिरा एवं मञ्जुभाषिणी वह मञ्जरी किसे आश्चर्य में नहीं डाल देती[1] ? ॥९६७॥

अनुकुर्वत्या कन्यां तथा तथा नायकस्तया दृष्टः ।
येन जरत्स्वप्यटनी धनुषः स्पृष्टा दशार्धबाणेन ॥९६८॥

कन्या रत्नावली का अभिनय करती हुई मालती ने उस-उस प्रकार नायक वत्सराज को देखा जिससे कामदेव ने अपने धनुष की कोटि का वृद्धजनों के लिए भी स्पर्श किया अर्थात् वृद्धजन भी काममोहित हो गए ॥९६८॥

रूपं यौवनचित्रितमनंगविकृतानि नाट्यदीप्तानि ।
शमिनामपि शमगर्वं मुष्णन्त्यविकल्पितं तस्याः ॥९६९॥

उसका यौवन-चित्रित रूप और नाट्य के अवसर पर दीप्त काम चेष्टाएँ अविकल रूप से शमप्रधान जितेन्द्रिय जनों के भी शमगर्व को अपहरण करती हैं ॥९६९॥

दग्धेऽपि वपुषि भीतिं न विमुंचति नीललोहितसमुत्थाम ।
तत्क्षेत्रे वसति यतः प्रमदारूपेण शंबरध्वंसी ॥९७०॥

कामदेव अपने शरीर के दग्ध हो जाने पर भी नीललोहित भगवान्

१—यहाँ कवि से स्रग्धरा आदि पाँच छन्दों से उसका अभेद बताया है । वह स्रग्धरा अर्थात् शोभन वदन या मुख वाली, प्रहर्षिणी अर्थात् हर्ष या आनन्द करने वाली, तनुमध्या अर्थात क्षीण कटिभाग वाली, रुचिरा अर्थात् मनोहरा, मंजु· भाषिणी अर्थात् मधुर बोलने बाली । स्रग्धरा आदि छन्दों के लक्षण, जैसे—

'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियति युता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ।
'ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनयुता म्लौ गः सुवदना' ॥

'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' । 'त्यौ चेत्तनुमध्या' । 'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः' । 'सजसा जगौ च यदि मंजुभाषिणी' ।

शङ्कर से उत्पन्न भय को नहीं छोड़ रहा है, जिस कारण वह प्रमदा का रूप धारण करके उस मञ्जरी के शरीर में निवास करता है ॥६७०॥

यदि वः परलोकमतिः शृणुत श्रेयस्तपोधना मत्तः ।
उत्सृज्य यात तूर्णं वारवधूद्रूषितं स्थानम् ॥६७१॥

हे तपस्वियों, यदि तुम्हें परलोक (स्वर्ग) की इच्छा है तो मुझसे कल्याण की बात सुनो, सब कुछ छोड़ कर शीघ्र ही वेश्याजनों से अलंकृत स्थान पर पहुँच जाओ ॥६७१॥

चिरमपि विकल्प्य निश्चितिरियमेव स्थाप्यते न गतिरन्या ।
तन्निर्माणे जाता लावण्यमयाः कणा विधेरणवः ॥६७२॥

देर तक सोच-विचार करके हम यह निश्चय करते हैं, कोई दूसरी गति नहीं है कि विधाता ने उस मञ्जरी के निर्माण में लावण्य के बने हुए कणों को परमाणु बनाये हैं ॥६७३॥

आसाद्य समुच्छ्रायं तस्याः स्तनयुगलमविहतप्रसरम् ।
क्षपयति यज्जनमेवं कः स्प्रक्ष्यति तद्विवेकवान्पतितम ॥६७३॥

उन्नति प्राप्त करके अनुदिन बढ़ते हुए उसके दोनों स्तन जो लोगों को दुर्बल किए जा रहे हैं उन्हें पतित होने पर कोई विवेकशील व्यक्ति कैसे स्पर्श करेगा[1] ? ॥६७३॥

स कथं न स्पृहणीयो विषयरतैस्तन्नितम्बविन्यासः ।
शान्तात्मनापि विहितं विश्वसृजा गौरवं यस्य ॥६७४॥

विषयासक्त लोगों द्वारा उसके नितम्ब की गढ़न क्यों न स्पृहणीय हो,

---

१—यहाँ कवि ने समासोक्ति के अनुसार मंजरी के स्तनयुगल से उस राजकर्मचारी की तुलना की है जो क्रमशः उन्नति प्राप्त करके लोगों को पीड़ित करता है और जब उसका पतन या पदच्युति हो जाती है तब उसे कोई भी स्पर्श तक नहीं करता। उसी प्रकार दोनों स्तन पीन और उन्नत होकर लोगों को पीड़ित करते हैं किन्तु पतित होने पर उन्हें कोई स्पर्श न करेगा।

जिसके गौरव (भारीपन अथवा महत्व) को शान्त स्वभाव वाले विधाता ने स्वयं अर्पित किया है ।।६७४।।

स्मरणाद्यस्योत्पत्तिः सुमनस इषवोऽबलाश्रया शक्तिः ।
सोऽपि व्यंगः प्रहरति धातुरहो चित्रमाचरितम् ।।६७५।।

स्मरण से ही जिसकी उत्पत्ति हो जाती है, फूल जिसके बाण हैं और जिसकी शक्ति अबलाओं पर आश्रित रहती है वह भी अनङ्ग होकर प्रहार करता है, विधाता का कार्य कितना आश्चर्यमय है ! ।।६७५।।

तिष्ठन्त्वन्ये दृष्ट्वा सारं जगतस्तदंगनारत्नम् ।
नष्टपठनावधानो भवति ब्रह्मा व सनिर्वेदः ।।६७६।।

दूसरों को जाने दो, ब्रह्मा जी भी संसार के सारभूत उस अङ्गना रत्न को देखकर वेदाध्ययन में ध्यान के नष्ट हो जाने से अपनी निन्दा आप करने लगेंगे ।।६७६।।

यदि पश्यति तां शर्वस्तदपररामासमागमाद्विमुखः ।
निन्दति मूर्धनि सोमं स्मराग्निसंधुक्षणं शरीरं च ।।६७७।।

यदि शिवजी उसे देख लें तब उसके अतिरिक्त दूसरी रमणी के समागम से विमुख होकर अपने मस्तक पर वर्तमान, कामाग्नि को बढ़ाने वाले चन्द्र तथा कामाग्नि के राह के लक्ष्यभूत अपने शरीर की निन्दा करने लगेंगे ।।६७७।।

केशव इह संनिहितः सापि मनोहारिरूपसम्पन्ना ।
तद्वक्षश्च्यवनभुवं कथमुज्भति सैंधवी शंकाम् ।।६७८।।

वह मञ्जरी भी मनोहर रूप वाली है, उसका वक्ष भी लक्ष्मी (शोभा) के कारण आनन्दभूमि है ऐसी स्थिति में केशव (विष्णु) सन्निहित होकर कैसे (उस मञ्जरी को देख कर उसके) सैन्धवी (लक्ष्मी) होने के अपने भ्रम का परित्याग कर सकते हैं ? ।।६७८।।

उदयति न पंडितानां कथमात्मनि कौतुकं गजेन्द्रगतिः ।
यन्नववयसां पुंसां विना क्रियायोगमुपसर्गः ।।६७९।।

हाथी जैसी चाल चलने वाली वह मञ्जरी पण्डित जनों के कौतुक कैसे

नहीं उत्पन्न करती ? क्योंकि इसमें नवीन अवस्था वाले पुरुषों के क्रियायोग के बिना ही उपसर्ग दिखाई देते हैं[1] ॥६७६॥

श्रुतिकुवलयमीक्षणतां कुवलयतां वा विलोचनं यायात्।
हरिणदृशो यदि न स्यात्कनकोज्ज्वलकेसरं मध्ये ॥६८०॥

यदि सोने के समान पीतवर्ण का केसर समूह न होता तो उस हरिणाक्षी का कर्णस्थ नीलोत्पल नेत्र कहा जाने लगता और नेत्र कुवलय कहा जाने लगता ॥६८०॥

ललनास्तदतुल्यतया पुरुषा अपि तदुपभोगविरहेण।
गच्छन्ति शोषमनिशं प्रकृतिद्वयवर्जिताः स्वस्थाः ॥६८१॥

ललनाएँ तो उसकी बराबरी नहीं कर पातीं और पुरुष उसका उपभोग नहीं प्राप्त करते, इस प्रकार दोनों निरन्तर (चिन्ता से) क्षीण होने लगे हैं और जो न स्त्री हैं न पुरुष अर्थात् जो हिजड़े (नपुंसक) हैं वे ही स्वस्थ हैं ॥६८१॥

दुर्वृत्तयोर्न वृत्तं श्लाघास्पदमेति तत्पयोधरयोः।
यौ धृत्वामलमूर्तिं मध्ये हारं जनक्षयं कुरुतः ॥६८२॥

दुष्ट आचरण वाले उसके स्तनों का व्यवहार प्रशंसा के योग्य नहीं है क्योंकि वे दोनों स्तन अमलमूर्ति (निर्मल) हार को बीच में करके लोगों का नाश करते हैं ॥६८२॥

१—इस आर्या के दो अर्थ है, पहला क्रियायोग' अर्थात् समागम रूप व्यापार एवम् उपसर्ग अर्थात् पीड़ा। दूसरा 'क्रियायोग' अर्थात् व्याकरण का **धातुयोग**, एवम् 'उपसर्ग' अर्थात् प्रादि उपसर्ग। यहां विशेषार्थ यह है कि उपसर्ग क्रिया से भिन्न नहीं रहता, बल्कि उसके साथ ही रहता है। एक पुराना श्लोक है —

'उपसर्गाः क्रियायोगे' पाणिनेरिति सम्मतम्।
निष्क्रियोऽपि तवारातिः सोपसर्गः सदा कथम् ॥

भूमण्डलेऽत्र सकले नातः परमपरमद्भुतं किंचित् ।
नो जाता यदपार्था कृशोदरी धार्तराष्ट्र्यातापि ॥९८३॥

सारे पृथ्वी मण्डल में इससे बढ़ कर कोई आश्चर्य नहीं है कि धार्तराष्ट्र (दुर्योधन) को प्राप्त करके भी कृश उदर वाली वह अपार्था (पार्थों अर्थात् पाण्डवों से रहित) नहीं हुई (परिहार यह कि धार्तराष्ट्र अर्थात् हंस के समान गमन करने वाली; अपार्था अर्थात् व्यर्थ रूप वाली) ॥९८३॥

कृश एष मध्यदेशस्तन्व्या नाहार्यमण्डनं वोढुम् ।
शक्त इति कृतं विधिना रोमावलिभूषणं सहजम् ॥९८४॥

इस तन्वी का कृश मध्य भाग आहार्य (आहरण वा धारण के योग्य) आभूषण धारण करने में समर्थ नहीं है इस लिए ब्रह्माजी ने उसके मध्य भाग में स्वाभाविक आभूषण के रूप में रोमावलि उत्पन्न कर दी ॥९८४॥

साकंपोऽधर ईक्षणयुगलस्याधीरता भ्रुवोर्भंगः ।
तन्वंग्या बलमीदृज्जयति जगत्तदपि निःशेषम् ॥९८५॥

उस कृशाङ्गी का अधर हमेशा कांपता रहता है, आँखें अधीर रहती हैं तथा भौंहों में भङ्ग है इस तरह तो उसका बल है तथापि वह सारे जगत् पर विजय प्राप्त करती है ॥९८५॥

वहतु नितम्बः स्थूलो रशनां हारं च कुचयुगं पीनम् ।
तद्बाहुमृणालिकयोः सापायं कटकयोजनमयुक्तम् ॥९८६॥

उसका स्थूल नितम्ब रशना को और पीन स्तनयुग हार को धारण करे, किन्तु उसकी बाहों की मृणालिकाओं का अनर्थकर कटकयोजन (कटक अर्थात् वयल का लगान, व्यङ्गय से पर्वत के मध्यभाग में रख छोड़ना) ठीक नहीं ॥९८६॥

बहलोपायाभिज्ञा गुणविषये सततमाहितप्रीतिः ।
बलिनः स्थापयति वशे करभोरुर्विग्रहेण मृदुनैव ॥९८७॥

बहुत से उपायों को जानने वाली, गुणों के विषय में हमेशा प्रीति रखने

वाली वह करभोरु अपने कोमल शरीर से ही बलवानों को वश में रखती है ॥६८७॥

इति तत्स्तुतिमुखरमुखे राजसुते मीनकेतुनाकुलिते ।
समुपागता प्रगल्भा मंजरिकाचोदिता दूती ॥६८८॥

इस प्रकार काम पीड़ित राजपुत्र मञ्जरी की स्तुति कर ही रहा था कि मञ्जरी की भेजी हुई ढीठ दूती पहुँची ॥६८८॥

सा सप्रणतिः पुरतः सुमनस्ताम्बूलपटलकं निदधे ।
व्यज्ञापयच्च तदनु स्वावसरे सहचरीकार्यम् ॥६८९॥

उसने प्रणति-पूर्वक आगे पान और फूल की टोकरी रख दी, तत्पश्चात् अवसर पाकर सहचरी ने मञ्जरी के कार्य को निवेदन किया ॥६८९॥

मुररिपुनाभिसरोरुहमवतंसीकर्तुमीहते मूढा ।
नक्षत्रराजमंडलमिच्छति वियतः समादातुम् ॥६९०॥

'मूर्ख मञ्जरी विष्णु के नाभि-कमल को अपने कान का अवतंस बनाना चाहती है, आकाश से चन्द्रमण्डल को ग्रहण करना चाहती है ॥६९०।

निश्चेतनाभिकांक्षति पीयूषं त्रिदिवसद्मनामशनम् ।
अभिलषति शयनमुष्णे नवचन्दनपल्लवास्तरणे ॥६९१॥

जड़ वह स्वर्ग वालों के भोजन अमृत की इच्छा करती है, उष्ण में नये चन्दन के पल्लवों के बिछावन को सेज बनाना चाहती है ॥६९१॥

विदधाति पारिजातकसुमनोनियूंहधारणश्रद्धाम् ।
दुर्व्यवसिता जिघृक्षति नारायणवक्षसो रत्नम् ॥६९२॥

पारिजात (स्वर्गीय वृक्ष) के फूलों के गुच्छे धारण करने में श्रद्धा रखती है कष्टकर व्यवसाय में लगी वह नारायण के वक्ष पर रहने वाले कौस्तुभ रत्न को ग्रहण करना चाहती है ॥६९२॥

अनियतपुरुषस्पृश्याः पापा वयमन्यथा क्व हीनकुलाः ।
क्व च यूयमिन्द्रकल्पा अनल्पमनसो गुणाभरणाः ॥९९३॥

कुछ अपने खास पुरुषों के द्वारा ही स्पर्श के योग्य, पापिन एवं नीच कुल वाली हम कहां और इन्द्रतुल्य, बड़े मन वाले एवं गुणों से भूषित आप लोग कहां ? ॥९९३॥

दुष्प्रकृतेः प्रकृतिरियं तस्य तु दग्धात्मजन्मनः कापि ।
अगणितयुक्तायुक्तो लगयति चेतो यदस्थाने ॥९९४॥

उस खराब स्वभाव वाले जले कामदेव की यह कोई प्रकृति है कि उचित और अनुचित का विचार किए बिना ही चित्त को अस्थान में लगा देता है ॥९९४॥

या हसति सरोजवतीं रसान्विता सहजरागरक्तेति ।
ध्यानधिय आत्मवृत्ति निन्दत्येकत्र पुरुष आसक्ताम् ॥९९५॥

जो मञ्जरी आप में प्रीति युक्त होकर सहज अनुराग शालिनी सरोजिनी का उपहास करती है, एक पुरुष (ब्रह्म रुप) में आसक्त योगी की वृत्ति की निन्दा करती है ॥९९५॥

स्निग्धेति नाभिनन्दति जन्मशतेनापि सर्पिषो धाराम् ।
पंचाक्षद्यूतगति नानर्थंकरमणसंगतां स्तौति ॥९९६॥

सैकड़ों जन्मों से भी स्निग्ध रहने वाली घृत की धारा को वह अभिनन्दन नहीं करती, अनर्थक राग से नहीं संगत होने वाली पांच कौड़ियों वाली द्यूत-क्रीड़ा की वह प्रशंसा नहीं करती ॥९९६॥

न स्तौति चन्दनलतां भुजंगपरिवेष्टितां रसार्द्रेति ।
न शृणोति कीर्त्यमानां स्वप्नेष्वपि मदनमूर्छितां मत्सीम् ॥९९७॥

भुजङ्गों से परिवेष्टित चन्दनलता को रस से आर्द्र मान कर स्तुति नहीं करती, काममूर्च्छित मछली की कीर्ति स्वप्न में भी नहीं सुनती ॥९९७॥

विद्वेष्टि करणमध्ये रसनां ताम्बूलरागरक्तेति ।

शंसति मतिं मुमुक्षोरविशिष्टां शशवृषाश्वपुरुषेषु ॥६६८॥

ताम्बूल के राग से युक्त समझ कर इन्द्रियों में रसना से विद्वेष करती है। शश, वृषभ, अश्वजातीय पुरुषों में भेदभाव न रखने वाली मुमुक्षु जन की बुद्धि की वह सराहना करती है[1] ॥६६८॥

नो बहु मनुते रम्भां नलकूबरमभिसृतेति कामार्ता ।

गर्हति च देवगणिकामनुरक्तामुर्वशीं पुरूरवसि ॥६६९॥

जो कामार्ता होकर भी नलकूबर का अभिसरण करने वाली रम्भा को

१—जिस प्रकार मुमुक्षु प्राणी ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि में कोई भेद-भाव नहीं रखता उस मजरी का भी कामशास्त्र के अनुसार शशादिजातीय पुरुषों में समान रूप से अनुराग है। लक्षण—

मृदुचपलसुशीलः कोमलांगः सुवेषः, सकलगुण निधानं चित्तहारी शशोऽसौ ।
वदति मधुरवाणीं नृत्यगीतानुरक्तो द्विजसुरगुरुभक्तो बंधुयुक्तो धनाढ्यः ॥

स्त्रीजितो गायनश्चैव नारीसत्वपरः सुखी,
षडंगुलशरीरश्च श्रीमांश्च शशको मतः ॥
उदरकटिकृशास्यः शीघ्रगामी नतांसः,
कनकरुचिरदेहः कष्टवादी वृषोऽसौ ।
व्यसनकृपणबुद्धिः स्त्रीवशः स्त्रीविलासो,
बहुगुणबहुतेजा दीर्घनेत्रोऽभिमानी ॥
उपकारपरो नित्यं स्त्रीवशः श्लेष्मलस्तथा,
दशांगुलशरीरस्तु मेदस्वी वृषभो मतः ।
उदरकटिकृशास्यो दीर्घकण्ठाधरोष्ठो,
दशनवदननेत्रं तस्य दीर्घोऽपि नाभिः ॥
लुब्धश्च कृपणश्चैव मिथ्यावादी च निर्भयः ।
द्वादशांगुललिङ्गस्तु कुशलोऽपि हयो मतः ॥

मीननाथकृत स्मरदीपिका

बहुमान अर्पित नहीं करती, पुरूरवा में अनुरक्त देवगणिका उर्वशी की निन्दा करती है ॥९९९॥

हरति मनो नो ह्रियते रंजयति न रज्यते कदाचिदपि ।
गृह्णाति चित्रचरितैरुपकृतिभिर्गृह्यते न बह्वीभिः ॥१०००॥

जो (दूसरों के) मन को हर लेती है पर (तुम्हारे प्रति आसक्त होने के कारण किसी के द्वारा उसका मन) हरण नहीं किया जाता, दूसरों को प्रसन्न करती है, पर खुद कभी भी प्रसन्न नहीं होती, अपने सहज-विलक्षण विलास द्वारा दूसरों को वशीभूत कर लेती है पर दूसरों के बहुत से उपकारों द्वारा भी स्वयं वशीभूत नहीं होती ॥१०००॥

प्रेममयीवाभाति प्रेम तु नाम्नैव केवलं वेत्ति ।
कंटकिता भवति रते रतभोगसुखं शृणोति लोकात्तु ॥१००१॥

प्रेममयी जैसी प्रतीत होती है लेकिन प्रेम को केवल नाम से ही जानती है। रतिकाल में रोमाञ्चित हो जाती है पर लोगों से रति-भोग के सुख को श्रवण करती है ॥१००१॥

कुरुते विविक्तचाटून् शिल्पविशेषेण न तु रसावेशात् ।
अनभिज्ञा मदनरुजामाकल्पकवेदनां समावहति ॥१००२॥

कला के एक भेद होने के कारण पवित्र प्रिय वचन बोलती है, न कि प्रेम के आवेश से बोलती हैं, उसे काम सम्बन्धी रोगों का पता नहीं, केवल कामावस्था-सम्बन्धी विकल्पों (कल्पनाओं) की वेदना का अनुभव करती है ॥१००२॥

बालैवार्जवरहिता स्फुरतीश्वरमेत्य चन्द्रलेखेव ।
हृतधनपतिमाहात्म्या प्रवृत्तिरिव रक्षसां पत्युः ॥१००३॥

अभी बाला एवं आर्जवरहित (अर्थात् वक्र) चन्द्रलेखा की भाँति बाला (सोलह साल की उम्र वाली) असरला जो मञ्जरी ईश्वर (शिवजी, पक्ष में धन सम्पन्न व्यक्ति) को पाकर स्फुरित हो उठी है, राक्षसराज रावण की प्रवृत्ति के

समान जिसने धनपति (कुबेर, पक्ष में धनवानों) के माहात्म्य को हरण कर लिया है ॥१००३॥

नरनाथ किं ब्रवीमि त्रिपुरान्तकनयनदाहदग्धोऽपि ।
दुःसाध्यसाधनग्रहमुत्सृजति न पापकुसुमास्त्रः ॥१००४॥

हे नरनाथ, क्या कहूं, त्रिपुर के नाशक शिवजी की नेत्राग्नि से जला भी पापी कामदेव दुःसाध्य कार्य के साधन की हठकारिता का त्याग नहीं करता ॥१००४॥

त्वद्दर्शनावकाशं संप्राप्य यतो दुरात्मा तेन ।
चिरसम्भृतकोपेन प्रारब्धा सापि हन्तुमिषुधारैः ॥१००५॥

जिस कारण तुम्हारे दर्शन का अवसर पाकर बहुत दिनों से सञ्चित कोप वाला वह दुरात्मा उसे भी बाणों की वर्षा से मारने लगा है ॥१००५॥

अवहेलयैव भवता संस्पृष्टा येन वेत्रदण्डेन ।
जातः स एव तस्या अनन्यभवमार्गणः प्रथमः ॥१००६॥

आपने सिर्फ यों ही जिस वेत्र दण्ड से उसे स्पर्श कर दिया है वही उसके लिये काम देव का पहला बाण हो गया है ॥१००६॥

विज्ञानार्जितदर्पो निभृतं हसितः समानशिल्पाभिः ।
त्वयि सक्तदृशः सख्या विसंष्ठुले नाट्यनिर्माणे ॥१००७॥

(नाट्य के प्रसंग में) जब वह तुम्हारी ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगी तब अभिनय का कार्य बिलकुल गड़बड़ हो गया और नाट्यकला में उसकी बराबरी करने वाली औरों ने उसके विज्ञान द्वारा अर्जित दर्प का उपहास किया ॥१००७॥

अवधीर्याचार्यरुषं भरतोदितदोषकरणसम्भूताम् ।
विस्तारितः प्रयोगस्त्वदवस्थितिवांछयां तन्व्या ॥१००८॥

भरतमुनि के बताये हुए दोषों के करने से उत्पन्न नाट्याचार्य के रोष की

परवाह न करके तुम ठहरे रहो इस इच्छा से तन्वी ने अपने अभिनय का विस्तार कर दिया ॥१००८॥

भग्नेऽपि प्रेक्षणके तदन्तरभूमिकाश्रयावस्थाः ।
गृह एव निरवसानं वितनोति न नाट्यधर्मेण ॥१००९॥

नाट्य के समाप्त हो जाने पर भी उसके बाद की भूमिका की अवस्थाओं को निरन्तर घर ही पर सम्पन्न करती है न कि अभिनय या अनुकरण करती है ॥१००९॥

ध्यायत एकं पुरुषं परमात्मविदः शशंस या न पुरा ।
ताननुकुरुते सैव ध्यायन्ती त्वां महापुरुषम् ॥१०१०॥

जो पहले एक पुरुष (अधिष्ठानभूत ब्रह्म) का ध्यान करते हुए ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति की प्रशंसा नहीं करती थी वही अब महान् पुरुष तुमको ध्यान करती हुई उन (ब्रह्मज्ञानियों) का अनुकरण करती है ॥१०१०॥

गतमेवमेवमासितमालोकितमेवमेवमालपितम् ।
इति विस्मृतान्यकार्या स्मरति कृशाङ्गी त्वदीयलीलानाम् ॥१०११॥

इस प्रकार वे चलते हैं, इस प्रकार बैठते हैं, इस प्रकार बोलते हैं इस प्रकार तुम्हारी लीलाओं को वह कृशाङ्गी सब कुछ भूल कर याद करती रहती है ॥१०११॥

नलकूवरो वराको रतिरमणे रमण एव किं तेन ।
अनिरुद्धोऽपि न बुद्धो विदग्धविहितासु सुरतगोष्ठीषु ॥१०१२॥

नलकूबर आपकी अपेक्षा हीन है, रतिरमण कामदेव नाम मात्र का ही रमण है, उससे क्या होगा ! अनिरुद्ध भी विदग्ध-जनोचित सुरतगोष्ठियों में पण्डित नहीं है ॥१०१२॥

न जयन्तोऽनन्तगुणो न कुमारो मारकर्मणोऽबाह्यः ।
येन समतां नयामस्तमिति सखी वहति मानसं क्लेशम् ॥१०१३॥

जयन्त अनन्त गुणशाली नहीं है एवं कुमार (कार्तिकेय) भी मारक्रिया से

अनभिज्ञ हैं, तब हम राजपुत्र की तुलना किससे करें, इस प्रकार सखी मन में क्लेश धारण करती है ॥१०१३॥

आगतमागच्छन्तं पुरतः पार्श्वे प्रसन्नमथ कुपितम्।
पश्यति भवन्तमेकं सङ्कल्पनिवेशितं बाला ॥१०१४॥

कभी आए हुए कभी आते हुए, कभी सामने, कभी बगल में, कभी प्रसन्न और कभी कुपित अपने सङ्कल्प से उपस्थापित एक ही आपको, वह बाला देखा करती है ॥१०१४॥

रुच्यः शान्तो हृद्यः सुभगः सुखदो मनोहरो रमणः।
इष्टः स्वामी दयितः प्राणेशः केलिकरणनिपुण इति ॥१०१५॥

मुक्तान्यसमारम्भा वरतनुरनुपप्लुतेन चित्तेन।
जपति समीहितसिद्ध्यै त्वद्द्वादशनामकं महास्तोत्रम् ॥१०१६॥

वह वरतनु अन्य समस्त चेष्टाओं को त्याग करके इष्टसिद्धि के लिए एकाग्र चित्त से 'रुच्य, कांत, हृद्य, सुभग, सुखद, मनोहरण, रमण, इष्ट, स्वामी दयित, प्राणेश और केलिहरणनिपुण' इन बारहनामों वाले महामन्त्र का जप करती रहती है ॥१०१५,१०१६॥

तामेव गच्छ यस्यामासज्य विलम्बितोऽसि गतलज्ज।
वेलामियतीमलमलमेतैरधुना शठानुनयैः ॥१०१७॥

'निर्लज्ज, उसी के पास जाओ, जिसमें आसक्त होकर देर कर रहे हो, इस समय इतनी देर तक इन शठ अनुनयों से कोई लाभ नहीं ॥१०१७॥

वक्ष्यामि सापराधं क्रोधस्फुरदधरमञ्चितभ्रूकम्।
इति विदधाति सुमध्या हृदयेन मनोरथावृत्तिम् ॥१०१८॥

यह अन्यासङ्ग के अपराधी उससे कहूँगी, इस प्रकार वह शोभन मध्यभाग वाली अपने हृदय से मनोरथों को दुहराती रहती है ॥१०१८॥

उत्सहते न द्रष्टुं प्रतिबिम्बितमाननं कुतः शशिनम् ।
का संकथा मृणाले क्षिपति भुजौ सर्वतो व्यथिता ॥१०१६॥

दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुख को वह देखने का उत्साह नहीं करती, फिर चन्द्र की बात क्या ? व्यथित वह अपनी बाहें चारों ओर फेंकती रहती है, फिर मृणालों पर अपनी बाहें स्थापित करेगी यह बात नहीं उठती ॥१०१६॥

दूरे कदलीदण्डा ऊर्वोरपि न सहते समाश्लेषम् ।
करसम्पर्काद्विमुखी विश्राम्यति पल्लवेष्विति विरुद्धम् ॥१०२०॥

वह अपने ऊरुओं का भी सम्पर्क सहन नहीं कर पाती, ऐसी स्थिति में केलों के दण्डों की बात तो दूर रहे, वह जब कि अपने हाथ के सम्पर्क से भी विमुख रहती है तो 'पल्लवों पर विश्राम करती है' यह बात सर्वथा विरुद्ध है ॥१०२०॥

अयि मंजरि सैव त्वं विदग्धजनमण्डिता पुरी सैव ।
कुसुमायुधः स एव व्यसनं कुत एतदायातम् ॥१०२१॥

'अयि मञ्जरि, तू वही है, विदग्धजनों से मंडित नगरी वही है, कामदेव वही है, फिर यह व्यसन कहां से आया है ? ॥१०२१॥

यस्याः कामः कृपणो रागाकृष्टिस्तृणोपलप्रख्या ।
सापि गता भूमिमिमां जीवन्त्या नेक्ष्यते किमिह ॥१०२२॥

जिसका कामदेव कृपण है (अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता) जिसका (किसी के प्रति) राग से आकर्षण तृण के समान (तुच्छ) है, वह भी तू इस अवस्था को पहुँच चुकी है संसार में जीवन्त प्राणी क्या नहीं देखता ॥१०२२॥

अभियोगशिक्षितानामशिक्षितानां च मदनचेष्टानाम् ।
सुतनु विशेषग्रहणे सामर्थ्यं तद्विदामेव ॥१०२३॥

हे सुतनु, प्रयत्नपूर्वक सीखी हुई (अर्थात् कृत्रिम) और स्वाभाविक मदन-

चेष्टाओं में अन्तर समझने की सामर्थ्य उन्हें ही होती है जो उन चेष्टाओं को जानने वाले होते हैं ॥१०२३॥

व्यथयन्नपि सच्छायः परिजनचिन्ताकरोऽपि रमणीयः ।
आधत्ते त्वयि लक्ष्मीमभिनवरागाश्रयो रागः ॥१०२४॥

यह नये राग से उत्पन्न तेरा क्षोभ कष्ट देता हुआ भी कान्तिमान लगता है, परिजनों को चिन्तित करने पर भी रमणीय लगता है तथा तुझमें अधिक शोभा का आधान करता है ॥१०२४॥

एकः स एव जातो भुवनेऽस्मिन्नसमसायकस्पर्धी ।
तेन शशिबिम्बफलके स्वजन्मना लेखितं निजं नाम १०२५॥

इस संसार में कामदेव के साथ स्पर्धा करने वाला एक ही वह पैदा हुआ है। उस सुजन्मा ने चन्द्रमण्डल के फलक पर अपना नाम लिखवाया है ॥१०२५॥

पादस्तेन सलीलं विन्यस्तः सुभगमानिनां मूर्ध्नि ।
सौभाग्ययशः कुसुमं धनपतिसूनोः कदर्थितं तेन ॥१०२६॥

अपने को सुभग मानने वालों के सिर पर उसने चरण रख दिया है तथा उसने धनपति कुबेर के पुत्र नलकूबर के सौभाग्य के यशःपुष्प को मसल डाला है ॥१०२६॥

नरवञ्चनपटुबुद्धिः सम्पादितकपटचाटुसङ्घटना ।
त्वमपि विलासिनि नीता गतिमियतीं येन सुभगेन ॥१०२७॥

हे विलासिनि, जिस सुभग पुरुष ने लोगों को ठग लेने में समर्थ बुद्धि वाली एवं कपटपूर्ण प्रियवचनों की घटना रचने वाली तुझे भी इस अवस्था तक पहुँचा दिया है ॥१०२७॥

तद्वद तस्य स्थानं यतामहे कार्यसाधनायाशु ।
कुर्वंत एव हि यत्नं भिषग्जनाः कृच्छ्रसाध्यरोगेऽपि ॥१०२८॥

तो उसका निवास स्थान बता, हम कार्य-सिद्धि के लिए अत्यधिक

कोशिश करेंगे, क्योंकि वैद्य लोग कष्टसाध्य रोग में भी यत्न करते ही हैं' ॥१०२८॥

इति गदिते सख्या सा तदभिमुखं चक्षुषी समुन्मीलय ।
वितरति कृच्छ्रेण चिराद्भावितमक्लिष्टहुंकारम् ॥१०२९॥

इस प्रकार सखी के कहने पर उसने उसकी ओर आँखें खोल कर, देर तक चुप रह कर कष्ट के साथ थोड़ा 'हुँ' कह कर उत्तर दिया ॥१०२९॥

का पुरुषार्थसमीहा द्योतयतः शर्वरीं शशाङ्कस्य ।
तर्पयतां भुवमखिलां सलिलमुचां कोऽभिकांक्षितो लाभः ॥१०३०॥

चन्द्र जो रात्रि को उद्भासित करता है, इसमें उसे किस पुरुषार्थ को प्राप्त करने की इच्छा है ? सारी धरती को तृप्त करने वाले मेघों का कौन इष्ट लाभ है ?॥१०३०॥

मण्डयितुं वियदुदयति पुरुहूतधनुर्विनैव फलवांछाम् ।
अनपेक्षितात्मकार्यः परहितकरणग्रहः सतां सहजः ॥१०३१॥

बिना फल की इच्छा रखे भी आकाश की शोभा बढ़ाने के लिए इन्द्र-धनुष उदय होता है, इस प्रकार अपने कार्य की अपेक्षा न करके दूसरे का भला करने का आग्रह सज्जनों को स्वाभाविक होता है ॥१०३१॥

प्रायेण यन्निदानं तत्सेवनमुपशमाय रोगाणाम् ।
स्मरमान्द्यं तु यदुत्थं तदेव खलु भेषजं यतस्तस्य ॥१०३२॥

प्रायः करके रोगों का जो निदान (आदि कारण) होता है उसके सेवन से वे रोग दूर हो जाते हैं, इसलिए जिसे स्मरमान्द्य का रोग उत्पन्न हुआ है वही उसकी दवा है ॥१०३२॥

तेन स्पृहयति सुतनुस्त्वत्पादयुगाब्जरेणुसङ्गतये ।
आशीर्विषयोपेते सम्भोगसुखोदये तु नाकांक्षा ॥१०३३॥

इसलिए वह सुतनु तुम्हारे चरण-कमलों की रेणु के सम्पर्क की स्पृहा करती

है, उसे लोगों के आशीर्वाद से मिलने वाले सम्भोग-सुख की आकांक्षा नहीं है ॥१०३३॥

प्रमदमुपैति मयूरी परमं शब्देन वारिवाहस्य ।
अनिमिषविलोकितेन प्राप्नोति झषी कृतार्थतामेव ॥१०३४॥

मेघ का गर्जन सुनकर मोरनी परम आनन्द का अनुभव करती है तथा मछली (प्रिय को) एक टक से देखते रहने से कृतार्थता प्राप्त करती है ॥१०३४॥

न वृथास्तुतिमुखरतया न च युष्मल्लोभनाभियोगेन ।
विदधामि तद्गुणाख्यां स्वरूपमात्रप्रसङ्गेन ॥१०३५॥

न तो वृथा स्तुति करने में मुखर होने के कारण अथवा न तो तुम्हें लुभाने के अभिनिवेश से मञ्जरी के गुणों का वर्णन कर रही हूँ, बल्कि उसके स्वभावादि से परिचय कराने के लिए उसके गुणों का वर्णन कर रही हूँ ॥१०३५॥

सद्भावबद्धमूले स्मितदृष्टिभ्रूविकारपल्लविते ।
सेवन्ते हृद्यरसां रागतरौ मञ्जरीं धन्याः ॥१०३६॥

भाग्यवान लोग सद्भाव रूप सुदृढ़ मूल के ऊपर प्रतिष्ठित स्मित, दृष्टि, भ्रूविलास रूप पल्लव से समन्वित अनुराग-वृक्ष की हृद्यरसशालिनी मञ्जरी का सेवन करते हैं ॥१०३६॥

तिष्ठतु तदंगसङ्गो विलोकिता येन झगिति वरगात्री ।
तस्यान्यो युवतिजनः प्रतिभाति मनुष्यरूपेण ॥१०३७॥

उसके अङ्गों का जिसे सम्पर्क हुआ है उसकी बात तो रहने दीजिए, जिसने उस वरगात्री को सिर्फ देख लिया है उसे दूसरी स्त्रियाँ पुरुष के आकार की प्रतीत होती हैं ॥१०३७॥

सकृदपि यैरनुभूतस्तत्तनुपरिरम्भसुखरसास्वादः ।
विद्धि नराधिप तेषां दूरीभूतं प्रजाकार्यम् ॥१०३८॥

हे नराधिप, एक बार भी जिन्होंने उसके शरीर के आलिङ्गनसुख के रस का आस्वाद लिया है, जानो कि वे प्रजा का कार्य बिल्कुल छोड़ बैठे ॥१०३८॥

आस्था का खलु तस्या विषयग्रहदुर्बलेषु पुरुषेषु ।
यस्या विलासजालकपतितः शकुनायते कपिलः ॥१०३९॥

जिसके विलासों के फन्दे में पड़े कपिल (सांख्यशास्त्र के रचयिता) पक्षी की भांति आचरण करने लगते हैं, विषयों में पड़े रहने से दुर्बल पुरुषों को वह यूँ ही समझती है ॥१०३९॥

दग्ध्वा पुनरपि दग्धो नूनमनङ्गो हरेण तां तन्वीम् ।
दृष्ट्वापि येन तिष्ठसि निराकुलः स्वस्थवृत्तेन ॥१०४०॥

शिवजी के द्वारा जला दिया गया भी अनङ्ग निश्चय ही फिर से (तुम्हारे द्वारा) जला दिया गया, जिस कारण उस तन्वी को देख कर भी निराकुल रहते हो ॥१०४०॥

अथ विरतोक्तौ तस्यामुल्लासितमानसे च नृपतौ च ।
कश्चिदगायद्गीतिं स्मृतिसङ्गतिमागतां प्रसङ्गेन ॥१०४१॥

अनन्तर उस दूती के कह कर चुप हो जाने पर और राजा के अत्यन्त प्रसन्न होने पर किसी ने प्रसंगवश याद आई गीति का गान किया ॥१०४१॥

अन्योन्यगाढरागप्रबलीकृतचित्तजन्मनोर्यूनोः ।
कालात्ययो मनागपि समागमानन्दविघ्नकरः ॥१०४२॥

'तरुण और तरुणी के परस्पर गाढ़े स्नेह के कारण कामदेव के प्रबल हो जाने पर थोड़ा भी समय का अतिक्रमण समागम के आनन्द में विघ्न करने वाला होता है' ॥१०४२॥

श्रुत्वा सिंहभटसुतः प्रियाप्रियां प्रीतिमान्स्मितप्रथमम् ।
निजगाद चारुभाषिणि गीतिकया समयसम्मतं कथितम् ॥१०४३॥

उस गीति को सुन कर प्रसन्न समरभट अपनी प्रिया की प्रिया उस दूती से मुस्कुराते हुए बोला—हे चारुभाषिणि, गीतिका ने सामयिक बात कही है ॥१०४३॥

अभिनन्द्य सा तथेति प्रययौ प्रमदावती निजं भवनम् ।
अकरोच्च विदितकार्यां युक्तेऽवसरे मनोरमां गणिकाम् ॥१०४४॥

प्रसन्न वह दूती उसे 'तथा' वचन से अभिनन्दन करके अपने घर चली गई और ठीक समय में उस सुन्दरी गणिका को विज्ञापित किया ॥१०४४॥

अथ सा कृतसंकल्पा सत्वरमादाय रुचिरविच्छित्तिम् ।
आसाद्य नृपनिशान्तं विवेश सञ्चारिकासहिता ॥१०४५॥

अनन्तर उस मञ्जरी ने मन में निश्चय कर शीघ्र ही थोड़ा रुचिर साज-सिंगार कर, राजा के घर पहुंच कर पहुँचाने वाली दूती के साथ प्रवेश किया ॥१०४५॥

विहितनमस्कृति रासनमधितष्ठौ नायकेन निर्दिष्टम् ।
पृष्टे च देहकुशले विनयान्वितमभ्यधाद्दूती ॥१०४६॥

नमस्कार करके नायक के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर वह बैठी, फिर नायक ने शरीर का आरोग्य पूछा । तब दूती ने विनय-पूर्वक कहा ॥१०४६॥

श्रीमन्नद्य श्रेयः सम्पन्ना गुरुजनाशिषोऽशेषाः ।
अद्य मदनः प्रसन्नो भाग्यचयैरद्य परिणतं फलतः ॥१०४७॥

'श्रीमन्, आज गुरुजनों के समस्त आशीर्वाद सफल हुए, आज कामदेव प्रसन्न है एवं हमारे भाग्य फलीभूत हुए ॥१०४७॥

अद्य जननी प्रसूता सौभाग्यगुणोदयोऽद्य निष्णातः ।
त्वयि वितरति सस्नेहं निरामयप्रश्नभारतीं तस्याः ॥१०४८॥

आज माता का पैदा करना सफल हुआ, आज सौभाग्य गुण का उदय हुआ, जब कि आपने उसके निरामय के प्रश्न की वाणी को वितरण किया ॥१०४८॥

उत्कलिकाकुलमनसामुद्रिक्तरिरंसयाभिभूतानाम् ।
औदासीन्यं भजतां समा यतो भवति नालिका यूनाम् ॥१०४९॥

उत्कण्ठाओं से आकुल मन वाले, स्पष्ट रमणेच्छा से अभिभूत होने पर

अपने कर्तव्य में उदासीन होते हुए युवक-युवतियों के बीच जो नारी उपस्थित रहती है वह मूर्ख है ॥१०४९॥

धृतसुमनःशरधनुषा सहायवांस्तिष्ठ दयितया सार्धम् ।
यामो वयं न राजति विजनस्थितिमिथुनसन्निधावपरः ॥१०५०॥

कुसुमशर कामदेव को धारण की हुई प्रियतमा के साथ यहाँ ठहरो, हम जाते हैं, क्योंकि एकान्त में बैठी जोड़ियों के समीप दूसरा आदमी अच्छा नहीं लगता ॥१०५०॥

एषा नृत्यश्रान्ता मदनेनायासितातिसुकुमारा ।
त्वमपि रतिसमरशूरः स्वर्गभुवः सन्तु कुशलाय ॥१०५१॥

यह मञ्जरी नृत्य करने से थकी हुई, मदन द्वारा आयासित एवं अति सुकुमार है, तुम भी रतियुद्ध के शूर हो, देवता तुम्हारा कल्याण करें' ॥१०५१॥

यावद्यावदशक्ति प्रथयति ललना हि मोहनाक्रान्ता ।
तावत्तावत्पुंसामुत्साहः पल्लवान्समुत्सृजति ॥१०५२॥

सुरत के आनन्द से अभिभूल ललना जैसे-जैसे अपनी असमर्थता प्रकट करती है वैसे-वैसे पुरुषों का उत्साह पल्लविल होता रहता है ॥१०५२॥

इति शून्यीकृतवेश्मनि हरति शनैः सहजमंशुकं तस्मिन् ।
दर्शितसाध्वसलज्जा जगाद सा किं कुरोषीति १०५३॥

जब भोगावास विलकुल सूना हो गया तब उसने जब सहज भाव से धीरे से अंशुक को हटाथा तब भय और लज्जा प्रकट करके गणिका ने कहा—'मुझे क्या करते हो' ॥१०५३॥

अयि मुग्धे तत्क्रियते पुरुषार्थं चतुष्टयस्य यत्सारम् ।
इति निगदितसम्मेरः स्मरविधुरित आततान रतिकलहम् ।१०५४॥

'अयि मुग्धे, वह (मोक्ष) करता हूँ जो चारों पुरुषार्थों का सार है' यह मुस्कुराते हुए कह कर स्मर पीड़ित उस राजपुत्र ने रतियुद्ध आरम्भ कर दिया ॥१०५४॥

नानासुरतविशेषैराराध्य चकार भुक्तसर्वस्वम् ।
गणिकासौ राजसुतं त्वगस्थिशेषं मुमोच नातिचिरात् ॥१०५५॥

फिर उस गणिका ने नाना प्रकार के सुरतविशेषों से आराधना करके उसका सर्वस्व ऐंठ लिया और बिना विलम्ब उसे मांस-हड्डी शेष करके छोड़ दिया ॥१०५५॥

तद्यन्मयोपदिष्टं कामिजनार्थाप्तिकारणं तेन ।
महतीं समृद्धिमेष्यसि कामुकलोकाहृतेन वित्तेन ॥१०५६॥

तो जोकि मैंने कामुक जनों के धन लेने का उपाय बताया है उससे कामुक जनों के हरण किए हुए धन से तू महती समृद्धि प्राप्त करेगी ॥१०५६॥

इत्युपदेशश्रवणप्रबोध तुष्टा जगाम धाम स्वम् ।
मालत्यपगतमोहा विकरालापादवन्दनां कृत्वा ॥१०५७॥

इस प्रकार के उपदेश के श्रवण से उत्पन्न प्रबोध से सन्तुष्ट एवं मोहरहित मालती विकराला की चरणवन्दना करके अपने घर गई ॥१०५७॥

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ ।
नो वंच्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ॥१०५८॥

इस काव्य को जो व्यक्ति का काव्यार्थ का सम्यक प्रकार से पालन करते हुए (रक्षण करते हुए) श्रवण करता है वह कभी विट, वेश्या, धूर्त एवं कुटनी से धोखा नहीं खाता ॥१०५८॥

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रमसंख्या——
प्राप्ति तिथि——
State Museum, Library, Lko.

Pp 109, 115, 146, 154, 166

Museum Library
Lucknow